।।श्रीः।।

गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला
154

शतपथब्राह्मणम्

श्रीमत्सायणाचार्यविरचितभाष्यसहितम्
अन्वय-पदार्थ-रेणु-हिन्दी-व्याख्योपेतम्
(प्रथमद्वितीयाध्यायौ)

हिन्दीव्याख्याकार :
विद्यावाचस्पतिः डॉ. सुन्दरनारायणझाः

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
DELHI

चौखम्भा ओरियन्टालिया
प्राच्यविद्या, आयुर्वेद तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक
दिल्ली-110007 (भारत)

भूमिका

यह तो सर्वविदित ही है कि वेद चराचरात्मक सृष्टि की प्रथमवाणी तथा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का मूलाधार है। वेदों में विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। वेद के चार विभाग मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् हैं। उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग होने के कारण 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध हैं। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञानविषयक वर्णन है, अतः वेदान्त ज्ञानकाण्ड कहलाता है। आरण्यकग्रन्थों में उपासना विषयिणी चर्चा है, फलतः उसे उपासनाकाण्ड कहते हैं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञानुष्ठानात्मक कर्म का प्रतिपादन किया गया है, इस कारण कर्मकाण्ड कहलाते हैं। इस प्रकार वेद इन तीनों काण्डों से युक्त है अर्थात् वेद तीन काण्डों में विभक्त है ऐसा मनीषगण मानते हैं। वेद का दूसरा भाग 'ब्राह्मण' भाग है। ब्राह्मणग्रन्थों में मन्त्रों का विनियोग सहित अर्थ प्रतिपादित है, इस कारण ऋषियों ने मन्त्र एवं ब्राह्मण इन दोनों को वेद ही माना है। जैसा कि आपस्तम्ब ने कहा भी है–**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** (आप.परि. **24.1.31) एवं (भट्टकुमारिल तन्त्रवार्तिक-1.3.10)।**

सभी वैदिक संहिताओं के शाखानुसार ब्राह्मणग्रन्थ पृथक्-पृथक् कहे गए हैं, उनमें से कुछ उपलब्ध एवं कुछ अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों में शुक्ल-यजुर्वेदीय माध्यन्दिनसंहिता का शतपथब्राह्मण विशालकाय एवं लोकप्रिय ब्राह्मणग्रन्थ है। इसके प्रवक्ता परमयज्ञवैज्ञानिक भगवान् योगीश्वर याज्ञवल्क्य हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने मन्त्रार्थ प्रतिपादन करते हुए यज्ञ का ऐसा वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत किया है, जो अत्यन्त श्लाघ्य है। यही कारण है कि शतपथब्राह्मण अन्य ब्राह्मणग्रन्थों की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट एवं स्तुत्य है।

शतपथ ब्राह्मण इस नाम से ही ग्रन्थ का स्वरूप समझ में आ जाता है। शतपथ शब्द में 'पथ' शब्द अध्याय का वाचक है। इस प्रकार एक सौ अध्यायों में निबद्ध यह ब्राह्मण ग्रन्थ शतपथब्राह्मण कहलाता है। उक्त ग्रन्थ में चौदह काण्ड हैं जिसमें से प्रथमकाण्ड एवं चौदहवें काण्ड के अन्तिम छः अध्याय जो बृहदारण्यकोपनिषद् के नाम से विश्रुत है, को भारतवर्ष के लगभग सभी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम

में समाविष्ट किया गया है। इससे इस ग्रन्थ का माहात्म्य स्वतः श्रेष्ठ सिद्ध हो जाता है। प्रथम काण्ड में नौ अध्याय हैं, जिसमें दर्शपूर्णमासयाग का विवेचन किया गया है। श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नवदेहली-16 के वेदविभागीय पाठ्यक्रम के अन्तर्गत प्रथम काण्ड के प्रथम एवं द्वितीय अध्याय शास्त्री-कक्षा में तथा तृतीय से नवम अध्याय तक के अंश आचार्य कक्षा में संलग्न हैं।

शास्त्री कक्षा में प्रविष्ट होने वाले विद्यार्थीगण इस ग्रन्थ से पूर्व परिचित नहीं होते हैं। अतः अध्ययनकाल में ग्रन्थ के विषय की गम्भीरता एवं भाषा की दुरूहता से विद्यार्थियों को जूझना पड़ता है। ऐसा मुझे अनुभव हो रहा था तब जब मैंने इस ग्रन्थ को पढ़ना आरम्भ किया था कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्व-विद्यालयीय स्नातकोत्तर वेद विभाग में। वहाँ पूज्यपाद गुरुजी प्रो॰ उपेन्द्र झा जी ने अत्यन्त सरलता पूर्वक इस ग्रन्थ को हमें पढ़ाया, उसी अध्यापन के प्रभाव से प्रभावित होकर मैं आज इसकी हिन्दी व्याख्या करने का दुस्साहस कर रहा हूँ।

वस्तुतः जब मैं अध्ययन कर रहा था तब इस ग्रन्थ की दुरूहता का पूर्ण अनुभव किया था। मैं अपने पूर्व अनुभव के अनुसार अन्य विद्यार्थियों की समस्या का भी अनुभव कर रहा हूँ। ऐसी परिस्थिति में विद्यार्थियों के लिए बोधगम्य राष्ट्रभाषा में इसे अनूदित करने का विचार मेरे मन में लगभग 10 वर्ष पूर्व ही हुआ था। यद्यपि इस मध्य सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के वेदविषय के मर्मज्ञ आचार्य युगल किशोर मिश्र जी ने हिन्दी व्याख्या करके हम वेदध्येताओं पर महान् उपकार किया है। तथापि अन्वय, पदार्थ सहित हिन्दी व्याख्या करने का संकल्प लेकर मैंने यह कार्य कुछ वर्ष पूर्व आरम्भ किया था। बीच-बीच में नानाविध बाधाएँ भी आती रहीं, फिर भी दिन-रात चिन्तनरत रहता हुए कार्य करता रहा फलतः आज इन दो अध्यायों का कार्य पूर्ण हो पाया है, इससे मेरे मन का ओज द्विगुणित हो गया है। इन दो अध्यायों की व्याख्या के क्रम में मैंने किशोरावस्था के बालकों की मति के अनुरूप शब्दों का प्रयोग तथा अर्थ प्रतिपादित करने का प्रयास किया है।

यदि इस व्याख्या के अवलोकन, अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं हृदयङ्गम द्वारा विद्यार्थियों के ज्ञान में वृद्धि तथा दुरूह लगने वाले ग्रन्थ के प्रति आकर्षण बढ़ा तो मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूँगा।

ग्रन्थ की व्याख्या करते समय व्याख्या का नाम क्या रखूँ? इस बात पर विचार करते हुए मैंने सोचा कि इससे पूर्व 'कातीयेष्टिदीपक' दर्शपूर्णमासयागपद्धति जो

पं. नित्यानन्दपन्त पर्वतीय द्वारा विरचित है, की हिन्दी टीका पूज्य जननी स्व. हीरा देवी के नाम से 'हीरा हिन्दी टीका' लिखी। कात्यायनशुल्बसूत्र की हिन्दी टीका पूज्य पिजाजी स्व. पं. शशिकान्त झा के नाम से 'शशि हिन्दी टीका' की। उक्त हिन्दी टीका का नाम अपनी पत्नी श्री मती रेणुदेवी के नाम करने का विचार हुआ ताकि ग्रन्थ के उपस्थितिकाल तक ये सब नाम उपस्थित रहें।

महान् तपस्वी विश्वामित्र ने तपस्या के बल पर स्वयं को, पिता को एवं पितामह को ऋषित्व प्रदान करवाया था, इसका उल्लेख भगवान् पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य के चतुर्थाध्यायस्थ 'अनृष्यानन्तर्ये' सूत्र भाष्य के क्रम में किया है 'विश्वामित्रस्तपस्तेपे' इत्यादि वाक्यों द्वारा। ऐसा असाधारण सामर्थ्य तो ऋषियों को ही प्राप्त है, मानवों को कहाँ?

मिथिलास्थ 'षड्दर्शनकाननपञ्चानन' इस विरुदावली से विभूषित आचार्यवृद्धवाचस्पति मिश्र ने ब्रह्मसूत्रभाष्य पर अपनी पत्नी 'भामती' के नाम टीका लिखी। उन लोगों के मार्ग का अनुसरण करता हुआ ही इस ग्रन्थ की हिन्दी में 'रेणुव्याख्या' पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ।

इस ग्रन्थ में जो भी उत्तमत्व हैं वे सब हमारे गुरुजनों के कृपा प्रसाद हैं तथा जो भी त्रुटि या अल्पत्व हैं वे मेरी मानवीय तुच्छ बुद्धि एवं अल्पज्ञता के परिणाम हैं। आशा है विद्वज्जन मेरी त्रुटियों एवं अल्पत्वों को क्षमा करते हुए सम्मार्जन की दृष्टि से मेरी त्रुटियों को देखते हुए इस व्याख्या को स्वीकर करेंगे।

विद्वज्जनचरणचञ्चरीक

सुन्दर नारायण झा

अक्षयतृतीया संवत् 2076

भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम

स्वर्णसिंहासनारूढमृद्धिसिद्धिसमन्वितम्।
श्रीमदाखुरथं वन्दे स्वात्मसङ्कल्पसिद्धये।।1।।
वन्दे दाशरथिं सौम्यं जानकीलक्ष्मणान्वितम्।
हनूमत्सेवितं स्वेष्टं सर्वाभीष्टप्रदायकम्।।2।।
योगीन्द्रं मैथिलं वन्दे याज्ञवल्क्यं महामुनिम्।
येन तपः प्लवेनैव तीर्णः शतपथार्णवः।।3।।

जगज्जननी जगदम्बा पराम्बा श्रीसीताजी के पुण्यपादपद्म में नतमस्तक होकर स्वेष्टदेवता अखिललोकब्रह्माण्डनायक सर्वजगन्निवास मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामजी के पादारविन्द में नमन कर भवबन्धनमोचनपथानुगामी अखण्डब्रह्मचर्यव्रतपालक मिथिलाविभूति सन्तशिरोमणि महर्षितुल्य महोदारचरित वेदविद्या एवं सनातनधर्मोद्धारधुरन्धर साकेतवासी **पूज्यपाद श्री श्री 108 श्रीजगदीशनारायण-ब्रह्मचारीजी महाराज** द्वारा संस्थापित मिथिला के दरभंगा मण्डलान्तर्गत लगमा ग्राम में प्रतिष्ठित ब्रह्मचर्याश्रम में आश्रमस्थ छात्र के रूप में रहकर वेदविद्या की शिक्षा एवं श्रीरामनाममन्त्र की दीक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ तदर्थ श्रीमन्महाराजजी के श्रीचरणों में प्रणाम पुष्पाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

जिस पुण्यात्मा ने मुझे अपनी कुक्षि में शरीर प्रदान कर संसार की पवित्रतम भूमि मिथिला में जन्म देकर लालन-पालन द्वारा मुझे इस योग्य बनाया उस पुण्यमूर्ति वैकुण्ठनिवासी जननी स्व॰ हीरादेवीजी के चरणकमल में बारम्बार प्रणाम पुष्पाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

मिथिलास्थ दरभंगा मण्डलान्तर्गत हनुमाननगर ग्राम में सर्वजनहितचिन्तक सकललोकसेवक परमोदारचरित सन्तस्वभावानुकूलाचरणशील परमपूज्य पिताजी वैकुण्ठवासी स्व॰ शशिकान्तझाजी के पादारविन्द में कोटि-कोटि प्रणाम पुष्पाञ्जलि

समर्पित करता हूँ। यह पूज्यपिताजी के सत्यसङ्कल्प का ही फल है कि मैं वेदविद्या का अध्ययन कर इस कार्य में प्रवृत्त हो सका हूँ।

मैं उन आचार्यों को कथमपि नहीं भूल सकता जिन्होंने अपने सान्निध्य में रखकर मेरे बालपन के दोषों को यथासमय परिमार्जित करते हुए मुझे उचित मार्गदर्शन प्रदान किया है। उन आचार्यों में सर्वप्रथम चतुर्वेदमार्तण्ड राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित मिथिलास्थ मधुबनी जिलान्तर्गत राजनगर बलहा ग्रामवासी स्व॰ पं॰ जगदानन्दझाजी के श्रीचरणों में प्रणाम पुष्पाञ्जलि प्रस्तुत करता हूँ। आदरणीय गुरुजी ने बड़े स्नेह से मुझे वेद का स्वाध्याय आरम्भ कराया था।

इसी क्रम में परमपूज्य नित्यप्रातःस्मरणीय प्रो॰ विद्येश्वरझा (प्राचार्य स्नातकोत्तर वेदविभाग, का॰सिं॰द॰सं॰वि॰वि॰, दरभंगा), प्रो॰ शशिनाथझा (प्राचार्य, स्नातकोत्तर व्याकरणविभाग, का॰सिं॰द॰सं॰वि॰वि॰, दरभंगा), प्रो॰ उपेन्द्रझा (पूर्वकुलपति एवं पूर्वप्राचार्य, स्नातकोत्तर वेदविभाग, का॰सिं॰द॰सं॰वि॰वि॰, दरभंगा), प्रो॰ लक्ष्मीश्वरझा पूर्व वेदवेदाङ्गसंकाय प्रमुख एवं पूर्व वेद विभागाध्यक्ष, श्री ला॰ब॰शा॰रा॰सं॰ विद्यापीठ नई दिल्ली-16, श्रीसुधीर नाथझा 'आजाद' लगमा, एवं श्रीश्रीनारायण मिश्रजी कथवारवासी आदि समस्त गुरुजनों के श्रीचरणों में साभार प्रणाम समर्पित करता हूँ।

श्री ला॰ब॰शा॰रा॰सं॰ विद्यापीठ नई दिल्ली-16 के वर्तमान यशस्वी कुलपति प्रो॰ रमेश कुमार पाण्डेयजी की सद्भावना एवं सत्प्रेरणा का यह फल है कि मैं निरन्तर कुछ न कुछ लिखता पढ़ता रहता हूँ, अतः उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर मैं अपने को धन्य मानता हूँ।

श्री ला॰ब॰शा॰रा॰सं॰ विद्यापीठ नई दिल्ली-16 के पूर्व कुलपति एवं संस्कृत जगत् के महानायक स्व॰ प्रो॰ वाचस्पति उपाध्यायजी का किन शब्दों में आभार प्रदर्शन करूँ यह समझ नहीं आता क्योंकि उन्होंने मुझे न केवल विद्यापीठ में नियुक्त कर कार्य करने का अवसर प्रदान किया अपितु बहुविध कौशल से युक्त बनाने के लिए समय-समय पर उत्प्रेरित तथा प्रशिक्षित भी किया। मैं सदैव उनका ऋणी रहूँगा। अतः उनके श्रीचरणों में प्रणाम पुष्पाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

इस कठिन कार्य में सहायता करने हेतु मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती रेणुदेवी को धन्यवाद देता हूँ कि इन्होंने गृहकारण नाना जंजाल से मुझे कोसों दूर रखा तथा अपने पुत्र श्रीआशुतोषचन्द्रझा, श्रीअभिषेकचन्द्रझा एवं पुत्री शिवानी कुमारी को आशीर्वाद प्रदान करता हूँ कि इन लोगों ने लेखनावधि में मेरे पितृत्व दायित्व की

परिपूर्ति में आई त्रुटियों को सहन किया और मुझे इस कार्य में सदैव तत्पर रहने का सुअवसर प्रदान किया।

अपने आदरणीय अग्रज श्रीसत्यनारायण झा, श्री अवध नारायण झा, श्री शीतल नारायण झा एवं अग्रजा स्व॰ विभा देवी, श्रीमती सुनीता देवी, श्रीमती मंजू देवी एवं श्रीमती आशा देवी को सादर प्रणाम समर्पित करता हूँ। इसके अतिरिक्त उन समस्त गुरुजनों, सम्बन्धियों तथा परिवार के सदस्यों के प्रति मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

विद्वज्जनसेवक

सुन्दर नारायण झा

वैदिकमहर्षि-योगीश्वर-याज्ञवल्क्य का परिचय
(याज्ञवल्क्य के मैथिल होने का सप्रमाण निरूपण)

प्रत्यग्रवेदेन गिरां मलं यो विधूय योगेन च चित्तजातम्।
ज्ञानेन तत्त्वं पदलक्ष्यमाप तं याज्ञवल्क्यं प्रणतोऽस्मि नित्यम्।।[1]

भगवान् योगीश्वर याज्ञवल्क्य के सम्बन्ध में उपर्युक्त लोकप्रसिद्ध श्लोक मैंने गुरुमुख से सन् 1991 ई0 में कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय के तत्कालीन वेदविभागाध्यक्ष आदरणीय श्रीमान् गुरुजी प्रो. उपेन्द्रझा जी के मुखारविन्द से आचार्य कक्षा में अध्ययन करते समय सुना था। मुझे इसका पदसंकेत प्राप्त नहीं हुआ किन्तु श्लोक में महर्षि याज्ञवल्क्य की महिमा को बताया गया है कि उन्होंने योगबल से अपने चित्तस्थ समस्त मलों को धोकर ज्ञान के माध्यम से तत्त्वार्थ को समझने का प्रयत्न किया। यह श्लोक मेरे लिए सदैव प्रेरणास्पद रहा है अतः स्मरण आ गया है।

नाग प्रकाशन, दिल्ली से सन् 1990 ई. में प्रकाशित सायणभाष्य एवं हरिस्वामिभाष्य सहित शतपथब्राह्मण ग्रन्थ में श्रीक्षेत्र नासिकवासी श्रीमान् अण्णाशास्त्री के सुपुत्र श्रीधर शर्मा जी ने बहुत विस्तृत उपोद्घात लिखा है। उपोद्घात में उन्होंने वेद एवं ब्राह्मणग्रन्थों के विशद परिचय के साथ-साथ संक्षेप में **श्रीमद्याज्ञवल्क्यचरित** को भी प्रस्तुत किया गया है। उस क्रम में शर्माजी ने यह लिखा है कि-

1) महामुनिर्याज्ञवल्क्यः- चमत्कारपुरं वृद्धनगरं (वडनगर इति उत्तरगुजराथप्रान्ते प्रसिद्धम्) वा अधिवसति स्म। यदा स जनकराजस्य देशिकपदमङ्गीचकार तदानीं मिथिलायामध्युषितवान्।
2) अयं च 6000 कालात्पूर्वं सञ्जातः।
3) असौ विश्वामित्रवंश्यः चारायणः, देवरातः, ब्रह्मरातः, यज्ञवल्कः, वाजसनिः इत्याद्यनेकनामभिः प्रख्यातस्य ऋषेः पुत्रः।

---
1. आह्निकसूत्रावलिः पृ. 391

4) अयं च श्रीशङ्करानुमतसावित्रीशापाद्ब्रह्मणस्त्रिगुणात्मकस्यादित्यस्य राजसोंऽशाच्चारायणमुनेस्तपसा संतुष्टः संस्तत्प्रार्थनया यज्ञियाग्नेरवतीर्णः।

5) अस्य मातुर्नाम सुनन्दा इति।

6) अस्य जन्मवासरः केषाञ्चिन्मते ज्येष्ठशुक्लदशमी, केषाञ्चिन्मते कार्तिकशुक्लनवमी, केषाञ्चिन्मते फाल्गुनशुक्लपञ्चमी, इमाः सर्वास्तिथयो यथार्थप्रमाणविधुरा इति कृत्वा न सर्वसम्मताः। अस्मन्मते तु श्रावणशुक्लचतुर्दशीविद्धपूर्णिमायां मध्याह्ने याज्ञवल्क्याय वेदाः श्रीसूर्येण दत्ताः। अतः सा तिथिरेवोत्सवादौ समादरणीयेति।

7) याज्ञवल्क्येन पूर्वं कुलपतेः श्रीशाकल्यमुनेर्ऋग्वेदोऽधीतः। परन्तु आनर्तराज्यस्य कृते गुरुणाऽत्यन्तं भर्त्सितोऽन्ते तच्छापभीत्या तदाज्ञया तदधीतमृग्वेदं तत्याज।

8) ततः स्वमातामहान्महामुनेर्वृद्धाद्वैशम्पायनाद्यजुर्वेदमधीतवान्। परन्तु तत्रापि गुरुणा स्वोक्तमन्यथा गृहीत्वा भर्त्सिते सति अन्ते च तच्छापात्तदाज्ञयैव यजुर्वेदाध्ययनमपि तत्याज।

9) ततो मानुषं गुरुमिदानीं नोपैमीति प्रतिज्ञाय चतुर्विंशलक्षसंख्याकगायत्रीमन्त्रपुरश्चरणादितपस्यया भगवन्तं त्रयीमयमादित्यं तोषयित्वा तस्माच्चतुरो वेदानधीतवान्।

10) ततो गुरुदक्षिणां दत्वा संन्यासार्थं प्रवृत्तो याज्ञवल्क्यो गुरोरादेशादेव कियत्कालपर्यन्तं संन्यासग्रहणं सन्निरुध्य मैत्रेयीकात्यायनीभ्यां सह क्रमादुद्वाहं कृत्वा गृही समभवत्।

11) तत्र च गृहस्थाश्रमे आदित्याल्लब्धवेदचतुष्टय्यां शिष्यप्रशिष्यद्वाराऽनेकाः शाखाः विस्तारिताः। शतपथब्राह्मणं चाभिव्यक्तिं नीतम्। याज्ञवल्क्यस्मृतिर्याज्ञवल्क्यगीता च प्रणीता। जनकसभायां महान्तम्ब्रह्मवादं कृत्वा सर्वजित्समभवत्। तेन जनकराजदेशिकत्वं स्वीकृत्य तस्मै ब्रह्मज्ञानमुपदिदेश श्रीसूर्यलब्धसामर्थ्येन स्वविरोधिनं शाकल्यं मृत्युपथं नीतवांश्च। अनेकेषु यज्ञेष्वार्त्विज्यं विधाय स्वयमप्यनेकान्यज्ञानकार्षीत्। कात्यायन्यां श्रीकात्यायननामकं पुत्रं च संजनयामास।

12) पिप्पलादमुनिसम्बन्धिन्या कयाचिदप्रतर्कितघटनया याज्ञवल्क्यो भगवन्तं सदाशिवं शरणमन्वित्य तस्माद्योगीश्वरपदवीं सम्पादयामास।

13) महामुनिना पारस्करापरनाम्ना कात्यायनाचार्येण स्वपित्रा श्रीयोगीश्वरयाज्ञवल्क्येन प्रतिष्ठापितस्यादित्यसम्प्रदायस्य स्मार्त्तश्रौतसूत्र-तत्परिशिष्टादिविविधग्रन्थप्रणयनं कृत्वा तद् द्वारा सर्वतः परिपोष्य सर्वविधा संधारणा व्यधायि। अयमेवान्ते संयोजितसूत्रद्वयस्य कर्तेति।

14) अन्ते च ज्येष्ठभार्यायै ब्रह्मवादिन्यै मैत्रैय्यै स्वनिष्ठं ब्रह्मविद्याधनं कनिष्ठायै सद्योवध्वै कात्यायन्यै गृहपश्वादिलौकिकं धनं प्रदाय स्वयं संन्यस्य ब्रह्मभावं समाययौ।

15) निर्वाणवासरस्तु नोपलब्धः।

☐ **महर्षि देवरात के विविध नाम एवं उनके अर्थ की संगति-**

❖ श्रीमद्भागवत में-**देवरातसुतः सोऽपि छर्दित्वा यजुषाङ्गणम्॥**[१] यह उल्लेख है।

❖ विष्णुपुराण में- **याज्ञवल्क्यस्तु तत्राभूद्ब्रह्मरातसुतो द्विज।**[२] ऐसा वचन प्राप्त होता है।

❖ शतपथब्राह्मण में- **आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूँषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते।**[३] वाज= अन्न, सनिः= दान, इस प्रकार अन्न का दान जो करे वह वाजसनि। वाजसनि का पुत्र वाजसनेय कहलाया।

❖ **वल्क परिभाषणे**[४] धातु से 'यज्ञं वल्कयति-ते इति यज्ञवल्कस्तदपत्यं पुमान् याज्ञवल्क्यः' यज्ञ का प्रवचनकर्ता।

❖ संस्कृत के ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर कृष्णयजुर्वेद की चारायणीयशाखा के प्रणेता **चारायण** माने जाते हैं।

महर्षि देवरात एवं उनके पुत्र याज्ञवल्क्य का मैथिलत्व-

इस प्रकार देवरात के अनेक नामों के उद्धरण यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। देवरात शब्द का अर्थ एवं इस विरुदावली से विभूषित ऋषि के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में यह कहा गया है कि शुनःशेप ही देवरात थे। यथा-

---

1. श्रीमद्भागवत- 12/6/64
2. श्रीविष्णुपुराण- 3/5/3
3. शतपथब्राह्मण- 14/9/5/33
4. पा.धा. 1571, चुरादिगण, उभयपदी

पुत्रं कृत्वा शुनःशेपं देवरातं च भार्गवम्।
आजीगर्तं सुतानाह ज्येष्ठ एव प्रकल्प्यताम्।।[5]
यो रातो देवयजने देवैर्गाधिषु तापसः।
देवरात इति ख्यातः शुनःशेपः स भार्गवः।।[6]

वस्तुतः ऐतरेयब्राह्मण में यह कथा विस्तृत रूप से प्रस्तुत की गई है कि- इक्ष्वाकुवंशी महाराज **सत्यव्रत** (त्रिशङ्कु) के पुत्र महाराज **हरिश्चन्द्र** को वरुण देवता की कृपा से सशर्त **रोहित** नामक पुत्र प्राप्त हुआ। रोहित के कुछ बड़ा होने पर उसे बचाने के लिए राजा ने जंगल भेज दिया। एक वर्ष तक वह जंगल में रहा। इसी बीच समय पर शर्त पूर्ण नहीं करने के कारण वरुणदेव ने क्रोधित होकर उन्हें जलोदर रोग से पीड़ित कर दिया। यह बात जब अरण्यस्थ रोहित को जनश्रुति से ज्ञात हुई तब वह घर वापस आने लगा। मार्ग में देवराज **इन्द्र** ने मानव का वेष धारण कर उसे **चरैवेति चरैवेति**[7] का उपदेश दिया। इस प्रकार छः वर्षों तक वह वन में भटकता रहा, तत्पश्चात् उसे एक **अजीगर्त** नामक ऋषि जो भूख से पीड़ित थे, मिले। उनके तीन पुत्र **शुनःपुच्छ, शुनःशेप** तथा **शुनो लाङ्गूल** थे। रोहित ने अजीगर्त से एक सौ गायें देकर शुनःशेप नामक पुत्र को खरीद लिया और उसको लेकर अपने गाँव पहुँचा। तब राजा हरिश्चन्द्र ने वरुण से कहा कि मैं **शुनःशेप** नामक ब्राह्मण से आपका यजन करना चाहता हूँ। वरुणदेव की स्वीकृति के अनुसार यज्ञ आरम्भ हुआ जिसमें **विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, वसिष्ठ ब्रह्मा तथा अगस्त्य उद्गाता** थे। उस समय यूप में पुरुषपशुरूप शुनःशेप को बाँधनेवाला कोई नहीं मिला, तब अजीगर्त ने एक सौ अतिरिक्त गायें लेकर उसे बाँधा। तत्पश्चात् उसका विशसन (हिंसा) करनेवाला कोई नहीं मिला तो पुनः अजीगर्त ने अतिरिक्त सौ गायें लेकर उसका विशसन करने को उद्यत हुआ। तब शुनःशेप ने **इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय। त्वामवस्युराचके।**[8] इत्यादि मन्त्रों द्वारा प्रजापति, अग्नि, सविता, वरुण, इन्द्र, आश्विन एवं उषादि

---

5. श्रीमद्भागवत- 9/16/30

6. श्रीमद्भागवत- 9/16/32

7. ऐतरेयब्राह्मण- 33/3

8. शु.य.सं.-21/1

देवताओं का आह्वान किया।[9] इस प्रकार समस्त देवताओं की कृपा से शुनःशेप की जान भी बच गई और हरिश्चन्द्र भी रोगमुक्त हुए। तदनन्तर **अथ ह शुनःशेपो विश्वामित्रस्याङ्कमाससाद....स ह देवरातो वैश्वामित्र आस**[१०] इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं कि- **'सः च शुनःशेपो देवैर्दत्तत्वाद् देवरातः' -इति नामधारी विश्वामित्रपुत्र एवास**। इस प्रकार **देवेन रातः=रक्षितः इति देवरातः** यह नाम शुनःशेप का प्रसिद्ध हो गया। उसे महर्षि विश्वामित्र ने अपना श्रेष्ठ पुत्र बना लिया। इसलिए तब से वह शुनःशेप (देवरात) विश्वामित्र का पुत्र **वैश्वामित्र** कहलाने लगा।

विश्वामित्र राजा गाधि के पुत्र थे ऐसा वाल्मीकि रामायण में विश्वामित्र द्वारा श्रीराम को अपना परिचय देते हुए कहा गया है। यथा-

स पिता मम काकुत्स्थ गाधिः परमधार्मिकः।
कुशवंशप्रसूतोऽस्मि कौशिको रघुनन्दन॥[११]

कान्यकुब्ज के चन्द्रवंशी राजा कुशिक के पुत्र गाधि हुए, यह कथा हरिवंशपुराण[12] (27.13-16) में वर्णित है। कान्यकुब्ज एवं गाधि के प्रसङ्ग में महाभारत में कहा गया है-

कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थिवः स महाबलः।
गाधीति विश्रुतो लोके वनवासं जगाम ह॥[१३]

---

9. ऐतरेयब्राह्मण- 33/4

10. ऐतरेयब्राह्मण- 33/5

11. वाल्मीकि रामायण- 1/34/6

12. कुशिकस्तु तपस्तेपे पुत्रमिन्द्रसमं विभुः। लभेयमिति त शक्रस्त्रासादभ्येत्य जज्ञिवान्॥

    पूर्णे वर्षसहस्रे व ैतं तं शक्रो ह्यपश्यत। अत्युग्रतपसं दृष्ट्वा सहस्राक्षः पुरन्दरः॥

    समर्थ पुत्रजनने स्वमेवांशमवासयत्। पुत्रत्वे कल्पयामास स देवेन्द्रः सुरोत्तमः॥

    स गाधिरभवद्राजा मघवान् कौशिकः स्वयम्। पौरुकुत्स्यभवद्राजा गाधि स्तस्यामजायत॥ (हरिवंशपुराण- 27.13-16)

13. महाभारत- 3/115/19

कान्यकुब्ज (कन्नौज) जो कुशिकतीर्थ के नाम से प्रख्यात है, उसके विषय में राजतरङ्गिणी में कहा गया है–

कन्यानां यत्र कुब्जत्वं व्यधात् गाधिपुरे मरुत्।
तत्रैव संशनीयः स पुमांश्चक्रे भयस्पृशाम्॥[१४]

यह क्षेत्र कानपुर से पचास मील की दूरी पर है, ऐसा वर्णन डॉ.राजबली पाण्डेय कृत हिन्दू धर्म कोश में प्राप्त होता है। वामन शिवराम आप्टे ने भी विश्वामित्र को कान्यकुब्ज का राजा ही माना है। पञ्चगौड के पाँच विभागों में मैथिल, कान्यकुब्ज, सारस्वत, गौड एवं उत्कल हैं। इस प्रकार कान्यकुब्ज पञ्चगौड का ही एक विभाग है। महर्षि विश्वामित्र ने देवरात को अपना पुत्र बनाया इस कथा से यह स्पष्ट होता है कि देवरात कान्यकुब्ज तथा मिथिला के मध्य ही कहीं रहे होंगे। महर्षि देवरात के विषय में महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं–

देवरात इति ख्यातो निमेर्ज्येष्ठो महीपतिः।
न्यासोऽयं तस्य भगवन् हस्ते दत्तो महात्मनः॥[१५]

वाल्मीकि रामायण में ब्रह्मज्ञानी राजा जनक के यहाँ महर्षि विश्वामित्र के साथ जब श्रीराम एवं लक्ष्मण पहुँचकर उस दिव्य धनुष के दर्शन की अभिलाषा व्यक्त करते हैं तो शिवधनुष का दर्शन कराते हुए महाराज जनक का यह वाक्य इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त प्रतीत होता है कि देवरात मूलरूप से मिथिला के वासी थे। चूँकि इक्ष्वाकु के सौ पुत्रों में से **निमि** अपने तपोबल से पराक्रमी राजा बनने की कामना से अबधप्रान्त छोड़कर गौतम ऋषि के आश्रम में पहुँच गये थे। उस समय लंकाधिपति रावण का उत्पात तीरभुक्ति (तिरहुत) में फैल चुका था। उसे रोकने के लिए निमि उद्यत हुए तो उसी समय कामधेनु की प्रेरणा से महामुनि **जमदग्नि** प्रकट होकर निमि को तिरहुत का राजतिलक लगा दिया। इस प्रकार राजर्षि निमि तिरहुत के प्रथम नरेश घोषित हो गये। देवरात को निमि का ज्येष्ठ महीपति कहकर महर्षि वाल्मीकि ने स्पष्ट कर दिया है कि देवरात मिथिला में थे। महर्षि याज्ञवल्क्य देवरात के पुत्र थे, यह तो पहले सिद्ध हो चुका है। इन समस्त प्रसिद्धियों के आधार पर याज्ञवल्क्य के मिथिला से अन्यत्र होने की संभावना व्यक्त नहीं की जा सकती। याज्ञवल्क्यस्मृति में तो उनके मिथिला में होने की बात स्पष्ट शब्दों में कही गई है। यथा–

14. राजतरङ्गिणी- 4/134 ; शब्दकल्पद्रुम, द्वितीयभाग, पृष्ठ–323
15. वाल्मीकि रामायण- 1/66/8

मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन्।
यस्मिन् देशे मृगः कृष्णः तस्मिन् धर्मान्निबोधत॥[१६]

वस्तुतः याज्ञवल्क्य एवं उनके पूर्वजों के जीवनवृत्तान्तों के अवलोकन के आधार पर यह सिद्ध होता है कि वे सब मिथिला में हुए थे। उन लोगों ने मिथिला में रहकर अनेक यज्ञों के अनुष्ठान किये जिससे मिथिला की प्रसिद्धि यज्ञियदेश के नाम से हुई। अत एव **यस्मिन् देशे मृगः कृष्णः** यह वाक्य याज्ञवल्क्यस्मृति में कही गई है। यद्यपि जिस देश में काले मृग स्वाभाविक रूप से भ्रमण करते पाये जाते हैं वही देश यज्ञियदेश कहलाता है, ऐसा भगवान् मनु ने कहा है। यथा-

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥[१७]

उन कृष्णमृगों से सम्पृक्त मिथिलादेश में रहते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने तद्देशनिवासियों के लिये जो धर्मोपदेश प्रदान किया वह याज्ञवल्क्यस्मृति में प्रतिपादित है।

योगीश्वर याज्ञवल्क्य को भगवान् आदित्य से षडङ्ग चारों वेदों की प्राप्ति-

विविध स्रोतों से यह ज्ञात होता है कि योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने महर्षि शाकल्य से ऋग्वेद का अध्ययन किया। वायुपुराण के अनुसार वाष्कलि ऋषि से ऋग्वेद का अध्ययन किया। यथा-

ऋचो गृहीत्वा पैलस्तु व्यभजत्तद्द्विधा पुनः।
द्विः कृत्वा संयुगे चैव शिष्याभ्यामददात्प्रभुः॥
इन्द्रप्रमतये चैकां द्वितीयां बाष्कलाय च।
चतस्रः संहिताः कृत्वा बाष्कलिर्द्विजसत्तमः॥
शिष्यानध्यापयामास सुश्रूषाभिरतान्हितान्।
बोध्यं तु प्रथमां शाखां द्वितीयामग्निमाठरम्।
पराशरं तृतीयां तु याज्ञवल्क्यमथापराम्॥[१८]

---

16. याज्ञवल्क्यस्मृति- 1/2
17. मनुस्मृति- 2/23
18. वायुपुराण- 60/24-26

किसी कारणवश गुरु के रुष्ट हो जाने से गुरु ने अधीत विद्या के त्याग का आदेश दिया। याज्ञवल्क्य ने गुरु के आदेशानुसार प्राप्त विद्या का त्याग कर दिया। तत्पश्चात् अपने मातामह व्यासशिष्य महर्षि वैशम्पायन (महाभारत शान्तिपर्व के अनुसार–"कृत्वा चाध्ययनं तेषां शिष्याणां शतमुत्तमम्। विप्रियार्थं सशिष्यस्य मातुलस्य महात्मनः।।" (323.16) वैशम्पायन याज्ञवल्क्य के मामा थे।) से ब्रह्मसम्प्रदायगत यजुर्वेद का अध्ययन किया। दैवदुर्विलास से वैशम्पायन भी याज्ञवल्क्य पर क्रोधित हो गये। इसका कारण वायुपुराण के 61 वें अध्याय में यह प्राप्त होता है कि- **एक बार किसी कार्यवशात् ऋषियों ने यह निर्णय लिया कि किसी रहस्यात्मक विषय के सन्दर्भ में मन्त्रणा करने हेतु सप्त रात्रि के अन्दर सबको मेरुपर्वत पर पहुँचना होगा। जो नहीं पहुँच सकेंगे वे ब्रह्महत्या के समान पापभागी होंगे। वैशम्पायन को छोड़कर अन्य सभी ऋषि यथासमय वहाँ पहुँच गये। फलतः वैशम्पायन ब्रह्महत्या के पाप से युक्त हो गये। तत्पश्चात् वैशम्पायन ने अपने शिष्यों को बुलाकर ब्रह्महत्या से मुक्ति के उपाय का व्रतानुष्ठान करने को कहा। इसपर याज्ञवल्क्य ने कहा कि-**

अहमेव चरिष्यामि तिष्ठन्तु मुनयस्त्विमे।
बलं चोत्थापयिष्यामि तपसा स्वेन भाषितः।।
एवमुक्तस्ततः क्रुद्धो याज्ञवल्क्यमथाब्रवीत्।
उवाच यत्त्वयाधीतं सर्वं प्रत्यर्पयस्व मे।।
एवमुक्तः स रूपाणि यजूंषि प्रददौ गुरोः।
रुधिरेण तथाक्तानि छर्दित्वा ब्रह्मवित्तमाः।।[१९]

इस प्रकार वैशम्पायन से अधीत विद्या को प्रत्यर्पित करने के उपरान्त याज्ञवल्क्य वेदविवर्जित हो गये। इन घटनाओं के बाद उन्होंने सङ्कल्प लिया कि अब मैं मनुष्यरूपी गुरु से विद्या ग्रहण नहीं करूँगा। यह विचार कर उन्होंने त्रयीमय भगवान् आदित्य की आराधना की। भगवान् आदित्य ने प्रसन्न होकर उन्हें षडङ्गसहित चारों वेद प्रदान किया। इस विषय में स्कन्दपुराण के नागरखण्ड में यह कहा गया है-

स तथेति प्रतिज्ञाय प्रविश्यादित्य वाजिनः।
कर्णेऽपठत्ततो वेदाँश्चतुरोऽपि तन्मुखात्।।[२०]

---

19. वायुपुराण- 61/17-19

20. स्कन्दपुराण, नागरखण्ड- 6/278/52

आत्मपुराण के अनुसार-

इत्युक्तो भगवान्सूर्यो याज्ञवल्क्यं महामुनिम्।

वेदान्षडङ्गसहितान्रहस्यादिसमन्वितान्॥

चतुरोऽध्यापयामास स्थापयित्वा रथे निजे॥[२१]

यहीं से वेद को दूसरा सम्प्रदाय प्रारम्भ हुआ जो **आदित्यसम्प्रदाय** के नाम से प्रसिद्ध है। व्यासादि महर्षि एवं तच्छिष्यों ने जिस वेद का अध्ययन किया वह **ब्रह्मसम्प्रदाय**गत वेद है। पुराणों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि सर्गादि में भगवान् विष्णु ने शंखासुर नामक हयग्रीव दैत्य का वध कर उसके द्वारा अपहृत वेदों को वहाँ से लाकर ब्रह्माजी को दिया। ब्रह्माजी ने उसे दो भागों में विभक्त किया एक भाग भगवान् आदित्य में स्थापित कर दिया तथा दूसरा भाग वसिष्ठ-अत्रि-अङ्गिरा आदि अपने पुत्रों को दिया। वे भी अपने पुत्र-पौत्र एवं शिष्य-प्रशिष्यों को दिये। आगे चलकर द्वापर युग के अन्त काल में भगवान् वेदव्यास ने मनुष्य के जीवनकाल एवं बुद्धि में अल्पता देखकर यज्ञ के ऋत्विक् क्रम से चार विभाग कर चार शिष्यों पैल, वैशम्पायन, जैमिनि एवं सुमन्तु को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का अध्ययन कराया। उसी क्रम में वैशम्पायन के शिष्य योगीश्वर याज्ञवल्क्य हुए, जो कथा ऊपर वर्णित है।

इस प्रकार विविध ज्ञान-विज्ञान के मर्मज्ञ महर्षि याज्ञवल्क्य, मैथिल होने के साथ-साथ तत्कालीन समस्त ऋषियों में श्रेष्ठ थे। इसका प्रमाण शतपथब्राह्मण के चौदहवें काण्ड जो बृहदारण्यकोपनिषद् के नाम से प्रख्यात है, उसमें वर्णित ब्रह्मज्ञानी मिथिलेश के राजदरबार में हुए शास्त्रार्थ की कथा मुक्तकण्ठ से प्रस्तुत करती है। उनके विषय में कहीं का यह प्रसिद्ध श्लोक अत्यन्त ध्यातव्य है-

याज्ञवल्क्याश्रमे सौम्ये मग्नं तिष्ठति तद्धनुः।

तत्र स्नात्वा तदभ्यर्च्य पापराशीन् प्रणाशयेत्॥[२२]

योगर्षि याज्ञवल्क्य का आश्रम- योगीश्वर याज्ञवल्क्य का जन्मस्थान बिहार प्रान्त के मधुबनी जिलान्तर्गत वेनीपट्टी के निकट **उच्चैठ**देवी स्थान के निकट **जगइत (जगवत)** ग्राम (गौतमकुण्ड के सन्निकट) में है, ऐसा विद्वानों का

---

21. आत्मपुराण- 7/38-40 (दक्षिणामूर्त्ति संस्कृत ग्रन्थमाला-17, श्रीमच्छंकरानन्दसरस्वतीप्रणीत, दक्षिणामूर्त्ति मठ, वाराणसी से प्रकाशित)

22. रुद्रयामलतन्त्र- मिथिलामाहात्म्य-

माननता है। डॉ. राजबली पाण्डेयकृत हिन्दूधर्मकोश के पृष्ठ 535 पर याज्ञवल्क्य आश्रम का परिचय इस प्रकार दिया गया है- **बिहार प्रदेश के दरभङ्गा-सीतामढ़ी मार्ग के बीच रमौल ग्राम पड़ता है। यहाँ शिवमन्दिर है, इसी के पास गौतमकुण्ड और वटवृक्षों का वन है। यहाँ पर महर्षि याज्ञवल्क्य का आश्रम बताया जाता है।** यद्यपि ऋषि महर्षियों के विषय में कुछ भी कहना अत्यन्त कठिन है तथापि यथामति समुपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर मैंने जो तथ्य प्रस्तुत किया है उससे विद्वद्वृन्द सहमत होंगे ऐसी आशा करता हूँ।

विद्वच्चरणचञ्चरीक-

सुन्दर नारायण झा

अक्षयतृतीया - वि.सं. 2076 (2019 ई.)

विषयानुक्रमणिका

प्रथमकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः

प्रथमोऽध्यायः प्रारभ्यते।

तत्र प्रथमं ब्राह्मणम्।

अथ दर्शपूर्णमासप्रारम्भः।

[व्रतोपायनम्]

1.1.1.1. हरिः ओ३म्। व्व्रतमुपैष्यन्। (न्न) अन्तरेणाहवनीयञ्च गार्हपत्यञ्च प्राङ्तिष्ठन्नपऽउपस्पृशति तद्यदपऽ उपस्पृशत्यमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वाऽआपो मेध्यो भूत्वा व्व्रतमुपायानीति पवित्रं वा ऽआपः पवित्रपूतो व्व्रतमुपायानीति तस्माद्वाऽअपऽउपस्पृशति॥1॥

ऋजुपाठः–व्रतमुपैष्यन्नन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन्नप उपस्पृशति। तद्यदप उपस्पृशति। अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरतः। मेध्या वा आपः। मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति। पवित्रं वा आपः। पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति। तस्माद्वा अप उपस्पृशति॥1॥

सा॰भा॰–व्रतमुपैष्यन्निति। पूर्णमासस्य प्राथम्यम्, अत्रैवाग्रे पौर्णमासप्रयोगमभिधाय पश्चाद् दर्शप्रयोगाभिधानात्। कात्यायनेनापि तथाभिधाय "पौर्णमासवदन्यत्" (श्रौ.सू. 4 अ., 73 सू.) इति पौर्णमासतन्त्रस्य दर्शेऽतिदेशात्। तथैहैव ब्राह्मणे प्रजापतिपर्वसन्धानप्रस्तावे "पौर्णमासेन चैवामावास्येन च, पौर्णमासीं चामावास्यां च तत्पर्वाभिषज्यन्" (श.बा.1.6.3.36) इति

पौर्णमासप्राथम्यम्। तथा तैत्तिरीयके–"पौर्णमासꣳ हविरिदमेषां मय्यामावास्य ꣳ हविरिदमेषां मयि" (तै.ब्रा. 3.7.4.8) इत्यन्वाधानानुमन्त्रणयोर्यजमानमन्त्रयोः पाठक्रमादपि पौर्णमासप्राथम्यमवगम्यते।

ननु पूर्वोऽयं पाठक्रमः। श्रुत्यैव तु पौर्णमासप्राथम्यं प्रतिषिध्यते श्रुतिश्च पाठाद्बलीयसी, श्रुत्यर्थपाठमुख्यस्थानप्रवृत्तीनां क्रमप्रमाणानामपि श्रुतेः प्राथम्येन प्राबल्यात्। श्रूयते हि पौर्णमासप्राथम्यस्य निन्दा–"यत्पौर्णमासीं पूर्वामालभेत, प्रतिलोममेवैनावालभेत" (तै.सं. 3.5.1.5) इति। न। तस्य वाक्यस्य "सारस्वतौ होमौ पुरस्ताज्जुहुयादमावास्या वै सरस्वत्यनुलोममेवैनावालभते" (तै.सं. 3.5.1.6) इति सारस्वतहोमविधिशेषत्वे पौर्णमासप्राथम्यनिन्दार्थवादात्। अत उक्तरीत्या पौर्णमासप्राथम्यमुपपन्नम्। उपस्पर्शनं चेहाचमनं विवक्षितम्। नन्वापस्तम्बेन–"अप आचामत्युपस्पृशति वा" (आ. श्रौ.सू. 4.3.2.9) इत्याचमनप्रतिद्वन्द्विभावेनोपस्पर्शनाभिधानात् स्पर्शमात्रं तत्प्रतिभाति। सत्यं तत्र तथा। इह तु "तेन पूतिरन्तरतः" इति वाक्यशेषादपोऽश्नात्यन्तरत एव मेध्यो भवतीति वदताऽऽचमनमेव। यथा "अक्ताः शर्करा उपदधाति" इत्यत्र घृततैलादिष्वञ्जनसाधनत्वेन संदिह्यमानेषु "तेजो वै घृतम्" (तै.ब्रा. 3.12.5.12.) इति वाक्यशेषाद् घृतमिति निश्चयः, तद्वत्। सूत्रितं हि–"संदिग्धेषु वाक्यशेषात्" (मी.सू. 1.4.29) इति। तस्य च व्रतोपायनाङ्गत्वम्, उपैष्यन्निति 'शतृ' प्रत्ययेन व्रतोपायनस्याचमनं प्रति हेतुत्वाभिधानात् "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (पा. सू. 3.2.126) इति स्मृतेः। प्रधानं हि स्वनिष्पत्त्यर्थमङ्गमनुष्ठापयत् तदनुष्ठाने हेतुर्भवति। न च लक्षणेऽपि शतुर्विधानात् कथं हेत्वर्थनिश्चय इति वाच्यम्। तदा हि भविष्यता व्रतेन लक्षितो हि यस्तत्पूर्वकालः तत्सम्बन्धमाचमनस्य विधातुं व्रतमुपैष्यन्नित्येतत्स्यात्। तत्कालसम्बन्धस्त्वाचमनानन्तरं व्रतोपायनस्य विधानात् पाठादपि सिध्यतीति लक्षणार्थस्वीकारे वचनमनर्थकमिति। ननु व्रतोपायनादपि प्रथममाहवनीयप्रणयनमन्वाधानं च। अत एवापस्तम्बः "प्रातरग्निहोत्रꣳहुत्वान्यमाहवनीयं प्रणीयाग्नीनन्वादधाति" (आप. श्रौ.सू. 1.1.2) इति। कात्यायनस्त्वप्रणीतस्याहवनीयादेरन्वाधानासंभवादर्थसिद्धं प्रणयनं मत्वा अन्वाधानमेव प्रथममाह–"अग्न्यन्वाधानमध्वर्युर्यजमानो वा" (श्रौ.सू. 2.2) इति। ब्राह्मणं तु तदभिधाय ततः पराचीनं व्रतोपायनं तदङ्गमाचमनं वा कथं प्रथममभिदधाति। अत्राभिधीयते। नियमेन याजमानानां मध्ये व्रतोपायनमेव प्रथमम्। अग्न्यन्वाधानं हि नियमेन न याजमानम्। अध्वर्युर्यजमानो वेति (का.श्रौ.सू. 2.2.) कात्यायनोक्तेः। नन्वन्वाधानमन्त्रस्य "ममाग्ने वर्चः" (तै.सं. 4.7.14.1) इत्यस्य प्रत्यगाशीष्ट्वान्नियमेन याजमानत्वं युक्तम्। यथा "आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि" (तै.सं. 1.5.5.13) इत्यादेः। तस्य हि समाख्ययाऽऽध्वर्यवत्वप्राप्तावपि प्रत्यगाशीष्ट्वलिङ्गेन प्रबलेन समाख्यां बाधित्वा याजमानत्वं निर्णीतम्–"मन्त्राश्च कर्मकरणास्तद्वत्" (मी.सू. 3.8.15.) इति। सत्यम्। अकरणमन्त्रत्वात्तत्र तथाऽस्तु, ममाग्ने वर्च इति तु करणमन्त्रत्वादाध्वर्यवक्रियायां विनियुक्तत्वाद् यजमानेन प्रयोगे तत्प्रतिपादनासामर्थ्यादध्वर्युणैव प्रयोज्यमित्युक्तमुत्तराधिकरणे–"करणेष्वर्थवत्त्वात्" (मी.सू. 3.8.25) इति। अत

उक्तयुक्तेस्तत्करणमन्वाधानमप्यध्वर्युणैवानुष्ठेयम्। यत्तु कात्यायनेनाध्वर्युर्यजमानो वेत्युक्तम्, तत्र याजमानत्वं शाखान्तरमूलम्। एतच्छाखानुसारेण त्वापस्तम्बादिभिः केवलाध्वर्यवत्वमुक्तमिति विभागः। अथवा। यथाऽप्रणीतस्यान्वाधानानुपपत्त्या प्रणयनमप्यन्वाधानविधिनैव संगृहीतं कात्यायनसूत्रे, तथा 'अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन्' इति वचनादेवाग्निप्रणयनं तत्प्रबलीकरणरूपमन्वाधानं चार्थसिद्धत्वादनुक्तमित्युच्यमानाङ्गमध्ये व्रतोपायनस्य प्राथम्यमविरुद्धम्।

विहितमुपस्पर्शनमनूद्य प्रशंसति–**तद्यदिति।** 'तत्' प्रकृतं 'यत्' उपस्पर्शनं तेनान्तरतः 'पूतिः' पवित्रता भवति। अनृतवदनेन हि पुरस्तात् संभावितमपवित्रत्वमिति। ननूपस्पर्शनस्य फलमेवेदं पवित्रत्वं किं न विधीयते? कथमपि सम्बन्धाभावेऽपि हि फलविधित्वं दृष्टम्, यथा–"प्रतितिष्ठिन्ति य एता रात्रीरुपयन्ति" इति रात्रिसत्रे। अत्रोच्यते। रात्रिसत्रस्य हि अनन्यशेषत्वेन स्वतन्त्रतया विधीयमानस्य युक्ते यदर्थवादोऽप्यपेक्षितं फलं समर्पयतीति। उपस्पर्शनस्य तु संस्कारतया संस्कार्येणैव प्रयोजनेन निरपेक्षितस्य कथमपेक्षितं फलं समर्थोऽर्थवादः समर्पयितुम्? यथा–"यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते" (तै.सं. 6.1.1.17) इति। अत्र ह्यञ्जनस्य संस्कारतया फलमनपेक्षमाणस्य भ्रातृव्यचक्षुर्वर्जनं न फलमिति। सूत्रितं च "द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्" (मी.सू. 4.3.1) इति। ननु साध्यसाधनेतिकर्तव्यातालक्षणेंऽशत्रयेऽनुप्रविष्टं कंचिदप्यर्थमनभिदधानस्य वाक्यस्यानर्थक्यमेव प्राप्तम्, "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" (मी.सू. 1.2.1.) इति। तत्रैव कस्यचिदंशस्य स्तुत्यापि भवत्यर्थवत्तेति चेत् न। प्रवृत्तिविशेषमकुर्वाणया किं स्तुत्या। अपि च यः स्तुतश्चास्तुतश्च तावानेव सोऽर्थः अत्रोच्यते। इह लिङादियुक्तेषु वाक्येषु द्वे भावने- शब्दात्मिका चार्थात्मिका च। उक्तं च–

अभिधां भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।

अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते इति।

एकैका च सा साध्यसाधनेतिकर्त्तव्यताभिस्त्रिभिरंशैरंशत्रयवती। अर्थभावनायां हि स्वर्ग एकः साध्योंऽशः, तत्करणमाग्नेयादिः साधनम्, प्रयाजादिरितिकर्तव्यतारूपः। तत्रैवार्थभावनायां पुरुषप्रवृत्तिः शब्दभावनाया भाव्यम्, लिङादिस्तद्व्यापारो वा करणम्, आर्थवादिकी स्तुतिरितिकर्तव्यता। तत्रार्थभावनाया अंशत्रयानभिधानेऽपि शब्दभावनेतिकर्तव्यताभूतां स्तुतिं ब्रुवाणोऽर्थवादः कथमनर्थकः स्यात्। यदाह सूत्रकारः "विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" (मी.सू. 1.2.7) इति। स्तुतिविरहे ह्यंशवैकल्यादपरिपूर्णशब्दभावनया न प्रवृत्तिरर्थभावनायां पुरुषस्येति तस्या अप्यानर्थक्येन मूलोच्छेदप्रसङ्ग इति कथमनर्थका स्तुतिः स्यात्। यत्त्वर्थवादरहितं केवलं विधिवाक्यम्, तत्र विधिरेव स्तुतिमाक्षिपतीति, नोक्तदोषावतारः इह प्रत्यक्षश्रुतायां स्तुतौ सत्यां किमाक्षेपक्लेशेनेत्यलम्। अयं च विचारः उत्तरत्र सर्वेष्वेवार्थवादेषु द्रष्टव्य इति। अनृतवदननिमित्ताशुद्धिपरिहारेणोपस्पर्शनस्य प्राशस्त्यमभिधाय तत्साधनभूतानामेषां स्वतः शुद्धत्वात्स्वसंबन्धिशुद्धि हेतुत्वाच्च तत्प्रशस्तमित्याह–**मेध्या वा** इति॥1॥

अन्वयः–व्रतम् उपैष्यन् आहवनीयं च गार्हपत्यं च अन्तरेण प्राङ्तिष्ठन् अप उपस्पृशति। पुरुषो वै अमेध्यो यत् अनृतं वदति तेन अन्तरतः पूतिः यत् तत् अप उपस्पृशति। आपो वै मेध्याः मेध्यो भूत्वा व्रतम् उपायानीति। आपो वै पवित्रं पवित्रपूतो व्रतम् उपायानीति। तस्मात् वा अप उपस्पृशति।।1।।

पदार्थः–**व्रतम्** = यज्ञ को, **उपैष्यन्** = करता हुआ (यजमान), **आहवनीयं** = आहवनीय अग्नि, **च** = और **गार्हपत्यं** = गार्हपत्य के (दोनों अग्नियों के), **च** = तथा, **अन्तरेण** = मध्य के स्थान में, **प्राङ्** = पूर्वाभिमुख, **तिष्ठन्** = खड़ा होकर, **अपः** = जल का, **उपस्पृशति** = स्पर्श करता है (आचमन करता है।))। **तत्** = वह, **यत्** = जो, **अप** = जल का, **उपस्पृशति** = स्पर्शन करता है (वह इसलिए क्योंकि), **अमेध्यः** = अयज्ञिय, **वै** = ही, **पुरुषः** = पुरुष होता है, **यत्** = जो, **अनृतं** = असत्य, **वदति** = बोलता है, **तेन** = उससे (आचमन से), **अन्तरतः** = शरीर के अन्दर, **पूतिः** = पवित्रता को प्राप्त करता है। **आपः** = जल, **वा** = ही, **मेध्याः** = पवित्रकारक यज्ञ योग्य हैं। **मेध्यो** = यज्ञ के योग्य ही, **भूत्वा** = होकर, **व्रतम्** = अनुष्ठान को, **उपायानीति** = करता है। **पवित्रम्** = पवित्र, **वा** = ही, **आपः** = जल है, इस प्रकार, **पवित्रपूतः** = पवित्रता से युक्त होकर, **व्रतमुपायानीति** = व्रतानुष्ठान करता है। **तस्मात्** = इसलिए, **अप** = जल का, **वा** = ही, **उपस्पृशति** = उपस्पर्शन करता है।।1।।

रेणु-व्याख्या–यज्ञानुष्ठान करता हुआ यजमान गार्हपत्याग्नि एवं आहवनीयाग्नि के मध्य पूर्वाभिमुख (पूर्व की ओर मुखकर) खड़ा होकर जल से उपस्पर्शन (आचमन) करता है। वह जल का उपस्पर्शन इसलिए करता है, क्योंकि मनुष्य अयज्ञिय होता है और यज्ञ देवकर्म है। देवकर्म करने के लिए देवत्व गुण की प्राप्ति आवश्यक होती है। श्रुतियों में "आपो वै सर्वा देवता" कहा गया है। इस प्रकार जल के उपस्पर्शन से वह देवत्वगुण प्राप्त करना चाहता है।

सामान्यतः मनुष्य असत्य सम्भाषणशील होता है जिस कारण वह अमेध्य कहा जाता है। स्नानादि द्वारा बाह्य शुद्धि तो हो जाती है, किन्तु आन्तरिक शुद्धि हेतु जल से आचमन आवश्यक है। क्योंकि जल मेध्य (पवित्र) है, देवत्वगुणयुक्त है, इस प्रकार जल से आचमन द्वारा यज्ञ करने की योग्यता को प्राप्त कर अनुष्ठान करने हेतु प्रवृत्त होता है। इसलिए जल से आचमन करता है। आचमन का विधान मनु महाराज ने इस प्रकार किया है–

हृद्गाभिः पूयते विप्र कण्ठगाभिस्तु भूमिपः।
वैश्योद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रस्पृष्टाभिरन्ततः॥

(मनुः-2/62)

अर्थात् आचमन का जल हृदयपर्यन्त पहुँचने पर विप्र, कण्ठ तक पहुँचने पर क्षत्रिय, प्राशन मात्र से (मुख में जाने से) वैश्य एवं होंठ से स्पर्श मात्र से शूद्र आभ्यन्तर पर्यन्त पवित्रता को प्राप्त करता है।

इसी हेतु से "ॐ केशवाय नमः, ॐ माधवाय नमः, ॐ नारायणाय नमः इन तीनों मन्त्रों से तीन बार आचमन का विधान श्रौतस्मार्त पद्धतियों में प्राप्त होता है। चूँकि विष्णु को त्रिविक्रम कहा गया है तीन डगों में विष्णु ने समस्त लोकों को माप लिया था। यज्ञ ही विष्णु है (यज्ञो वै विष्णुः) यज्ञ भी त्रिवृत् है, सायं सवन, प्रातः सवन एवं तृतीय सवन से आबद्ध है, इसलिए यज्ञ में तीन बार किसी कार्य को करने का एक सामान्य विधान किया गया है। भगवान् मनु ने भी कहा है-

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च॥

(मनुः-2/60)

अर्थात् पहले तीन बार आचमन कर दो बार मुख को स्पर्श करे और छः छिद्रों (नाक, नेत्र और कान के दोनों छिद्रों) का हृदय और शिरका जल से स्पर्श करें। इस प्रकार जल से उपस्पर्शन द्वारा यजमान यज्ञ करने की योग्यता (पवित्रता) को प्राप्त करता है॥1॥

[व्रतग्रहणमन्त्रविधानम्]

1.1.1.2. सोऽग्निमेवाभीक्षमाणो व्व्रतमुपैति। (त्यु) अग्ने व्व्रतपते व्व्रतञ्चरिष्यामि तच्छकेयन्तन्मे राध्यतामित्यग्निर्व्वै देवानांव्व्रतपतिस्तस्माऽएवैतत् प्राहव्व्रतञ्चरिष्यामि तच्छकेयन्तन्मे राध्यतामिति नात्र तिरोहितमिवास्ति॥2॥

ऋजुपाठः-सोऽग्निमेवाभीक्षमाणो व्रतमुपैति-"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्" (यजु-1 अ. 5 मं.) इति। अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः,

तस्मा एवैतत्प्राह–व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम्, तन्मे राध्यतामिति। नात्र तिरोहितमिवास्ति॥2॥

सा॰भा॰–इदानीमग्निदर्शनलक्षणेनाङ्गान्तरेण सहितं समन्त्रकं व्रतोपायनं विधत्ते–**सोऽग्निमिति।** 'स:' यजमान: 'अग्निम्' आहवनीयम्। मन्त्रार्थस्तु–हे व्रतस्य पालक! अग्ने! अनृतवदनत्यागादिरूपं 'व्रतं' चरिष्यामि। तत्कर्तुं शक्तो भूयासम् शक्नोतेर्लिङ्याशिष्ययन्। मदीयं 'तद्' व्रतं समृद्धं भवत्विति।

व्रतपतिपदं व्याकरोति–**अग्निर्वै देवानामिति।** उभयवाक्यस्याव्याख्येयत्वमत्र-शकेयं राध्यतामिति। तत्र च हेतुमाह–**नात्रेति।** 'तिरोहितम्' अविस्पष्टार्थं पदम्॥2॥

अन्वय:–स: (यजमान:) अग्निम् एव अभीक्षमाणो व्रतम् उपैति। अग्ने व्रतपते व्रतञ्चरिष्यामि तच्छकेयन्तन्मे राध्यतामिति। अग्निर्वै देवानां व्रतपति: तस्मा एव एतत् व्रतञ्चरिष्यामि तच्छकेयन्तन्मे राध्यतामिति प्राह। अत्र तिरोहितम् इव नास्ति॥2॥

पदार्थ:–**स:** = वह यागानुष्ठान करने वाला यजमान, **अग्निम्** = आहवनीय अग्नि को, **अभीक्षमाण:** = (सामने) समक्ष देखता हुआ, **व्रतम्** = कर्मानुष्ठानार्थ व्रतग्रहण, **उपैति** = करता है। व्रतग्रहण करता हुआ यजमान मन्त्र का उच्चारण करता है–**अग्ने** = हे अग्नि, **व्रतपते** = व्रत के पालक, **व्रतम्** = (मैं) व्रतोपायन (व्रतग्रहण), **चरिष्यामि** = करूँगा, **तत्** = उसके लिए, **शकेयम्** = (मैं) समर्थ (योग्य) हो जाऊँ (वह कर सकूँ), **तत्** = वह (योग्यता), **मे** = मुझे, **राध्यताम्** = प्रदान कर संसिद्ध करें। क्योंकि **अग्नि:** = अग्नि, **वै** = ही, **देवानां** = देवों का, **व्रतपति:** = व्रतपालक कहलाता है, **तस्मा** = इसलिए, **एव** = ही, **एतत्** = यह, **व्रतञ्चरिष्यामि** = व्रतानुष्ठान करूँगा, **तच्छकेयम्** = यह करने में मैं समर्थ हो सकूँ, **तन्मे** = उसके लिए, मुझे, **राध्यताम्** = संसिद्ध करें, **इति** = ऐसा, **प्राह** = कहता है। **अत्र** = यहाँ, **तिरोहितम्** = अस्पष्ट, **इव** = के जैसा, **नास्ति** = कुछ भी नहीं है॥2॥

रेणु-व्याख्या–यज्ञानुष्ठान में प्रवृत्त वह यजमान समक्ष विद्यमान आहवनीयाग्नि की ओर देखता हुआ व्रतग्रहण करता है। चूँकि आहवनीय द्युलोक के अग्नि का प्रतीक है, देवगण द्युलोक के वासी हैं अत: देवता के यजन हेतु देवत्वगुण प्राप्त करने के लिए उस सामर्थ्य से युक्त आहवनीय की ओर देखता हुआ व्रत ग्रहण करता है। व्रतग्रहण के लिए यजमान अग्नि से प्रार्थना करता है कि हे अग्नि! आप व्रत के पालक (स्वामी) हैं, मैं व्रतग्रहण करूँगा। मैं व्रतानुष्ठान को करने में समर्थ हो सकूँ वह सामर्थ्य (योग्यता) मुझे प्रदान करें। वस्तुत: अग्नि ही देवताओं के व्रत का पालक है। इसलिए अग्नि से ही व्रत की योग्यता को प्राप्त करने की इच्छा से हे अग्नि! आप व्रत के

पालक हैं, मैं व्रत करूँगा तदर्थ मुझे संसिद्ध करें ऐसा अग्नि से कहता है। यहाँ कुछ भी अस्पष्ट जैसा नहीं है अर्थात् सबकुछ स्पष्ट है।।2।।

[व्रतविसर्जनम्]

1.1.1.3.(स्त्य) अथ सꣳस्थिते व्विसृजतेऽअग्ने व्व्रतपते व्व्रतमचारिषन्तदशकन्तन्मेराधीत्यशकद्ध्ये-तद्यो यज्ञस्य सꣳस्थामगन्नराधि ह्यस्मै यो यज्ञस्य सꣳस्थामगन्नेतेन न्वेव भूयिष्ठा ऽइव व्व्रतमुपयन्त्यनेन त्वेवोपेयात्।।३।।

ऋजुपाठः–अथ संस्थिते विसृजते–"अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधि" (यजु-2 अ. 28 मं.) इति। अशकद्ध्येतद्–यो यज्ञस्य संस्थामगन्। अराधि ह्यस्मै–यो यज्ञस्य संस्थामगन्।। एतेन न्वेव भूयिष्ठा इव व्रतमुपयन्ति, अनेन त्वेवोपेयात्।।3।।

सा॰भा॰–स्वीकृतस्य व्रतस्य यागसमाप्तिपर्यन्ततामाह–**अथेति**। 'संस्थिते' यागे पर्यवसिते। विसर्जनमन्त्रमाह **अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषमिति**। अत्राशकमराधीति पूर्वमन्त्राद् वैलक्षण्यम्। तत्र हेतुमाह–अशकद्धीति। यो यज्ञस्य पर्यवसानं प्राप्तवान्, 'एतत्' कर्म कर्तुम् 'अशकत्' शक्तोऽभूत्। तस्मै तेन कर्मणा 'अराधि' सिद्धम्, तत्कर्म असिद्धयदित्यर्थः। अगन्निति गमेर्लुङि "मन्त्रे घसेति" (पा.सू. 2.4.80) च्लेर्लुकि, हल्ङ्यादिलोपे "मो नो धातोः" (पा.सू. 8.2.64) इति मकारस्य नकारः। अत्र व्रतोपायने मन्त्रान्तरं विधातुं पूर्वमन्त्रात्तस्यैव विशेषमाह-**एतेनेति**। यतः 'एतेन' वक्ष्यमाणेनेदमहमित्यादिना बहवो व्रतमुपयन्ति अतस्तु हेतोरनेनैवोपेयात्। एवकारेणैष मन्त्रः प्रशस्यते, न तु पूर्वो निषिध्यते। अत एव कात्यायनो द्वयमप्याह–"अग्ने व्रतपते" इदमहमिति वा (श्रौ.सू.-2.11) इति।।3।।

अन्वयः–संस्थिते अथ विसृजते। अग्ने व्रतपते व्रतम् अचारिषं तत् अशकं तन्मे अराधि इति अशकद्धि एतद्यो यज्ञस्य संस्थाम् अगन् अराधि ह्यस्मै यो यज्ञस्य संस्थामगन् एतेन नु एव भूयिष्ठा इव व्रतमुपयन्ति अनेन त्वेव उपेयात्।।

पदार्थः–**संस्थिते** = याग समाप्त होने पर, **अथ** = उसके बाद, **विसृजते** = विसर्जन का मन्त्र पढ़ता है। **अग्ने** = हे अग्नि, **व्रतपते** = आप व्रत के पालक हैं, **व्रतम्** = मैंने व्रत को, **अचारिषम्** = किया, **तत्** = उस कर्म में, **अशकम्** = मैं समर्थ हो सका, **तत्** = उसके लिए मैं, **अराधि** = संसिद्ध (योग्य) हो सका, **हि** = क्योंकि, **अस्मै** = इस यज्ञ के लिए, **यो** = जो, **यज्ञस्य** = यज्ञ की,

संस्थाम् = सविधि अनुष्ठान की, **अगन्** = सम्पूर्णता को प्राप्त किया, **एतेन** = आगे कहे जाने वाले व्रतग्रहण सम्बन्धी मन्त्र **'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि'** पद से, **नु** = उस प्रकार (उसी तरह), **एव** = ही, **भूयिष्ठा** = बहुत से व्रत ग्रहण करने वाले, **इव** = की तरह, **व्रतम्** = कर्मानुष्ठान को, **उपयन्ति** = इस प्रकार ग्रहण करते हैं इसलिए, **अनेन** = इस प्रकार, **तु** = निपात छन्द पूर्त्यर्थ, **एव** = ही, **उपेयात्** = समन्त्रक व्रतग्रहण करे।।3।।

रेणु-व्याख्या–जिस प्रकार अनुष्ठान के आरम्भ में यजमान व्रतग्रहण करता है। उसी प्रकार यज्ञ समाप्ति के समय व्रतविसर्जन भी करता है। अतः व्रतग्रहण के बाद याग समाप्त होने पर यजमान व्रतविसर्जन का मन्त्र पढ़ता है। अग्नि को साक्षी मानकर व्रतग्रहण किया था। इसलिए अग्नि को साक्षी मानकर ही व्रतविसर्जन भी करेगा। अतएव कहता है–हे अग्नि! आप व्रत के पालक हैं, मैंने व्रत का आचरण किया, इस कर्म में मैं समर्थ हुआ यह सामर्थ्य मुझे आपने प्रदान किया। क्योंकि इस सविधि अनुष्ठित यज्ञ की सम्पूर्णता जो मैंने प्राप्त की वह व्रतग्रहण के मन्त्रबल से ही सम्भव हो सका चूँकि व्रतग्रहण के मन्त्र में प्रयुक्त होने वाला 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि' यह जो आगे का वाक्य है इसका प्रयोग व्रतग्रहण करने वाले बहुत लोग करते हैं। जिस प्रकार सब लोग अभीष्ट प्राप्त करते हैं। वैसे ही मैं भी कर्मानुष्ठान को सविधि सम्पूर्ण कर सका। अतएव उक्त प्रकार से (समन्त्रक) ही सब व्रतग्रहण करें यह निर्देश है।।3।।

[यजमानस्य सत्यवदननियमः]

1.1.1.4. (द्व) द्वयं वा ऽइदन्न तृतीयमस्ति। सत्यञ्चैवानृतञ्च सत्यमेव देवा ऽ अनृतम्मनुष्या ऽइदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति।।4।।

ऋजुपाठः–द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति–सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवाः, अनृतं मनुष्याः। "इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि" (यजु–1 अ. 5 मं.) इति। तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति।।4।।

सा॰भा॰–इदमहमिति मन्त्रे कर्मत्वेनापादानत्वेन च सत्यानृतयोरुभयोरेवोपादाने कारणमाह–द्वयं वा इति। यद् 'इदं' जगत् तत्सर्वमनृतं सत्यं वेति कोटिद्वयमेव, न तृतीया कोटिरस्ति। सत्यमेव देवाः, चिरावस्थानात्, नियमेन सत्यवादित्वाद्वा। अनृतं मनुष्याः स्पप्नदृष्टवदल्पकालावस्थानात् प्रायेणानृतवादित्वाद्वा। तथा च देवमनुष्याणां सत्यानृतवादित्वमैतरेयकेऽप्याम्नातम्–"सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्याः" (ऐ. ब्रा.-1.1.6) इति। सत्यानृतवदनसाहित्यं हि तत्र विवक्षितोऽर्थः–"तस्माद्दीक्षितेन

सत्यमेव वदितव्यम्" इति वाक्यशेषात्। यदनेन मन्त्रेणोच्यते 'तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति' इत्येवमात्मकमिममर्थमयं मन्त्र आहेत्यर्थः।।4।।

अन्वयः–इदं द्वयं वा तृतीयं न अस्ति। सत्यञ्च अनृतञ्च एव सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या इदम् अहम् अनृतात् सत्यम् उपैमि इति तन्मनुष्येभ्यो देवान् उपैति।।4।।

पदार्थ–**इदं** = यह जो कुछ दृश्यमान् जगत् है वह, **द्वयं** = दो कोटियों में विभक्त, **वा** = ही है, **तृतीयं** = तीसरी कोटि, **नास्ति** = नहीं है, **सत्यञ्च** = सत्य और **अनृतञ्च** = असत्य (झूठ), **एव** = ही है, **सत्यमेव** = सत्य ही, **देवाः** = देवगण हैं, **अनृतं** = असत्य, **मनुष्याः** = मनुष्यगण, **इदम्** = यह, **अहम्** = मैं, **अनृतात्** = असत्य से, **सत्यम्** = सत्य को, **उपैमि** = प्राप्त करता हूँ, **इति** = यह जो मन्त्र में कहा है; **तत्** = उससे, **मनुष्येभ्यो** = मनुष्यत्व से, **देवान्** = देवत्व को, **उपैति** = प्राप्त करता है।।4।।

रेणु-व्याख्या–यह जो चराचरात्मक दृश्यमान् जगत् है उसमें जितने भी पदार्थ वा तत्त्व हैं, वे दो कोटियों में ही विभक्त हैं। तीसरी कोई कोटि नहीं है। वे दो कोटि सत्य एवं अनृत (असत्य) ही हैं। उसमें सत्य तो केवल देवगण ही हैं चिरकाल तक स्थित रहने के कारण तथा नियमानुसार सत्य बोलने के कारण। मनुष्य असत्य हैं। जिस प्रकार स्वप्न क्षणिक होता है उसी प्रकार अल्पकाल तक स्थित रहने तथा प्रायः असत्य सम्भाषण के कारण मनुष्य भी असत्य है। इसलिए दीक्षित यजमान व्रतग्रहण के समय 'अहमनृतात् सत्यमुपैमि' मैं अनृत से सत्य को प्राप्त करता हूँ अर्थात् मनुष्य शरीर से देवशरीर को प्राप्त करता हूँ इस मन्त्रवाक्य का उच्चारण करता है। इस प्रकार वह दीक्षित मनुष्यत्व को त्यागकर देवत्व को प्राप्त करता है। यह एक प्रसिद्ध वाक्य है–**देवो भूत्वा यजेद्देवम्** अर्थात् देवता बनकर देवताओं का यजन करे। इस प्रकार व्रतग्रहण के उपरान्त यजमान को सदा सत्य ही बोलना चाहिए।।4।।

1.1.1.5. स वै सत्यमेव व्वदेदेतद्ध वै देवा व्व्रतञ्चरन्ति यत्सत्यन्तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य ऽएवं व्विद्वान्त्सत्यं व्वदति।।5।।

ऋजुपाठः–स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति–यत् सत्यम्; तस्मात्ते यशः। यशो ह भवति–य एवं विद्वान् सत्यं वदति।।5।।

सा०भा०—अनेन मन्त्रेण व्रतमुपेयुषो नियममाह—**स वा** इति। 'सः' इत्थं कृतव्रतोपायनः 'सत्यमेव' इत्येवकारकरणादनृतं न वदेदित्यर्थः। असत्येवकारे यद्यत् सत्यं, तत्तदवश्यं वक्तव्यं स्यात्—ग्रहं संमार्ष्टीतिवदेकत्वस्याविवक्षितत्वात्; अनृतवचनं चाप्रतिषिद्धं स्यात्, इष्यते च तन्निषेधः। अत एव तैत्तिरीयके दर्शपौर्णमासप्रकरणे समाम्नायते—"तस्यैतद् व्रतं-नानृतं वदेत्" (तै.सं. 2.5.5.11) इति। यद्यप्याहिताग्निमात्रस्यानृतवदनमन्यत्र प्रतिषिध्यते—"तस्मादाहिताग्निर्नानृतं वदेत्" इति, तथाप्यनृतवदनवर्जनस्य दर्शपूर्णमासाङ्गत्वसिद्धये पुनरिह वक्तव्यमेव, इतरथा ह्यनृतवदनेऽपि पुरुष एव प्रत्यवेयात्, क्रतुः पुनरविगुण एव स्यात्—"को नाम क्रतुमध्यस्थः कलञ्जादीनि भक्षयेत्। न क्रतोस्तत्र वैगुण्यं यथा चोदितसिद्धितः॥" इति न्यायात्। नन्वनेनापि वचनेन कथमनृतवदननिषेधस्य कर्माङ्गत्वसिद्धिः? वदेदिति प्रत्ययार्थस्य कर्तुः प्राधान्यात् तदर्थ एवायं प्रतिषेध इति हि युक्तम्। कर्मप्रकरणात् कर्माङ्गतेति चेत्, न; प्रतिषेध्यपाठादपि क्रियायास्तावत्कर्तृशेषतः पदश्रुत्या प्रतीयते, तदर्थं प्रतिषेध्यम्; तादर्थ्येनैव प्रतिषेधोऽपि चाभिधीयते इति श्रौतेन पुरुषार्थत्वेन प्रबलेन प्राकरणिकी दर्शपूर्णमासार्थता बाध्यते। ननु न वदेदिति पदद्वयगम्यप्रतिषेधस्य कर्तुः संबन्धः, पदद्वयं वाक्यमिति कथं प्रतिषेधस्य कर्तुः संबन्धः। श्रौत इति चेत्, न; यथा ग्रहं संमार्ष्टीति पदद्वयगम्यसंमार्गस्य ग्रहशेषता, तथापि द्वितीयायाः क्रियासामान्यं प्रति ग्रहस्य शेषत्वाभिधानात् तद्विशेषस्य संमार्गस्य पदान्तरेणोपस्थापनेऽपि शेषशेषिभावस्य श्रौतता, तद्वत्। अत इह पुरुषार्थो निषेधो विधीयते। स्मृत्यैव विहित इति चेत्, तथापि हि तस्या एषैव श्रुतिर्मूलं भविष्यति; द्वयोरर्थसाम्यात्। अतो युक्तः श्रुत्या प्रकरणबाध इति। अथ मतम्—अविरोधे न दुर्बलं प्रबलेन निराक्रियते, न तु स्वयं प्रबलमित्येव दुर्बलस्य हिंसा न्याय्या। न चेह प्रकृतक्रियया कर्तुःसंबन्धे प्रकरणबाधः, अतो न केवलक्रत्वर्थतेति। ननु पुरुषमात्रार्थोऽनृतनिषेधः स्मृत्यैव सिद्धः, स एव क्रतुगतपुरुषार्थोऽपि भविष्यतीति किमनेन विशेषनिषेधेन? न च तस्याः स्मृतेरियं श्रुतिर्मूलमिति युक्तम्; सामान्यविशेषतया मूलमूलिभावासंभवात्। एवं तर्हि सर्वविशेषगामिना सामान्येन स्मृतिसिद्धस्य निषेधस्य प्रकरणाबाधायात्र क्रतुगतपुरुषविशेषेऽनुवादोऽस्तु, तस्य प्रत्ययार्थत्वेन प्राधान्यादित्युक्तम्। स्यादेव यदि कर्तुः प्रत्ययार्थत्वं स्यात्, न त्वेतदस्ति। अनन्यलब्धस्यैव शब्दार्थत्वात्। अवश्याभिधातव्यया भावनयैवाक्षेपात् कर्तुः प्रतीतेः। न च "लः कर्मणि च" (पा.सू. 3.4.69) इति स्मृतिबलात् कर्तुः प्रत्ययार्थता। तस्याः स्मृतेः "द्व्येकयोः" (पा.सू. 1.4.22) इत्यनेनैकवाक्यत्वे प्रत्ययाभिधेयत्वेनोच्यमानयोर्द्वित्वैकत्वयोर्व्यावर्तकत्वेनैव कर्तुः समर्पणात्; कर्तृद्वित्वे द्विवचनं कर्त्रैकत्व एकवचनमिति। अतो भावनया सख्यया वाक्षेपादेव कर्तुः प्रतीतिः सिद्धेति न स प्रधानतया प्रत्ययार्थः। अतः क्रियाया एव प्राधान्यात् तस्या एवाङ्गत्वेनानृतनिषेधो विधीयते। न च स्मृत्या पुरुषार्थतया विहितस्यानृतवदननिषेधस्य कथमिह प्रकरणात् क्रत्वर्थतेति वाच्यम्; "खादिरो यूपो भवति" "खादिरं वीर्यकामस्य" (ऐ.ब्रा. 2.1.1.) इतिवत् संयोगपृथक्त्वेनोभयार्थत्वसिद्धेः। उक्तं हि—"एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्" (मी.सू. 4.3.5.) इति। अतः सत्यमेव वदेदिति दर्शपूर्णमासांगत्वेनानृतप्रतिषेधस्य विधिरयमिति सिद्धम्।

तदाह कात्यायनः "इदमहमिति वा सत्यवाद्यतः;" "कर्माङ्गमुत्तरे सत्यवदनम्" (श्रौ.सू. 2. 11.13.) इति। **तस्मात्ते यश** इति। यशस्विनां देवानां यशोऽपि यशः प्रतिपादनाय प्रशस्तम् 'एवम्'।।5।।

अन्वयः—स वै सत्यमेव वदेत्। देवा ह यत्सत्यं एतत् वै व्रतञ्चरन्ति तस्मा य एवं विद्वान् सत्यं वदति ते यशो यशो ह भवति।।5।।

पदार्थः—**सः** =वह यजमान, **वै** = निश्चित रूप से, **सत्यमेव** = सत्य ही, **वदेत्** = बोले। **देवा** = देवगण, **ह** = प्रसिद्ध, **यत्** = जो, **सत्यम्** = सत्यवदन नियमात्मक, **एतत्** = इस, **वै** = ही, **व्रतं** = व्रत को, **चरन्ति** = करते हैं। **तस्मात्** = इसलिए, **यः** = जो यजमान, **एवं** = इस प्रकार, **विद्वान्** = जानकर (इस रहस्य को समझकर), **सत्यं** = सत्य, **वदति** = बोलता है, **ते** = वह, **यशो-यशो** = यशस्वी (यश प्राप्त करने वाला), **ह** = प्रसिद्ध, **भवति** = होता है।।5।।

रेणु-व्याख्या—वह यजमान व्रतग्रहण के उपरान्त व्रतान्त पर्यन्त निश्चित रूप से केवल सत्य ही बोले। क्योंकि देवगण प्रसिद्ध सत्यवदन नियमात्मक व्रत को ही करते हैं। इसलिए जो यजमान इस प्रकार इस रहस्य को जानकर सत्य बोलता है वह इस लोक और परलोक में प्रसिद्ध यश को प्राप्त कर यशस्वी होता है।।5।।

1.1.1.6. (त्य) अथ सꣳस्थिते विसृजते। इदमहं य ऽएवास्मि सोऽस्मीत्यमानुष ऽइव वा ऽएतद्भवति यद्व्रतमुपैति न हि तदवकल्पते यद्ब्रूयादिदमहꣳ सत्यादनृतमुपैमीति तदु खलु पुनर्मानुषो भवति तस्मादिदमहं य ऽएवास्मि सोऽस्मीत्येव व्रतं विसृजेत।।6।।

ऋजुपाठः—अथ संस्थिते विसृजते 'इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि' (यजु–2. 28) इति। अमानुष इव वा एतद् भवति—यद् व्रतमुपैति। न हि तदवकल्पते यद् ब्रूयाद्—'इदमहं सत्यादनृतमुपैमि'—इति, तदु खलु पुनर्मानुषो भवति। तस्मादिदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्येव व्रतं विसृजेत।।6।।

सा.भा.—"अग्ने व्रतपते" इति मन्त्रवत् मन्त्रेणाभ्युपेतस्य व्रतस्य प्रसङ्गाद्विसर्जनमाह—**अथ संस्थित** इति। अत्रत्यविसर्जनमन्त्रस्यायमर्थः व्रतोपायनात् प्रागहं य एव मनुष्योऽस्मि, व्रतं मुक्त्वा स एव मनुष्यः 'इदमस्मि'; न तु व्रतसमय इव देवः। इदमिति क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकम्। नन्वसौ मनुष्यो व्रतसमयेऽपि मनुष्य एव, तत्किमुच्यते य एव

मनुष्योऽस्मि स एवेदमस्मीति? तत्राह–**अमानुष** इवेति। मनुष्योऽपि हि तदाऽन्यात्मकत्वात् सत्यवदनाद्वा देव इवेत्युक्तम्, व्रतत्यागे तु कृते व्रतारम्भात् प्रागिव स्वभावसिद्धं मनुष्यत्वमेवेति। ननु यथा व्रतोपायनेऽनृतात् सत्यमुपैमीत्युक्तम्, एवं तत्त्यागे सत्यादनृतमुपैमीति किं नोक्तमित्यत आह–नहीति। महत उत्कृष्टाद्देवत्वात् प्रच्युतत्वेनात्यन्तनिकृष्ट- मानुषत्वप्राप्तिकथनस्य पुरुषत्वादनवकल्पनं, तदाह–**तदु खल्विति**॥6॥

अन्वयः–अथ संस्थिते विसृजते। इहमहं य एवास्मि सोऽस्मि इति यद् व्रतमुपैति एतद् वा अमानुष इव भवति। यद् ब्रूयादिदमहं सत्यादमृतमुपैमि इति न हि तदवकल्पते तदु खलु पुनर्मानुषो भवति तस्मादिदमहं य एवास्मि सोऽस्मि इत्येव व्रतं विसृजेत्॥6॥

पदार्थः–**अथ** = उसके बाद, **संस्थिते** = अनुष्ठित यागसंस्था की समाप्ति पर वह (यजमान)। **विसृजते** = व्रत विसर्जन करता है। **इदम्** = यह, **अहं** = मैं, **य** = जो, **एव** = ही, **अस्मि** = हूँ (था), **सः** = वह, **अस्मि** = हूँ, **इति** = इस प्रकार, **यद्** = जो यजमान, **व्रतमुपैति** = व्रतग्रहण करता है, **एतद्** = उससे, **वा** = ही, **अमानुष** = मनुष्य से भिन्न अर्थात् देव, **इव** = के जैसा, **भवति** =हो जाता है। **यत्** = जो, **ब्रूयात्** = यह कहे कि, **इदं** = यह, **अहं** = मैं, **सत्यात्** = सत्य से, **अनृतं** = झूठ (असत्य), **उपैमि** = प्राप्त करता हूँ। **हि** = क्योंकि, **इति** = ऐसा कहना, **तद्** = उस भाव को, **नावकल्पते** = प्रदर्शित नहीं करता है। अपितु, **यद्** = जो, **ब्रूयाद्** = कहे कि, **इदमहं** = यह मैं, **सत्यात्** = सत्य से, **अनृतं** = असत्य को, **उपैमि** = प्राप्त करता हूँ, **इति** = ऐसा, **तदु** = उस कथन द्वारा, **खलु** = निश्चय वह, **पुनर्मानुषो** = पुनः देवत्व से मनुष्य के जैसा, **भवति** = होता है। **तस्मात्** = इसलिए, **इदमहं** = यह मैं, **य** = जो, **एवास्मि** = ही हूँ, **सोऽस्मि** = वह होता हूँ। **इत्येव** = यह कहकर ही, **व्रतं** = व्रत को, **विसृजेत** = समाप्त करता है॥6॥

रेणु-व्याख्या–व्रतग्रहण से आरम्भ होकर चल रहे यज्ञ की समाप्ति होने पर **यजमान इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि** इस मन्त्र द्वारा व्रतविसर्जन करता है। जब व्रतग्रहण किया था तब यजमान ने यह कहा था कि मैं मनुष्य से देवत्व को प्राप्त करता हूँ, परन्तु विसर्जन के समय कहता है कि मैं जो था वही हो गया हूँ। तात्पर्य यह है कि जब उसने यह व्रतग्रहण किया था तब अमानुष (मनुष्य से भिन्न अर्थात् देव) बन गया था। असत्य शरीर से सत्य शरीर को प्राप्त किया था अब जो यह कहता है कि मैं जो था वह हो गया, इसके द्वारा सत्य से असत्य हो गया यह कहना अभीष्ट नहीं है अपितु व्रतग्रहण के पूर्व में मनुष्य

था वही हो गया। चूँकि देव शरीर में रहकर जागतिक प्रपञ्च में प्रवेश करना उचित नहीं होगा अत एव **य एवास्मि सोऽस्मि** इस कथन द्वारा निश्चय वह पुनः मनुष्यता को प्राप्त कर लेता है इसलिए **इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि** यह कहकर ही व्रतविसर्जन करता है।।6।।

[व्रते अशनानशनयोर्विचारः]

1.1.1.7. (ता) अथातोऽशनानशनस्यैव। तदु हाषाढः सावयसोऽनशनमेव व्व्रतं मेने मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति त ऽएनमेतद्व्रतमुपयन्तं व्विदुः प्रातर्न्नो यक्ष्यत ऽइति तेऽस्य व्विश्वेदेवा गृहानागच्छन्ति तेऽस्य गृहेषूपवसन्ति स ऽउपवसथः।।7।।

ऋजुपाठः—अथातोऽशनानशनस्यैव। तदु हाषाढः सावयसोऽनशनमेव व्रतं मेने। मनो ह वै देवा मनुष्यस्याऽऽजानन्ति, त एनमेतद् व्रतमुपयन्तं विदुः—'प्रातर्नो यक्ष्यते' इति। तेऽस्य विश्वेदेवा गृहानागच्छन्ति, तेऽस्य गृहेषूपवसन्ति—स उपवसथः।।7।।

सा.भा.—व्रतप्रसङ्गादागतं तद्विसर्जनं समाप्य पूर्वेद्युर्यजमानेन व्रतानन्तरं यत् कर्त्तव्यं तत् प्रतिजानीते—**अथात** इति। यतो व्रतानन्तरमशनानशनापरनामकमारण्याद्यशनमेव यजमानेन कर्तव्यम्, 'अतः' तदनन्तरमेव तस्य निरूपणं क्रियत इत्यर्थः। प्रतिज्ञातस्याशनानशनपक्षस्य प्रशंसार्थं केवलानशनपक्षं निरसितुमपन्यस्यति—**तदु** हेति। 'तत्' तस्मिन्नशनानशनविषये सवयसः पुत्रः 'सावयसः' 'अषाढ' नामकः सर्वात्मनाऽशनत्यागमेव व्रतं मेने। तथा मन्यमानस्याषाढस्याशयमाह—**मनो** हेत्यादि। अनुपन्यस्तमपि मनुष्यस्य मनः 'आ' समन्तात् [देवाः] जानन्ति। अतो योऽसौ यजमानो व्रतमुपैति, एष नः प्रातरवश्यं यक्ष्यते इति ज्ञात्वा **'विश्वे'** सर्वे ते देवाः व्रतदिवसे यजमानस्य गृहानागच्छन्ति उपवसथनामनिर्वचनेन देवानामागमनं द्रढयति—**तेऽस्येति**। 'उप' समीपे यजमानस्य वसन्ति देवा अस्मिन्निति पर्वदिवस 'उपवसथ'—नामक इत्यर्थः।।7।।

अन्वयः—अथ अत एव अशनानशनस्य। तत् उ सावयसः अषाढः अनशनमेव व्रतं मेने। देवा ह वै मनुष्यस्य मनो आजानन्ति, त एनं व्रतमुपयन्तं प्रातर्नो यक्ष्यत इत्येतद्विदुः। ते विश्वेदेवा अस्य गृहानागच्छन्ति ते अस्य गृहेषु उपवसन्ति स उपवसथः।।7।।

पदार्थः—**अथ** = इसके बाद, **अतः** = यहाँ से, **एव** = ही, **अशनानशनस्य** = खाने या न खाने का विचार करते हैं। **तत्** = उस विषय में, **उ** = प्रसिद्ध, **सावयसः** = सवयस के पुत्र, **अषाढः** = अषाढ नामक मुनि, **अनशनमेव** =

भोजन नहीं करने को ही, **व्रतं** = व्रत, **मेने** = मानते हैं। **देवाः** = देवगण, **ह** = निश्चित, **वै** = ही, **मनुष्यस्य** = मनुष्य के, **मनो** = मन को, **आजानन्ति** = भलीभाँति जानते हैं। **त** = वे देवगण, **एनम्** = इसको, **व्रतमुपयन्तं** = व्रत करने वाले यजमान को, **प्रातर्नो** = प्रातः (कल) हमारे लिए, **यक्ष्यत** = याग करेगा, **इति** = यह, **एतत्** = इस प्रकार, **विदुः** = जानते हैं। **ते** = वे, **विश्वेदेवाः** = विश्वेदेव गण, **अस्य** = इसके, **गृहान्** = घर में, **उपवसन्ति** = वास करते हैं, अर्थात् यजमान के निकट रहते हैं, **स** = वह दिन, **उपवसथः** = उपवसथ कहलाता है। अर्थात् देवताओं के समीप वास करने का दिन कहलाता है।।7।।

रेणु-व्याख्या–अब प्रसङ्गवश यहाँ याग के पूर्व दिवस में व्रतोपायन के उपरान्त यजमान के खाने या न खाने का विचार करते हैं। इस सन्दर्भ में सवयस ऋषि के पुत्र अषाढ़ नामक मुनि का मानना है कि व्रतग्रहण के बाद भोजन नहीं करना चाहिए। क्योंकि देवगण मनुष्य के मन की बात को भली भाँति समझते हैं कि कल यह मेरे लिए याग करेगा इसलिए याग के आरम्भ होने से एक दिन पूर्व विश्वेदेवगण उस यजमान के घर में आकर उसके निकट वास करते हैं। यजमान भी देवगणों को अपने पास उपस्थित समझता है इसलिए उस दिन को उपवसथ अर्थात् देवताओं के निकट वास का दिन मानता है, इसलिए याग का पूर्वदिवस उपवसथ नाम से जाना जाता है।।7।।

1.1.1.8. (स्त) तन्न्वेवानवक्लृप्तम्। यो मनुष्येष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयादुथ किमु यो देवेष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात्तस्मादु नैवाश्नीयात्।।8।।

ऋजुपाठः–तन्वेवानवक्लृप्म्-यो मनुष्येष्वनशनत्सु पूर्वोऽशनीयात्, अथ किमु-यो देवेष्वनश्नत्सु पूर्वोऽशनीयात्। तस्मादु नैवाश्नीयात्।।8।।

सा.भा.–अस्तु किं ततः? इति चेत्–**मनुष्येष्विति**। गृहे मनुष्येष्वागतेषु अनश्नत्सु 'यः' कश्चिद् यजमानः स्वयं पूर्वं भुञ्जीतेति यत् तदेवानुचितमिति वितर्कयामः। अथ यः कश्चिद् देवेष्वनशनत्सु पूर्वोऽशनीयादिति यत्, तस्यानवक्लृप्तिः किमु वक्तव्या? कैमुतिकन्यायफलमाह–**तस्माद्विति**। 'उ' इत्यसन्देहे तस्मादेव हेतोरशनवर्जनलक्षणेऽर्थे नास्ति सन्देह इत्यर्थः।।8।।

अन्वयः–तत् नु अनवक्लृप्तमेव। यो अनश्नत्सु मनुष्येषु पूर्वोऽश्नीयात् अथ किमु यो अनश्नत्सु देवेषु पूर्वोऽशनीयात् तस्मादु नैवाश्नीयात्।।8।।

पदार्थः–**तत्** = यह भोजन किया जाना, **नु** = निश्चय, **अनवक्लृप्तमेव** =

अनुचित ही होगा कि, **यो** = जो यजमान, **अनश्नत्सु** = बिना खाये, **मनुष्येषु** = आगन्तुक अतिथियों से, **पूर्वः** = पहले, **अश्नीयात्** = खाये, **अथ** = तथा, **किमु** = यह कि, **यो** = जो यजमान, **अनश्नत्सु** = बिना खाये, **देवेषु** = देवों से, **पूर्वः** = पहले, **अश्नीयात्** = खाये, **तस्मात्** = इसलिए, **उ** = ही, **नैवाश्नीयात्** = नहीं ही खाये।।8।।

रेणु-व्याख्या—लोक में भी यह प्रचलन है कि घर में आये हुए अतिथियों को पहले भोजन कराया जाता है, तत्पश्चात् घर के लोग भोजन करते हैं। उसी परम्परा का निर्वाह करते हुए अषाढ़ मुनि कहते हैं कि यज्ञ में आये हुए अतिथि मनुष्य को खिलाने से पहले यजमान को भोजन करना अनुचित होगा तथा यज्ञ में पधारे देवों को खिलाने से पहले भी यजमान द्वारा खाया जाना सर्वथा अनुचित ही होगा। इसलिए यजमान को अतिथियों एवं देवताओं को खिलाने से पहले स्वयं कुछ भी नहीं खाना चाहिए अर्थात् भूखा ही रहना चाहिए।।8।।

1.1.1.9. (त्त) तदु होवाच याज्ञवल्क्यः। (ल्क्यो) यदि नाश्नाति पितृदेवत्यो भवति यद्युऽअश्नाति देवानत्यश्नातीति स यदेवाशितमनशितन्तदश्नीयादिति यस्य वै हविर्न गृह्णन्ति तदशितमनशितꣳस यदश्नाति तेनापितृदेवत्यो भवति यद्यु तदश्नाति यस्य हविर्न गृह्णन्ति तेनो देवान्नात्यश्नाति।।9।।

ऋजुपाठः—तदु होवाच याज्ञवल्क्यः। यदि नाश्नाति-पितृदेवत्यो भवति, यद्यु अश्नाति-देवानत्यश्नाति, इति स यदेवाशितमनशितं तदश्नीयाद्—इति। यस्य वै हविर्न गृह्णन्ति तदशितम्—अनशितम्। स यदश्नाति-तेनापितृदेवत्यो भवति। यद्यु तदश्नाति-यस्य हविर्न गृह्णन्ति तेनो देवान् नात्यश्नाति।।9।।

सा॰भा॰—अषाढेन चेन्मुनिना निर्णीतोऽनशनपक्षः, तर्हि स एव परमार्थः; कथमशनानशनपक्षः? इति चेत्, अस्यापि मुनिनैव याज्ञवल्क्येन सोपपत्तितो निर्णीतत्वादित्याह—**तदु हेति**। 'तदु' तस्मिन्नप्यशनानशनपक्षे याज्ञवल्क्य उपपत्तिम् 'उवाच' आह। अशनानशनलक्षणस्वमतसमर्थनाय प्रत्येकपक्षौ दूषयति—**यदीति**। दैविके हि कर्मणि देवान् प्रत्युद्दिष्टस्यैव हविषः प्रथममनुपयोगः, काममन्यस्य; पित्र्ये पुनरतिनियमाद्धविषोऽन्यदप्यनुपयोज्यमिति पितृदेवत्यतामापादयतीति

याज्ञवल्क्यस्याशयः। तत्किं दैविके कर्मणि प्रागपि भोक्तव्यमिति यस्तमाशयमजानानः शङ्कते, तं प्रत्याह–**यद्यु** इति। 'यद्यु' यदि त्वश्नाति, तदा अशिशिषतो देवानतिक्रम्य स्वयं भुक्तवान् स्यात्। अशनानशनपक्षयोरुभयोरपि दोषश्चेत् का गतिः? इति तत्राह–**स यदिति**। यद् द्रव्यमशितमप्यनशितवद् भवति तदश्नीयात्। किं तदिति तदाह–**यस्येति**। 'यस्य' द्रव्यस्य संबन्ध्यन्नं "हविः" देवा न गृह्णन्ति तदशितमपि सदनशितवद् भवति। तथात्वे यथोदीरितदोषद्वयाभावमाह–**स यदिति**। अशनादेव न पितृदेवतात्वम्; अश्यमानस्य देवायोग्यत्वादेव न देवानामतिक्रमः।।9।।

अन्वयः–तदु ह याज्ञवल्क्यः उवाच। यदि नाश्नाति पितृदेवत्यो भवति यद्यु अश्नाति देवानत्यश्नाति स यदेव अशितम् अनशितं तत् अश्नीयात् इति। यस्य वै हविर्न वै गृह्णन्ति तदशितम् स यदश्नाति अनशितम् तेन अपितृदेवत्यो भवति यद्यु तदश्नाति यस्य हविर्न गृह्णन्ति तेनो देवान् अति नाश्नाति।।9।।

पदार्थः–**तदु** = इस विषय में, **ह** = प्रसिद्ध, **याज्ञवल्क्यः** = याज्ञवल्क्य मुनि, **उवाच** = बोले, **यदि** = यदि, **नाश्नाति** = नहीं खाता है तो, **पितृदेवत्यो** = पितृ देवता सम्बन्धी व्रत होता है। **यद्यु** = और यदि, **अश्नाति** = खाता है तो, **देवान्** = देवताओं को, **अति** = छोड़कर, **अश्नाति** = खाता है, **स** = वह, **यदेव** = जो भी पदार्थ, **अशितम्** = खाने पर भी, **अनशितम्** = नहीं खाने जैसा हो, **तत्** = वह वस्तु, **अश्नीयात्** = खाये, **इति** = ऐसा कहते हैं। **यस्य** = जिस वस्तु या द्रव्य को देवता, **वै** = ही, **हविः** = हवि के रूप में, **न** = नहीं, **गृह्णन्ति** = स्वीकार करते हैं, **तत्** = वह पदार्थ, **अशितम्** = खाया हुआ, **सः** = वह (यजमान), **यत्** = जो, **अश्नाति** = खाता है, **अनशितम्** = (इसलिए जो) नहीं खाया हुआ है, **तेन** = उससे, **अपितृदेवत्यः** = पितृदेवता से सम्बन्धित नहीं, **भवति** = होता है, **यदि** = यदि, **उ** = ही, **तत्** = उस पदार्थ को, **अश्नाति** = खाता है, **यस्य** = जिसकी, **हविः** = हवि, **न** = नहीं, **गृह्णन्ति** = ग्रहण करते है, **तेन** = उससे, **उ** = निश्चय, **देवान्** = देवताओं को, **अति** = अतिक्रमित कर, **न** = नहीं, **अश्नाति** = खाता है।।9।।

रेणु-व्याख्या–अषाढ़ मुनि के कथन कि व्रत में भोजन नहीं करना चाहिए इस पर वेद शास्त्र के मर्मज्ञ महर्षि याज्ञवल्क्य अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यदि यज्ञानुष्ठाता यजमान भूखा रहेगा तो वह कर्म देवसम्बन्धी न होकर पितृसम्बन्धी हो जाएगा और यदि कुछ खाता है तो देवताओं को तथा आगन्तुकों को अतिक्रमण कर खाता है अर्थात् उनको बिना खिलाये ही खाता है यह दोष उत्पन्न हो जाएगा। इस परिस्थिति में यजमान को कुछ ऐसा द्रव्य खाना चाहिए जो खाने पर भी नहीं खाने के जैसा हो। अब पुनः प्रश्न उठता है कि ऐसा द्रव्य

क्या है? तो उत्तर देते हैं कि जिस द्रव्य को देवगण हवि के रूप में ग्रहण नहीं करते हैं वैसा द्रव्य खाये ताकि देवताओं एवं आगन्तुकों को अतिक्रमित कर खाने का दोष भी नहीं होगा और कर्म पितृदेवत्य भी नहीं होगा।।9।।

[व्रते फलाहारविधानम्]

1.1.1.10. स वा ऽआरण्यमेवाश्नीयात्। (द्या) या वा ऽआरण्या ऽओषधयो यद्वा व्वृक्ष्यं तदु ह स्माहापि व्वर्कुर्व्वार्ष्णो माषान्मे पचत न वाऽएतेषाॅं हविर्गृह्णन्तीति तदु तथा न कुर्याद्व्रीहियवयोर्व्वा ऽएतदुपचं यच्छमीधान्यं तद्व्रीहियवावेवैतेन भूयाॅंसौ करोति तस्मादारण्यमेवाश्नीयात्।।10।।

ऋजुपाठः—स वा आरण्यमेवाश्नीयात्। या वा आरण्या ओषधयः, यद्वा वृक्ष्यम्। तदु ह स्माऽऽहापि वर्कुर्वार्ष्णः—'माषान्मे पचत, न वा एतेषां हविर्गृह्णन्तीति' तदु तथा न कुर्यात्। व्रीहियवयोर्वा एतदुपचम्—यच्छमीधान्यम्, तद् व्रीहियवावेवैतेन भूयांसौ करोति। तस्मादारण्यमेवाश्नीयात्।।10।।

सा.भा.—अथ किं तादृक् प्राश्यद्रव्यम्? इति तदाह—**स वा** इति। आरण्यग्रहणं प्रकृतदर्शपूर्णमासहविर्व्यतिरिक्तोपलक्षणम्। 'वृक्ष्यं' वृक्षोद्भवं फलम्। भुक्तोपलक्षणत्वे मुनिविशेषव्यवहारं प्रमाणयति—**तदु हेति**। वृषा नाम कश्चित्, तस्य पुत्रो 'वार्ष्णः' तस्य नाम 'वर्कुः' इति। मुनेर्मतमपवदति—**तदु तथेति**। तत्र हेतुः—**व्रीहियवयोरिति**। 'शमीधान्यं' तिलमाषादि। उपचिनोतीति 'उपचम्'। अल्पेनापि माषपिष्टेन मिश्रितं व्रीहिपिष्टं त्रिचतुरान् यामानपि स्थापितम् 'उपचितं' बहु भवति इति प्रसिद्धं तदाह—**व्रीहियवाविति**। अतो माषोपयोगे व्रीहियवावेव यत उपयुक्तौ स्याताम्, अतस्तथा न कुर्यात्। अतो युक्तमारण्यमेवाशनीयादिति। तदेवं व्यवस्थितं सकृदशनम्।।10।।

अन्वयः—स वा आरण्यम् एव अश्नीयात्। वा या आरण्या ओषधयो यद्वा वृक्ष्यं तदु ह स्म वर्कुर्वार्ष्ण आह माषान्मे पचत, न वा एतेषां हविर्गृह्णन्ति। तदु तथा न कुर्याद् व्रीहियवयोर्वा एतदुपचं, यच्छमीधान्यं तद् व्रीहियवौ एतेन भूयांसौ करोति तस्मात् आरण्यमेव अश्नीयात्।।10।।

पदार्थः—**सः** = वह (यज्ञानुष्ठाता यजमान), **वा** = अथवा, **आरण्यम्** = जंगल में उत्पन्न होने वाले जन्तु का, **एव** = ही, **अश्नीयात्** = भक्षण करें। **वा** = अथवा, **या** = जो, **आरण्या** = जंगल में उत्पन्न होने वाले, **ओषधयो**

= औषधियाँ (अन्न) हैं, **वा** = अथवा, **यद्** = जो, **वृक्ष्यं** = वृक्ष में उत्पन्न होने वाले वस्तु (फलादि) हैं, **तत्** = वे, **उ** = ही, **ह** = प्रसिद्ध, **स्मः** = हैं, भक्षण हेतु तो, **वर्कुर्वार्ष्णः** = वृषा के पुत्र वर्कु नामक मुनि, **आह** = कहते हैं, **माषान्मे** = मेरे लिए उड़द की दाल, **पचत** = पकाओ, **न** = नहीं, **वा** = ही, **एतेषां** = उड़द आदि वस्तुओं का, **हविर्गृह्णन्ति** = हवि देवगण ग्रहण करते हैं। **तदु** = इस बात पर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, **तथा** = ऐसा, **न** = नहीं, **कुर्यात्** = करना चाहिए, क्योंकि, **व्रीहियवयोः** = धान एवं जौ को, **वा** = ही, **एतत्** = यह उड़द, **उपचम्** = बढ़ाने वाला है। **यत्** = जो, **शमीधान्यम्** = शमी धान्य अर्थात् साँवा का चावल है, **तद्** = उसको, **व्रीहियवौ** = धान एवं जौ दोनों को, **एतेन** = इससे (उड़द से), **भूयांसौ** = मात्रावृद्धि, **करोति** = करता है, **तस्मात्** = इसलिए, **आरण्यमेव** = जंगली वस्तु ही, **अश्नीयात्** = खाये।।10।।

रेणुव्याख्या—पूर्व मन्त्र में कहा गया कि जिसको देवगण हवि रूप में ग्रहण नहीं करते हैं उस द्रव्य को व्रत में खाये। अब पुनः प्रश्न उठता है कि वह वस्तु क्या हो सकता है? इस पर विचार करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि या तो यजमान जंगल में उत्पन्न होने वाले वस्तु (फलादि) का भक्षण करे, अथवा जंगल में उत्पन्न होने वाली ओषधियाँ जिनको हल जोतकर बीजवपन कर उपजाया नहीं जाता ऐसे शमी सांवा के चावल आदि अथवा वृक्ष में लगने वाले फलादि (फल आदि) का भक्षण करे। वे वस्तु व्रत में भक्षण के लिए योग्य हैं। इस पर वृषा के पुत्र वार्ष्ण जिनका नाम वर्कु था उस मुनि ने कहा कि तो फिर मेरे लिए उड़द की दाल को पकाओ वह भी देवताओं को हवि के रूप में प्रदान नहीं किया जाता अर्थात् देवता उड़द को हविरूप में ग्रहण नहीं करते हैं। तो पुनः याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह जो उड़द है वह जौ एवं चावल में मिलकर उसकी मात्रा को बढ़ाता है, जो शमी धान्य है उसकी मात्रावृद्धि भी करता है। अतः मात्रावृद्धि के लिए प्रयुक्त होने के कारण उसका ग्रहण उपयुक्त नहीं होगा। इसलिए जंगली वस्तुओं को ही व्रतोपायन के बाद यजमान खाये।।10।।

[अग्न्यागारे दीक्षितस्य शयनविधानम्]

1.1.1.11. (त्स) स ऽआहवनीयागारे वैताᳬरात्रिᳬशयीत। गार्हपत्यागारे वा देवान्वा ऽएष ऽउपावर्त्तते यो व्रतमुपैति स

यानेवोपावर्त्तते तेषामेवैतन्मध्ये शेतेऽधः शयीताधस्तादिव हि श्रेयस ऽउपचारः॥11॥

ऋजुपाठः—स आहवनीयागारे वैतां रात्रिं शयीत, गार्हपत्यागारे वा। देवान् वा एष उपावर्तते—यो व्रतमुपैति। स यानेवोपावर्तते—तेषामेवैतन्मध्ये शेते। अधः शयीत। अधस्तादिव हि श्रेयस उपचारः॥11॥

सा. भा.—स आहवनीयेति। तां रात्रिमाहवनीयागारे गार्हपत्यागारे वा शयीत। तत्रैव शयने हेतुः—**देवान् वा** इति। 'उपावर्तते' समीपे शेते। 'अधः शयीत'। न पुनः खट्वाद्युपरि। यत उपरि स्थितं श्रेयांसमध एव स्थिता उपचरन्ति॥11॥

अन्वयः—स एतां रात्रिं आहवनीयागारे एव शयीत। वा गार्हपत्यागारे एष देवान् वा उपावर्तते यो व्रतमुपैति स यानेव उपावर्तते तेषामेव मध्ये एतत् अधः शेते। हि अधस्तात् शयीत इव श्रेयस उपचारः॥11॥

पदार्थः—सः = वह यजमान, **एतां** = इस पूर्वदिवस की, **रात्रिं** = रात को, **आहवनीयागारे** = आहवनीय अग्नि के गृह में, **शयीत** = शयन करे, **वा** = अथवा, **गार्हपत्यागारे** = गार्हपत्य अग्नि के गृह में शयन करे, **एष** = व्रतोपासक यजमान, **देवान्** =देवताओं के, **वा** = ही, **उपावर्तते** = निकट रहता है, **यो** = जो, **व्रतमुपैति** = व्रतोपायन करता है, **स** = वह, **यानेव** = जिन देवताओं के ही, **उपावर्तते** = निकट रहना चाहता है, **तेषामेव** = उनके ही, **मध्ये** = बीच, **एतत्** = भूमि पर (अर्थात् खाट पलंग आदि के बिना), **अधः** = नीचे, **शेते** = सोता है। **हि** = क्योंकि, **अधस्तात्** = नीचे की ओर, **शयीत इव** = सोता हुआ, **श्रेयस्** = श्रेष्ठ देवताओं की, **उपचारः** = सेवा सुश्रूषा आदि संभव हो सकती है॥11॥

रेणु-व्याख्या—यज्ञानुष्ठाता यजमान (उपवसथ याग के पूर्व दिवस) की रात्रि को आहवनीय अग्नि के गृह में अथवा गार्हपत्य अग्नि के गृह में शयन करे, क्योंकि वह व्रत की उपासना करने वाला यजमान उस दिन देवगणों के निकट ही रहता है। वह जिन देवताओं के समीप रहना चाहता है उनके बीच ही रात्रि विश्रामं करे। अब पुनः यह जिज्ञासा होती है कि वह कहाँ सोवे? तो कहते हैं कि नीचे शयन करे, क्योंकि जिसकी उपासना करता है वे महान् हैं श्रेष्ठ देवगण हैं, श्रेष्ठजनों की शय्या से उन्नत शय्या पर सोना शिष्टाचार के अनुरूप नहीं होता है। शिष्टाचार के महान् उपदेशक महाराज मनु ने गुरुशिष्य के आचार को बताते हुए कहा है कि—

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ। (मनु. 2/198)

अर्थात् गुरु के पास ब्रह्मचारी का आसन सर्वदा गुरु की अपेक्षा नीचा रहे। इस शिष्टाचार का पालन इस यजमान को करना है। क्योंकि **यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।** (श्वे.उप. 6/23) गुरु एवं देवता में समान बुद्धि रखनी चाहिए। अतः शिष्टाचार भी समान ही होगा। अत एव देवताओं की शय्या से ऊँची शय्या व्रतोपासक की नहीं होनी चाहिए। इसीलिए अधःशयन करने का नियम बताया गया है। क्योंकि श्रेष्ठ जनों से नीचे के आसन पर रहकर ही उनकी सेवा पूजा सम्भव हो सकती है। अतः भूशयन करे, खाट पलंग आदि उच्च स्थानों पर नहीं।।11।।

[अपां प्रणयनम्]

1.1.1.12 स वै प्रातरपऽएव। प्रथमेन कर्मणाभिपद्यतेऽपः प्रणयति यज्ञो वा ऽआपो यज्ञमेवैतत्प्रथमेन कर्मणाभिपद्यते ताः प्रणयति यज्ञमेवैतद्वितनोति।।12।।

ऋजुपाठः—स वै प्रातरप एव प्रथमेन कर्मणाभिपद्यते। अपः प्रणयति। यज्ञो वा आपः—यज्ञमेवैतत् प्रथमेन कर्मणाभिपद्यते। ताः प्रणयति–यज्ञमेवैतद् वितनोति।।12।।

सा.भा.—अथ प्रभातेऽध्वर्योः कर्तव्यतामाह—**स वा** इति। 'सः' प्रसिद्धोऽध्वर्युः प्रथमेन कर्मणाऽप एवाभिमुख्येन प्राप्नोति। किं तत्प्रथमं कर्म? तदाह–**अपः प्रणयतीति।** एतच्चापां प्रणयनम् "अथ संयौति" इति वक्ष्यमाणसंयवनार्थम्। अतः संयवनात् प्राक् प्रणीतानां नाशे पुनः प्रणयनं कार्यम्, कृते तु संयवने तन्नाशेऽपि प्रयोजनस्य जातत्वान्न पुनः प्रणेतव्यम्। ननु अन्तर्वेदि प्रणीता निनयति–इत्युपरितननिनयनार्थं पुनः कस्मान्न प्रणयनमिति चेत्, नः संयवनप्रसक्तौ तासामेवापां प्रतिपत्तिमात्रम्, अतो न तदपां प्रणयनस्य प्रयोजकम्; न हि चात्वाले प्राशनं कृष्णविषाणां प्रयुङ्क्ते। अथोभयं साधयतः प्रणयनस्य कथं संयवनमेव प्रयोजनम्, न तु अन्तर्वेदि निनयनमिति चेत् (न।) "पूर्णपात्रं निनयति" इति द्वितीययाऽपां संस्कारकर्मत्वप्रतीतेर्निनयनस्योपयुक्तसंस्कारतया प्राशनवत् प्रतिपत्तित्वात्। संयवने तु समानप्रकरणे शाखान्तरे "प्रणीताभिः (हवींषि) संयौति" (आप. श्रौ.सू. 1.24.3.) इति तृतीययाऽपां संववनं प्रति गुणत्वप्रतीतेः। अतः संयवनार्थमेव प्रणयनम्। उक्तं प्रणयनं प्रशंसति-**यज्ञो वा** इति। अपां यज्ञसाधनतया यज्ञरूपत्वात्तद्विस्तरात्मकस्य प्रणयनस्य यज्ञविस्ताररूपत्वात् प्राशस्त्यम्।।12।।

अन्वयः—स प्रातः वै अप एव प्रथमेन कर्मणा अभिपद्यते। अपः प्रणयति आपो वा यज्ञो यज्ञम् एव एतत् प्रथमेन कर्मणा अभिपद्यते, ताः प्रणयति यज्ञम् एव एतद् वितनोति।।12।।

पदार्थः–**सः** = वह (अध्वर्यु), **प्रातः** = दूसरे दिन प्रातः काल, **वै** = प्रसिद्ध, **अप** = जल को, **एव** = ही, **प्रथमेन** = प्राथमिक (प्रथमतया), **कर्मणा** = कर्म द्वारा, **अभिपद्यते** = जोड़ता है (सम्मुख करता है), **अपः** = जल का, **प्रणयति** = प्रणयन करता है, **आपो** = जल, **वा** = ही प्रसिद्ध, **यज्ञो** = यज्ञ है (जल के प्रणयन से), **यज्ञम्** = यज्ञ को, **एव** = ही, **एतत्** = इस, **प्रथमेन** = प्राथमिक, **कर्मणा** = कर्म द्वारा, **अभिपद्यते** = करते हैं (आगे लाता है), **ताः** = उन जलों का, **प्रणयति** = प्रणयन करता है, **यज्ञम्** = यज्ञ को, **एव** = ही, **एतत्** = इस कर्म द्वारा, **वितनोति** = फैलाता है (विस्तारित करता है।)।।12।।

रेणु-व्याख्या–वह अध्वर्यु उपवसथ के दूसरे दिन जब अनुष्ठान कार्य का आरम्भ करता है तो सर्वप्रथम जल का ही प्रयोग करता है। जल का प्रणयन करता है। क्योंकि जल ही यज्ञ है, इस प्रकार जल को सामने लाने (प्रथमतया प्रयुक्त करने) के कर्म द्वारा वह यज्ञ को ही आगे लाता है। अर्थात् जल के कर्म में प्रथम प्रयोग द्वारा यज्ञ का प्रथम प्रयोग करता है इस बुद्धि से वह (प्रणीतास्थ) जलों का प्रणयन करता है। वस्तुतः इस कर्म (अपां प्रणयन) द्वारा वह यज्ञ को विस्तारित कर रहा है, यह भाव व्यक्त होता है।

शतपथ ब्राह्मण का आरम्भ ही जल से आचमन रूप कर्म द्वारा होता है इससे यह स्पष्ट है कि जल यज्ञ का मुख्य अंग (तत्त्व) है, जल शोधक है, विष्णु की तरह सर्वव्यापक है, यज्ञ विष्णुस्वरूप है, अतः यज्ञ का आरम्भ जल से होना यज्ञ की सार्थकता को सिद्ध करने जैसा ही है। फलतः अध्वर्यु यागानुष्ठान के आरम्भ में सर्वप्रथम जल का ही प्रयोग करता है।।12।।

1.1.1.13. स प्रणयति। कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्तीत्येताभिरनिरुक्ता-भिर्व्याहृतिभिरनिरुक्तो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तत्प्रजापतिमेवैतद् यज्ञं युनक्ति।।13।।

ऋजुपाठः–स प्रणयति। **"कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति."** (यजु–1/6) इति–एताभिरनिरुक्ताभिर्व्याहृतिभिः। अनिरुक्तो वै प्रजापतिः, प्रजापतिर्यज्ञः–तत्प्रजापतिमेवैतद् यज्ञं युनक्ति।।13।।

सा.भा.–उक्तं प्रणयनमनूद्य कस्त्वेति व्याहृतिचतुष्टयात्मकं मन्त्रं विधत्ते–**स प्रणयतीति**। हे प्रणीतोदक! को नाम त्वां यज्ञेन 'युनक्ति' योक्तुं समर्थः? यः समर्थः

'सः' युनक्ति। "कस्मै" त्वा प्रयोजनाय युनक्ति? यस्मै युनक्ति, तस्मै युनक्ति। योजने कर्ता प्रयोजनं च दुर्ज्ञातमित्यर्थः व्याह्रियन्त इति व्याहृतयो मन्त्राः, दुर्ज्ञानत्वाभिधानादनिश्चित्य वचनाच्च 'अनिरुक्ताः'। व्याहृतिविशेषणस्यानिरुक्तत्वस्य प्रयोजनमाह–**अनिरुक्तो वा** इति। अनिर्ज्ञातो हि पदार्थः क इति पर्यनुयुज्यते। अतोऽसावनिरुक्तः प्रजापतिश्च 'कः' इत्युच्यते। "को ह वै नाम प्रजापतिः" (तै.ब्रा. 2.2.10) इति श्रुतिः। अतः श्रुतिसाम्यात् प्रजापतेरनिरुक्तत्वम्। अथवा वाचकमन्त्रोच्चारणमन्तरेण मनसैव प्रजापतेर्होमादपि प्रजापतिरनिरुक्तः। "यत्तूष्णीं तत्प्राजाप्रत्यं स मनसा जुहोति, मन इव हि प्रजापतिः" (तै.सं. 6.6.10.3) इति श्रुतेः। अस्त्वनिरुक्तः प्रजापतिः, प्रस्तुते किमायातमित्यत आह–**प्रजापतिर्यज्ञ** इति। "प्रजापतिर्यज्ञमसृजत" (तै.ब्रा. 1.7.1.4) इति यज्ञस्त्रष्टृत्वश्रुतेः कार्यस्य कारणादभेदात्। तथा "एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्तः" (तै.सं. 1.6.11.1) इति सप्तदशसमुदायात्मकस्य प्रजापतेः सकलयज्ञानुगमश्रुतेः। अनुगच्छत श्च सामान्यादेर्लोके न पृथग् अनुगन्तव्यः। व्यक्तावभिमानदर्शनात्। यस्मात् प्रजापतिर्यज्ञः, अतोऽनिरुक्ताभिर्व्याहृतिभिः प्रणयनादनिरुक्तप्रजापत्यात्मकतया निरुक्तं यज्ञमेव 'युनक्ति' प्रारभत इत्यर्थः।।13।।

अन्वयः–स प्रणयति (प्रणयनकाले) कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति इति (अनेन मन्त्रेण) एताभिः अनिरुक्ताभिः व्याहृतिभिः (व्याहृति चतुष्टयात्मकैः मन्त्रैः प्रणयति) अनिरुक्तो वै प्रजापतिः, प्रजापतिः यज्ञः तत् (तेन प्रणयनेन) एतत् यज्ञं प्रजापतिम् एव युनक्ति।।13।।

पदार्थः–**सः** = वह (अध्वर्यु), **प्रणयति** = (जल का) प्रणयन करता है। **कः** = कौन, **त्वा** = तुम्हें, **युनक्ति** = जोड़ता है, **सः** = वह, प्रजापति, **त्वा** = तुम्हें, **युनक्ति** = जोड़ता है, **कस्मै** = किसलिए, **त्वा** = तुम्हें, **युनक्ति** = जोड़ता है, **तस्मै** = उसके लिए, **त्वा** = तुम्हें, **युनक्ति** = जोड़ता है, **इति** = इस प्रकार, **एताभिः** = इनसे, **अनिरुक्ताभिः** = किसी देवता के नामोच्चारण के बिना, **व्यहृतिभिः** = व्याहृतियों से (व्याहृति चतुष्टयात्मक मन्त्रों से) प्रणयन करता है। **अनिरुक्त**= अस्पष्ट, (नामनिर्देशरहित), **वै** = ही, **प्रजापतिः** = प्रजापति है। **प्रजापतिः** = वह प्रजापति ही, **यज्ञः** = यज्ञ है, **तत्** = उस (अपां प्रणयन) कर्म द्वारा, **एतत्** = इस, **यज्ञं** = यज्ञ को, **प्रजापतिम्** = प्रजापति को, **एव** = से ही, **युनक्ति** = जोड़ता है, अर्थात् प्रजापति एवं यज्ञ में ऐक्यभाव उत्पन्न करता है।।13।।

रेणुव्याख्या–वह अध्वर्यु प्रणयन करता है। प्रणयन शब्द का अर्थ लाना, ले जाना, पहुँचाना इत्यादि है, तदनुसार यज्ञ स्थल तक जल को पहुँचाता है। (प्र

+ नी + ल्युट् = प्रणयनम्)। प्रणयन करता हुआ चार अनिरुक्त व्याहृति के वाक्यों से जल को यज्ञ से जोड़ता है। यथा–(कस्त्वा युनक्ति) कौन तुम्हें यज्ञ से जोड़ता है? (स त्वा युनक्ति) वह प्रजापति तुम्हें जोड़ता है, (कस्मै त्वा युनक्ति) किस प्रयोजन से तुम्हें जोड़ता है? (तस्मै त्वा युनक्ति) उस यज्ञ रूप प्रजापति के लिए तुम्हें जोड़ता है। चूँकि श्रौतशास्त्रों में "अनिरुक्त उ वै प्रजापतिः" (कौ. 23.2.6, तां ब्र. 7.8.3., शां.आ. 2.1) कहकर प्रजापति का स्वरूप अनिरुक्त (अस्पष्ट निवर्चन वाला अर्थात् रहस्यमय) बताया गया है। वह प्रजापति ही यज्ञ है। इस प्रकार जल प्रणयन कर्मद्वारा यज्ञ एवं प्रजापति को परस्पर जोड़ता है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रजापति एवं यज्ञ इन दोनों की योजना में जल ही मुख्य साधन है। जल के बिना यह योजन सम्भव नहीं क्योंकि जल मेध्य = पवित्र (यज्ञ की योग्यता प्रदान करता) है। अतः यज्ञ में सर्वप्रथम जल का ही प्रणयन किया जाता है।।13।।

1.1.1.14. यद्वेवापः प्रणयति। (त्य) अद्भिर्वा ऽइदꣳ सर्वमाप्तन्तत्प्रथमेनैवैतत्कर्मणा सर्वमाप्नोति।।14।।

ऋजुपाठः–यद्वेवापः प्रणयति। अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्। तत्प्रथमेनैवैतत्कर्मणा सर्वमाप्नोति।।14।।

सा.भा.–प्रशब्दोपात्तप्रकर्षसूचितप्राथम्यद्वारा प्रणयनं प्रागस्तावीत्–**यज्ञो वा** इति। तच्च नयतिपदोपात्तप्रापणात्मकविस्तारद्वारत इति 'अथापः'–इत्यस्यावयवार्थपर्यालोचनयापि द्विधा स्तौति–**यद्वेवेति**। अनियोग एवकारः। न नियोगेन प्रागुक्तरीत्या स्तुतिः, किं त्वेवमप्यस्तीत्यर्थः। आप्नुवन्ति सकलं जगदित्यापः। तादृशामपां प्रणयनात् प्रथममेव सर्वमाप्तं स्यादित्यपि प्रशस्तं तत्प्रणयनमित्यर्थः।।14।।

अन्वयः–यत् उ एव अपः प्रणयति अद्भिः वा इदं सर्वम् आप्तं तत् प्रथमेन कर्मणा एव एतत् सर्वम् आप्नोति।।14।।

पदार्थः–**यत्** (वह) जो, **उ** = निश्चित रूप से, **एव** = ही, **आपः** = जल का, **प्रणयति** = प्रणयन करता है, **अद्भिः** = जलों से, **वा** = ही, **इदं** = यह, **सर्वम्** = सब कुछ, **आप्तम्** = प्राप्त (होता है), **तत्** = इसलिए, **प्रथमेन** = सबसे पहले किए जाने वाले, **कर्मणा** = कर्म से, **एव** = ही, **एतत्** = यह, **सर्वम्** = सब कुछ, **आप्नोति** = प्राप्त करता है।।14।।

रेणु-व्याख्या–प्रणयन शब्द का अर्थ पहले भी प्र उपसर्ग पूर्वक नीप्रापणे धातु से प्रकर्षरूप से प्राप्ति के अर्थ में किया गया है। उसी अर्थ के अनुरूप

व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह जो जल का प्रणयन करता है, इस जल से ही यह समस्त संसार व्याप्त है इसलिए जलप्रणयन रूप सर्वप्रथम क्रियमाण कर्म से यह यजमान सब कुछ अर्थात् इस समस्त सृष्टि को प्राप्त करता है।।14।।

1.1.1.15 यद्वेवास्यात्र। होता वाध्वर्युर्वा ब्रह्मा वाग्नीध्रो वा स्वयं वा यजमानो नाभ्यापयति तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तम्भवति।।15।।

ऋजुपाठः–यद्वेवास्यात्र होता वा अध्वर्युर्वा ब्रह्मा वा अग्नीध्रो वा स्वयं वा यजमानो नाभ्यापयति–तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तं भवति।।15।।

सा.भा.–अथवाऽस्य कर्मणो यदेवाङ्गं प्रापयितव्यमध्वर्य्वादयः प्रमादान्न प्रापयन्ति, तद्वैकल्यमुदकाचमनप्रोक्षणादिना परिहरन्त आपयन्ति, अतोऽप्याप इति तत्प्रणयनं प्रशस्तम्।।15।।

अन्वयः–अत्र अस्य यत् एव उ होता वा अध्वर्युः वा ब्रह्मा वा अग्नीध्रो वा स्वयं वा यजमानो न अभ्यापयति। अस्य एतेन एव तत् सर्वम् आप्तं भवति।।15।।

पदार्थः–**अत्र** = इस कर्म में, **अस्य** = प्रवृत्त कर्म का, **यत्** = जो (फल), **एव** = ही, **उ** = निश्चित रूप से, **होता** = होता नामक ऋत्विक्, **वा** = और, **अध्वर्युः** = अध्वर्यु नामक ऋत्विक्, **वा** = और, **ब्रह्मा** = ब्रह्मा, **वा** = अथवा, **अग्नीध्रो** = आग्नीध्र नामक ऋत्विक्, **वा** = अथवा, **स्वयं** = अपने आप, **वा** = भी, **यजमानः** = यज्ञानुष्ठाता, **न** = नहीं, **अभ्यापयति** = भली भाँति (सर्वतो भावेन) प्राप्त करता है, **तत्** = वह (यज्ञफल), **एव** = ही, **एतेन** = इस (जलप्रणयनरूप कर्म) से, **अस्य** = यजमान का, **सर्वम्** = वह समस्त फल, **आप्तम्** = प्राप्त, **भवति** = हो जाता है।।15।।

रेणु-व्याख्या–यज्ञानुष्ठान में जो भी कर्मफल होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा आग्नीध्र अथवा स्वयं यजमान भी भलीभाँति प्राप्त नहीं कर पाता वह फल क्रियमाण इस जल के प्रणयन रूप कर्म से निश्चित रूप से ही प्राप्त कर लेता है। अर्थात् वह यज्ञफल जो सबसे अनुपलब्ध सा रह जाता है वह यजमान का समस्त वांछित फल इस कर्म से प्राप्त हो जाता है इसलिए अपां प्रणयन कर्म आवश्यकतया करता है।।15।।

[अपां प्रणयनस्य द्वितीयं कारणम्]

1.1.1.16. यद्वेवापः प्रणयति। देवान् ह वै यज्ञेन यजमानाँस्तानसुररक्षसानि ररक्षुर्न्न यक्ष्यध्व ऽइति तद्यदरक्षँस्तस्माद्रक्षाꣳसि॥16॥

ऋजुपाठः—यद्वेवापः प्रणयति। देवान् ह वै यज्ञेन यजमानांस्तानसुररक्षसानि ररक्षुः—'न यक्ष्यध्व' इति। तद् यदरक्षन् तस्माद्रक्षांसि॥16॥

सा.भा.—न केवलमवयवार्थपर्यालोचनया, उदकप्रभावपर्यालोचनयापि प्राशस्त्यं वक्तुमारभते—**देवान् हेति**। असुराश्च रक्षांसि च 'असुररक्षसानि'। "अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि" (पा.सू. 5.4.103.) इत्यसन्तत्वात् समासान्तः। 'न यक्ष्यध्व इति' यष्टुं न लभध्वं यूयमिति वदन्तो 'ररक्षुः' प्रतिबन्धयेयुरित्यर्थः॥16॥

अन्वयः—यत् उ एव अपः प्रणयति यज्ञेन यजमानान् तान् देवान् असुररक्षसानि न यक्ष्यध्व इति ह वै ररक्षुः। तत् यत् अरक्षन् तस्मात् रक्षांसि॥16॥

पदार्थः—**यत्** = (यह) जो, **उ** = निश्चितरूप से, **एव** = ही, **अपः** = जल का, **प्रणयति** = प्रणयन करता है, **यज्ञेन** = यज्ञ के द्वारा, **यजमानान्** = यजन करने वाले, **तान्** = उन, **देवान्** = देवों को, **असुररक्षसानि** = असुर राक्षसों ने, **न** = नहीं, **यक्ष्यध्व** = यजन करोगे, **इति** = ऐसा कहकर, **ह** = उस प्रसिद्ध कर्म से, **वै** = निश्चितरूपेण ही, **ररक्षुः** = रोक दिया, **तत्** = उस कर्म से, **यत्** = जो, **अरक्षन्** = रोक दिया, **तस्मात्** = इसलिए, **रक्षांसि** = राक्षस कहलाते हैं॥16॥

रेणु-व्याख्याः—अब योगीश्वर याज्ञवल्क्य अपां प्रणयन के द्वितीय हेतु बताते हुए एक ऐतिहासिक घटना का स्मरण कराते हुए कहते हैं कि—यह जो यज्ञों में सर्वप्रथम जल का प्रणयन निश्चित रूप से करते ही हैं, इसका दूसरा कारण है कि एकबार स्वर्गस्थ देवगण यज्ञानुष्ठान का आचरण कर रहे थे तब यज्ञों द्वारा यजन करने वाले उन देवताओं को असुर राक्षसों ने 'यज्ञ मत करो' ऐसा कहकर उस प्रसिद्ध यज्ञकर्म करने से निश्चित रूपेण रोक दिया। उस कर्म से जो रोक दिया इसलिए वे राक्षस अर्थात् 'रोकू' कहलाते हैं॥16॥

[अपां वज्रत्वे हेतुः]

1.1.1.17. ततो देवा ऽएतं व्वज्रन्ददृशुः। (र्यं) यदपो व्वज्रो वा ऽआपो व्वज्रो हि वा ऽआपस्तस्माद् येनैता यन्ति निम्नङ्कुर्व्वन्ति यत्रोपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति तत्त ऽएतं

व्वज्रमुदयच्छँस्तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञमतन्वत तथोऽएवैषऽएतं व्वज्रमुद्यच्छन्ति तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञन्तनुते तस्मादपः प्रणयति॥17॥

ऋजुपाठः—ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः-यदपः। वज्रो वा आपः। वज्रो हि वा आपस्तस्माद् येनैता यन्ति, निम्नं कुर्वन्ति; यत्रोपतिष्ठन्ते, निर्दहन्ति। तत एतं वज्रमुदयच्छन्। तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञमतन्वत। तथो एवैष एतं वज्रमुद्यच्छन्ति। तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञं तनुते। तस्मादपः प्रणयति॥17॥

सा.भा.—ततो देवा इति। इत्थं प्रतिबद्धा देवाः 'एतम्' अब्लक्षणं वज्रं ददृशुः। अपां वज्रत्वं 'ता एता आपो वज्री भूत्वा' (तै.ब्रा. 1.7.1.6.7) इत्यादि श्रुत्यन्तरे प्रसिद्धम्। तदाह–वज्रो वा इति। न केवलं प्रसिद्धिबलाद्वज्रत्वम्, उपपत्तिबलाच्चेत्याह–वज्रो हीति। उपपत्तेः प्रसिद्धिं वैशब्द आह। तां प्रसिद्धामुपपत्तिं दर्शयति–तस्मादिति। यस्मादापो वज्रः, तस्मादेता आपः 'येन' पथा गच्छन्ति, तं पन्थानं 'निम्नं' गर्तं कुर्वन्ति। गत्वा वा 'यत्र' तृणगुल्मादावुपतिष्ठन्ते, तत् 'निर्दहन्ति' निःसारं कुर्वन्ति। ते देवाः 'एतम्' उदकलक्षणं वज्रम् 'उदयच्छन्' उक्तप्रकारप्रणयनात्मकमुद्यमनं तस्य कृतवन्त इत्यर्थः। 'तस्य' वज्रस्य सम्बन्धिनि 'अभये' तेन वज्रेण परिहृतभये 'अनाष्ट्रे' नाशयन्तीति नाष्ट्राण्यसुररक्षसानि–तद्रहिते 'निवाते' तत्संस्पृष्टेन वातेनापि रहिते, स्थाने। यथा देवाः कृतवन्तः, तथैवैषामध्वर्युः॥१७॥

अन्वयः—ततः देवाः यत् अपः एतं वज्रं ददृशुः, आपो वै वज्रः, हि आपो वै वज्रः तस्मात् येन एता यन्ति निम्नं कुर्वन्ति, यत्र उपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति ततः एतं वज्रं उदयच्छन् अभये अनाष्ट्रे निवाते तस्य यज्ञम् अतन्वत तथा एव एष एतं वज्रं उ उद्यच्छन्ति अभये अनाष्ट्रे निवाते तस्य यज्ञं तनुते तस्मात् अपः प्रणयति॥17॥

पदार्थः—**ततः** = उसके बाद, **देवाः** = देवताओं ने, **यत्** = जो, **अपः** = जल है, **एतं** = इसको, **वज्रं** = वज्रभाव से, **ददृशुः** = देखा, **आप** = जल, **वै** = निश्चितरूपेण, **वज्रः** = वज्रस्वरूप है, **हि** = क्योंकि, **अपः** = जल, **वै** = निश्चित रूपेण, **वज्रः** = वज्रभावापन्न है, **तस्मात्** = इसलिए, **येन** = जिस (मार्ग) से, **एता** = ये (जल), **यन्ति** = जाते हैं, **निम्नं** = (उस मार्ग को) नीचा (गढ्ढा), **कुर्वन्ति** = बना देते हैं, और, **यत्र** = जहाँ, **उपतिष्ठन्ते** = रुक जाते हैं (ठहरते हैं), **निर्दहन्ति** = उसे जला (गला) देते हैं, **ततः** = तब, **एतम्** = इस, **वज्रं** = वज्र को, **उदयच्छन्** = (देवों ने) उठाते हुए, **अभये** = भयरहित, **अनाष्ट्रे** = नाशकारी आसुर भाव से रहित, **निवाते** = वायु आदि के प्रकोप से रहित शान्त स्थान पर, **तस्य**

= उस (यजमान) के, **यज्ञं** = यज्ञ को, **अतन्वत** = विस्तृत किया, **तथा** = उसी प्रकार, **एव** = ही, **एष** = यह, **एतं** = इस, **वज्रं** = जल रूप वज्र को, **उ** = निश्चितरूपेण, **उद्यच्छन्ति** = उठाते हैं। (ऐसा कर) **अभये** = भय रहित, **अनाष्ट्रे** = आसुर भाव से रहित, **निवाते** = शान्त स्थल में, **तस्य** = उस (यजमान) के, **यज्ञं** = यज्ञ को, **तनुते** = विस्तृत करते हैं, **तस्मात्** = इसलिए, **अपः** = जल का, **प्रणयति** = प्रणयन किया जाता है।।17।।

रेणु-व्याख्या–राक्षसों द्वारा जब देवताओं को यज्ञ करने से रोका गया तब देवताओं ने अपां प्रणयन कर्म में प्रयुक्त होने वाला जो जल है उसी को वज्रभाव से देखा, उन्होंने विचार किया कि जल निश्चित रूप से वज्र है। क्योंकि जिस प्रकार वज्र बड़े-बड़े पर्वतादियों को तोड़कर धराशायी कर देता है तथा सारपदार्थ लोहे आदि को भी भस्मसात् कर देता है उसी प्रकार यह जल भी पर्वत शिखरों से निकलते हुए जिस मार्ग से जाता है उस मार्ग को नीचा (गढ्ढा) कर देता है इसलिए आज भी नदियाँ समुद्र आदि जमीन पर गढ्ढे जैसी आकृति बना कर स्थित हैं। हम देखते हैं कि वर्षा के दिनों में खेत खलिहान के छोटे-छोटे गढ्ढों में जल भर जाते हैं। पुनः जब तीक्ष्ण धूप आती है तो जल गर्म हो जाता है और उन गढ्ढों में पहले से विद्यमान घास तृण इत्यादि गल जाते हैं। कुछ दिनों में गढ्ढे का पानी भी काला हो जाता है।

यहाँ यह विचार किया जाता है कि उपनिषदों में सृष्टिक्रम की बात जहाँ कही गई है वहाँ "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः सकाशादाकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी" (तै. उप. 2/3) इत्यादि वाक्य कहे गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जल की उत्पत्ति अग्नि से हुई है। अर्थात् जल में आग्नेय स्वभाव जन्मजात संस्कार की तरह माता-पिता से सम्प्राप्त शक्ति के रूप में विद्यमान है। यह तोड़-फोड़ करने की शक्ति तथा किसी वस्तु को जलाने की शक्ति अग्नि में स्वतः विद्यमान होती है। आज भी पर्वतों को तोड़ने के लिए डाइनामाइट का प्रयोग किया जाता है, यह डायनामाइट अग्नि के मूल भाव से ही निर्मित होता है अतः आग्नेय पदार्थ है। इससे सिद्ध हुआ कि जल में सूक्ष्म भाव से अग्नि अवस्थित है फलतः जिस मार्ग से जाते हैं उसे नीचा कर देते हैं तथा जहाँ रुक जाते हैं वहाँ के पदार्थों को भस्मसात् कर देते हैं।

तब इस वज्र रूप जल को देवताओं ने प्रणयन करने हेतु हाथ से उठाते हुए भयरहित, विनाशकारी आसुर भावरहित तथा वायु आदि के प्रकोप से रहित शान्त स्थान पर उस यजमान के यज्ञ को विस्तृत किया। जिस प्रकार देवताओं ने जल को

वज्ररूप में प्रणयन (स्वीकार) किया। उसी प्रकार यह मनुष्यादि भी इस जलरूप वज्र को निश्चित रूप से प्रणयन हेतु उठाते हैं। ऐसा कर भयरहित आसुर भाव रहित शान्त स्थान में उस यजमान के यज्ञ को विस्तृत करते हैं। इसलिए जल का प्रणयन किया जाता है।।17।।

1.1.1.18. ता ऽउत्सिच्योत्तरेण गार्हपत्यᳫं सादयति योषा वा ऽआपो व्वृषाग्निर्गृहा वै गार्हपत्यस्तद् गृहेष्वेवैतन्मिथुनम्प्रजननं क्रियते व्वज्रं व्वा ऽएष ऽउद्यच्छति यो ऽपः प्रणयति यो वा ऽअप्रतिष्ठितो व्वज्रमुद्यच्छति नैन ᳫं शक्नोत्युद्यन्तुᳫं स ᳫं हैन ᳫं शृणाति।।18।।

ऋजुपाठः–ता उत्सिच्योत्तरेण गार्हपत्यं सादयति। योषा वा आपः, वृषाग्निः। गृहा वै गार्हपत्यः। तद् गृहेष्वेवैतन्मिथुनं प्रजननं क्रियते। वज्रं वा एष उद्यच्छति–योऽपः प्रणयति। यो वा अप्रतिष्ठितो वज्रमुद्यच्छति–नैनं शक्नोत्युद्यन्तुम्, सं हैनं श्रृणाति।।18।।

सा.भा.–प्रणयनप्रकारमाह–**ता उत्सिच्येति**। चमसादिपात्रस्योपारि सिक्त्वा पूरयित्वा। न पुनस्तेन पात्रेण कुतश्चिज्जलाशयादुद्धृत्य। गार्हपत्यस्योत्तरभागे स्थापयेत्। आपस्तम्बस्तु स्थापितपात्रस्य समन्त्रकं पूरणमाह, इह ब्राह्मणे पूरितस्य स्थापनम्। अतस्तथैवोक्तं कात्यायनेन–"गार्हपत्यमुत्तरेणोदपात्रं निधाय" (श्रौ.सू. 2.3.1.) इति।। अवश्यं प्राङ्नेतव्यानामपां किं गार्हपत्यस्योत्तरदेशे स्थापनेनेत्याशङ्क्य तत्प्रयोजनकथनेन स्तौति–**योषा वा आप** इति। अप्शब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात्। **वृषेति**। अग्निशब्दस्य पुँल्लिङ्गत्वात्। "गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः" (पा.सू. 4.4.90.) इत्यग्निविशेषो गार्हपत्यः। तदावास इह लक्षणया गार्हपत्य उच्यते। अत एव तस्य गृहत्वमुक्तम्–गृहा वै गार्हपत्यः–इति। उदपात्रस्थापनं प्रयोजनान्तरेण स्तौति–**वज्रं वा** इति। अप्रतिष्ठितः असंबद्धः। **नैनमिति**। तमेनमशक्तम्, अनुद्यन्तारं 'संशृणाति' हिनस्ति। "शॄ हिंसायाम्" (क्र्या.प. 16) "प्वादीनां ह्रस्वः" (पा.सू. 7.3.80) अतो हिंसापरिहाराय स्वयं संनद्ध एवोद्यच्छेत।।18।।

अन्वय–उत्सिच्य गार्हपत्यम् उत्तरेण ता सादयति। आपो वा योषा अग्निः वृषा, गार्हपत्यो वै गृहा, तद् एतत् मिथुनं गृहेष्वेव प्रजननं क्रियते। यः अपः प्रणयति एष वज्रं वा उद्यच्छति, यो वा अप्रतिष्ठितो वज्रम् उद्यच्छति एनं उद्यन्तुं न शक्नोति, एनं ह संशृणाति।।18।।

पदार्थः–**उत्सिच्य** = (प्रणीतापात्र) उठाकर चमसादि पात्रों पर जल छिड़ककर, **गार्हपत्यं** = गार्हपत्य खर के, **उत्तरेण** = उत्तर भाग में, **ता** = उन प्रणयन कर्म

में प्रयुक्त वज्ररूप जलों को, **सादयति** = रखता है। **आपः** = जल, **वा** = निश्चयरूप से ही, **योषा** = स्त्री है, **अग्निः** = अग्नि, **वृषा** = सेचन समर्थ पुरुष है, **गार्हपत्यः** = गार्हपत्य खर, **वै** = निश्चय ही, **गृहा** = घर है, **तत्** = इस प्रकार, **एतत्** = यह, **मिथुन** = जोड़ा (अग्नि एवं जल दोनों मिलकर), **गृहेष्वेव** = घरों में ही, **प्रजननं** = सन्तानोत्पादनादि कर्म, **क्रियते** = किया करते हैं, **यः** = जो यजमान, **अपः** = जल का, **प्रणयति** = प्रणयन करता है, **एषः** = वह, **वज्रं** = वज्र को, **वा** = ही, **उद्यच्छति** =उठाता है, **यो** = जो, **वा** = भी, **अप्रतिष्ठितो** = सुदृढ़ हुए बिना, **वज्रम्** = वज्र को, **उद्यच्छति** = उठाता है, **एनं** = इस वज्र को, **उद्यन्तुं** = उठाने में, **न** = नहीं, **शक्नोति** = समर्थ हो सकता है, **एनं** = (वह वज्र) इसको (उठानेवालों को), **ह** = निश्चय, **संशृणाति** = हानि पहुँचाता है।।18।।

रेणु-व्याख्या–प्रणयन कर्म में प्रयुक्तं प्रणीता पात्रस्थ उन वज्ररूप जलों को उठाकर चमसादि पात्रों पर छिड़ककर गार्हपत्य खर के उत्तर भाग में रखता है। अब यहाँ यह विचार करते हैं कि प्रणीता के जल को अग्नि के उत्तर में क्यों रखते हैं? तो याज्ञवल्क्य तर्क देते हैं कि जल निश्चय ही स्त्री है चूँकि आपः शब्द 'आप्-लृ-व्याप्तौ' (स्वा. 15) (पा. धा. 1260) धातु से 'आप्नोतेर्ह्रस्वश्च' (उणा. 2/59) सूत्र से क्विप् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। तथा अमरकोषकार द्वारा वारिवर्ग में "आपः स्त्री भूम्नि" (अमर-वारिवर्ग-श्लोक-3) पाठ किए जाने से आपः शब्द का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग एवं नित्य बहुवचन में किया जाता है। शतपथकार ने जल को योषा (स्त्री) कहा है। यह कथन सब प्रकार से सटीक है। अग्नि पुरुष है। लोक में भी स्त्री को पुरुष का वामाङ्गी कहा जाता है। यह शास्त्र सिद्ध है। "वामाङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके" तथा **सीतासमारोपितवामभागे** इत्यादि स्तोत्रों में देवों के वामभाग में देवियों के सुशोभित होने की बात स्पष्ट संकेत करता है कि स्त्री-पुरुष के वामाङ्ग की अधिष्ठात्री है। उत्तर शब्द वामभाग के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह भी एकदम तर्कपूर्ण है। यागानुष्ठान के समय अध्वर्यु पूर्वाभिमुख होकर समस्त कर्म सम्पादित करता है तो जब मुख पूर्व में होगा तो दाहिना भाग दक्षिण में एवं वायाँ भाग उत्तर में ही होता है। अतः उत्तर से वामभाग का सीधा तात्पर्यार्थ घटित होता है। यहाँ भी गार्हपत्य खर में अवस्थित पुरुष रूप अग्नि के उत्तर अर्थात् वामभाग में आपः (स्त्री) का स्थापन विहित है। यह जो गार्हपत्य खर है निश्चितरूप से घर ही है, इस प्रकार यह जोड़ा (स्त्री एवं पुरुष) अर्थात् जल एवं अग्नि मिलकर घरों में ही सन्तानोत्पादनादि कर्म किया करते हैं। जो यजमान यज्ञों में जलका प्रणयन करता

है वह वज्र को ही उठा रहा है। अतः वज्र उठाने वाले (वज्र का संधान करने वाले) को चाहिए कि वह पहले स्वयं सुदृढ़ हो जाए, स्वयं सुदृढ़ हुए बिना (असावधान रहकर) वज्र का संधान करने वाले व्यक्ति की क्षति (हानि) हो सकती है।

ऐसा लोक में देखा जाता है कि राइफल चलाने वाले सिपाही पहले स्वयं सावधान (सुदृढ़) होकर पूरी शक्ति से राइफल को उठाकर उसका प्रयोग करता है। वस्तुतः राइफल से जब गोली निकलती है तो जितनी तेजी से गोली मुखच्छिद्र से बाहर निकलती है उतनी ही तेजी से राइफल का पिस्टल भी पीछे की ओर भागता है। अत एव सिपाही राइफल के पिस्टल को अपने कन्धे से अड़ाकर राइफल के घोड़े को दबाता है, ऐसा नहीं करने पर सिपाही क्षतिग्रस्त हो सकता है।

इसलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह आपः (स्त्री) वज्र है, इसके साथ प्रणयन (विवाह) से पूर्व पुरुष को प्रतिष्ठित (सुदृढ़) हो जाना चाहिए, अन्यथा हानि होगी। यह समाज के लोगों के लिए एक चेतावनी भी है।

तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य स्वयं प्रतिष्ठित (सुदृढ़) हुए बिना इस वज्ररूप जल का प्रणयन करता है अथवा उठाता है तो वह ऐसा करने में समर्थ नहीं हो सकता है। अपितु वह वज्र, इस उठाने वाले को निश्चय ही हानि पहुँचाता है।।18।।

[अपां सादनोपपादनम्]

1.1.1.19 स यद्गार्हपत्ये सादयति। गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैतत्प्रतिष्ठायाम्प्रतितिष्ठति तथो हैनमेष व्वज्रो न हिनस्ति तस्माद्गार्हपत्ये सादयति।।19।।

ऋजुपाठः–स यद् गार्हपत्ये सादयति। गृहा वै गार्हपत्यः, गृहा वै प्रतिष्ठा, तद् गृहेष्वेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति। तथो हैनमेष वज्रो न हिनस्ति। तस्माद् गार्हपत्ये सादयति।।19।।

सा.भा.–उद्यन्तुः प्रतिष्ठामुक्त्वा उद्यन्तव्यस्यापि प्रतिष्ठामाह–**स यदिति। गृहा वै प्रतिष्ठेति।** कोशे स्थापितस्यासेरिव वातादिस्पर्शविरहात्तैक्ष्ण्यस्याविनाशो वज्रस्य प्रतिष्ठा। तीक्ष्णीभूतः स वज्रः स्वप्रयोक्तुरभिमतफलनिष्पादनात् तद्विरहदुःखात्मिकां हिंसामस्य न करोतीत्याह–**तथो हेति।** गार्हपत्योपश्लिष्टे तदुत्तरभागे। 'वटे गावः सुशेरते' इतिवदौपश्लेषिकाधिकरणे सप्तमी।।19।।

अन्वयः–सः यद् गार्हपत्ये सादयति गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद् गृहेषु प्रतिष्ठायाम् एव एतत् प्रतितिष्ठति तथा ह एव वज्रः एवं न हिनस्ति तस्माद् गार्हपत्ये सादयति।।19।।

पदार्थः–**सः** = वह (अध्वर्यु), **यत्** = जो, **गार्हपत्ये** = गार्हपत्य देश में, **सादयति** = (प्रणीता पात्र को) रखता है, **गृहा** = घर, **वै** = ही, **गार्हपत्यः** = गार्हपत्य है, **गृहा** = घर, **वै** = ही, **प्रतिष्ठा** = ठहरने का उचित एवं सुरक्षित स्थान है; **तत्** = इसलिए, **गृहेषु** = घरों में, **प्रतिष्ठायाम्** = रहने के सुरक्षित स्थान में, **एव** = ही, **एतत्** = इस प्रणीतास्थ जल को, **प्रतितिष्ठति** = स्थापित करता है, **तथो** = ऐसा करने से, **ह** = निश्चय, **एष** = यह, **वज्रः** = वज्ररूप जल, **एनं** = इस यजमान को, **न** = नहीं, **हिनस्ति** = हिंसित करता है (मारता है), **तस्मात्** = इसलिए, **गार्हपत्ये** = गार्हपत्य स्थान में (गार्हपत्य के समीप), **सादयति** = रखता है।।19।।

रेणु-व्याख्या–वह जो अध्वर्यु गार्हपत्य देश में प्रणीता पात्रस्थ जल को रखता है इस विषय में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि घर ही रहने का सुरक्षित एवं उचित स्थान है इसलिए घर को ही प्रतिष्ठा कहा गया है। और यह गार्हपत्य गृहपति यजमान का घर है। जैसा कि श्रुति कहती है–"मनुष्याणां गार्हपत्यः" (मै. 1.4. 10, तै.सं. 1.6.7.1) तथा यजमानदेवत्यो वै गार्हपत्यः (माश 2.3.2.6) अर्थात् मनुष्य का स्थान गार्हपत्य है तथा गार्हपत्य का देवता यजमान है। यही गार्हपत्य सभी अग्नियों का मूलस्थान है "गार्हपत्यो वै अग्नेर्योनिः (तै.ब्रा. 1.4.7.4), पञ्चतन्त्र में "न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारादतिरिच्यते।" (पंचतन्त्र 4/81) तदनुसार अग्नि की गृहिणी आपः का देश गार्हपत्य ही उचित है। अतः गार्हपत्य देश में ही इस प्रणीता पात्रस्थ जल को स्थापित करता है। ऐसा करने से निश्चय यह वज्ररूप जल यजमान की हिंसा नहीं करता है। इसलिए गार्हपत्य देश में रखता है।।19।।

1.1.1.20 ता ऽउत्तरेणाहवनीयम्प्रणयति। योषा वाऽआपो व्वृषाग्निर्मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियतऽएवमिव हि मिथुनं क्लृप्तमुत्तरतो हि स्त्री पुमाꣳसमुपशेते।।20।।

ऋजुपाठः–ता उत्तरेणाहवनीयं प्रणयति। योषा वा आपः, वृषाग्निः–मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते एवमिव हि मिथुनं क्लृप्तम्–उत्तरतो हि स्त्री पुमांसमुपशेते।।20।।

सा.भा.–सादितानामपां प्रणयनमाह–**ता उत्तरेणेति।** आहवनीयस्य संनिहितोत्तरभागे 'प्रणयति' नीत्वा सादयति। "एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः" (पा.सू. 5.3.35)–इत्यनेन 'एनप्'। "एनपा द्वितीया" (पा.सू. 2.3.31)–इति षष्ठ्यर्थे द्वितीया। अपामग्नेश्च मिथुनतामुपपादयति–**एवमिव हि मिथुनं क्लृप्तमिति।**।20।।

अन्वयः—आहवनीयम् उत्तरेण ताःप्रणयति। योषा वा आपो वृषा अग्निः एतत् मिथुनमेव प्रजननं क्रियते। हि एवं मिथुनम् इव क्लृप्तम्। हि पुमांसम् उप उत्तरतः स्त्री शेते।।20।।

पदार्थः—आहवनीयम् = आहवनीय खर के, **उत्तरेण** = उत्तर में, **ताः** = उन जलों को, **प्रणयति** = लाकर रखता है (प्रणयन करता है)। **योषाः** = स्त्री, वा = ही, **आपः** = जल (है), **वृषा** = पुरुष, **अग्निः** = अग्नि (है), **एतत्** = इन दोनों के, **मिथुनमेव** = मिलने से ही, **प्रजननं** = सन्तानोत्पादनादि कर्म, **क्रियते** = किया जाता है। **हि** = क्योंकि, **एवम्** = इस प्रकार, **मिथुनम्** = दोनों (जल एवं अग्नि/स्त्री–पुरुष का) जोड़ा, **इव** = जैसा, **क्लृप्तम्** = युक्त (है)। **हि** = क्योंकि, **पुमांसम्** = पुरुष के, **उप** = समीप, **उत्तरत** = उत्तर भाग में (उत्तर की ओर), **स्त्री** = स्त्री, **शेते** = सोती है।।20।।

रेणु-व्याख्या—अध्वर्यु उन जलों को आहवनीय खर के उत्तर भाग में लाकर रखता है। अब प्रश्न उठता है कि उत्तर में ही जल को क्यों रखता है? तो इसका उत्तर देते हैं कि जल स्त्री है और अग्नि पुरुष है, इन दोनों (स्त्री पुरुषों) के मिलने से ही सन्तानोत्पादनादि कर्म सम्पादित किया जाता है। क्योंकि इस प्रकार दोनों जोड़ा (स्त्रीपुरुष/जल–अग्नि) की तरह युक्त होता है चूँकि पुरुष के पास उत्तर भाग में स्त्री सोती है। उत्तर से यहाँ तात्पर्य वाईं ओर है। इसके विषय में 18वें मन्त्र की व्याख्या में पर्याप्त प्रमाण उपस्थित किए गए हैं, उसे यहाँ भी समझें।।20।।

1.1.1.21 ता नान्तरेण सञ्चरेयुः। (नें) नेन्मिथुनञ्चर्यमाणमन्तरेण सञ्चरानिति ता नातिहृत्य सादयेन्नोऽअनाप्ताः सादयेत्स यदतिहृत्य सादयेदुस्ति वाऽअग्नेश्चापाश्च विभ्रातृव्यमिव स यथेव ह तदग्नेर्भवति यत्रास्याप ऽउपस्पृशन्त्यग्नौ हाधि भ्रातृव्यं व्वर्द्धयेद्यदतिहृत्य सादयेद्यद्युऽअनाप्ताः सादयेन्नो हाभिस्तङ्कामम्भ्यापयेद्यस्मै कामाय प्रणीयन्ते तस्मादुसम्प्रत्येवोत्तरेणाहवनीयम्प्रणयति।।21।।

ऋजुपाठः—ता नान्तरेण संचरेयुः—नेन्मिथुनं चर्यमाणमन्तरेण संचरानिति। ता नातिहृत्य सादयेत्, नो अनाप्ताः सादयेत्। स यदतिहृत्य सादयेत्—अस्ति वा अग्नेश्चापां च विभ्रातृव्यमिव। स यथेव ह तदग्नेर्भवति यत्रास्याप उपस्पृशन्ति,

अग्नौ हाधि भ्रातृव्यं वर्द्धयेत्—यदतिहृत्य सादयेत्। यद्यु अनाप्ताः सादयेत्—नो हाऽऽभिस्तं काममभ्यापयेद्—यस्मै कामाय प्रणीयन्ते। तस्मादु संप्रत्येवोत्तरेणाहवनीयं प्रणयति।।21।।

सा.भा.—ता नान्तरेणेति। अन्तरेणेति बलादग्निमिति लभ्यते। तासामपामग्नेश्च मध्ये न संचरेयुरित्यर्थः तत्र कारणमाह-**नेदिति**। नेदिति परिभये। "अथापि नेत्येष इदित्येतेन संप्रयुज्यते परिभये" (1.3.6) इति हि निरुक्तम्। संचारे हि चर्यमाणं मिथुनमन्तरेण परस्परं संगतयोः स्त्रीपुंसयोर्मध्ये संचारान्मिथुनविच्छेदलक्षणा भीतिः 'संचरान्' संचरेयुरिति। हेतुहेतुमद्भावरूपे लिङर्थे 'लेट्'। झेरन्तादेशः, "इतश्च लोपः" (पा.सू. 3.4.97) इतीकारलोपे संयोगान्तलोपः, तस्यासिद्धत्वान्नलोपाभावः।। साक्षादुत्तरभागे आहवनीयप्रणयनं विवक्षितमिति दर्शयितुं ततः प्राक् प्रत्यगासादनं निषेधति—**ता नातिहृत्येति**। 'अतिहृत्य' उत्तरभागमतीत्य प्राग्भागे। 'अनाप्ताः' उत्तरभागमप्राप्ताः, प्रत्यगपि नासादयेत्। तदतिहरणपक्षमनुवदति—**स यदिति**।। तत्र दोषं वक्तुमुपोद्घातमाह—**अस्ति वा** इति। "व्यन्त्सपत्ने" (पा.सू. 4.1.145) इति स्मृतेः 'भ्रातृव्यः' शत्रुः, तस्य भावो भ्रातृव्यं शात्रवम्, युवादित्वाद् भावेऽण्। विशिष्टं भ्रातृव्यम्। अग्नेरपां च परस्परविनाशकत्वान्महदस्ति वैरमित्यर्थः। अस्तु, किं तत इत्याह—**स यथेवेति**। 'तत्' अद्भिः सह महद्वैरमग्नेर्यथा 'भवति' स्वकार्यनिर्वापणरूपमुपद्रवं कर्तुं प्रभवति, तथा 'सः' अतिहरन्नध्वर्युः कुर्यादित्यर्थः। तथाऽकरणे का हानिः? तत्राह—**यत्रेति**। 'यत्र' कर्मणि 'अस्य' प्रणयनपात्रस्य संबन्धिनीरप 'उपस्पृशन्ति' ऋत्विग्यजमानाः। तत्रोपस्पर्शनमग्नौ 'भ्रातृव्यम्' शत्रुमुदकलक्षणम् 'वर्धयेत्' उत्तेयजेत्। अतिहरणस्य वैरकरणसंबन्धार्थः प्रथमोऽनुवादः, चरमस्तु भ्रातृव्यवर्द्धनसमर्थनार्थ इत्यपौनरुक्त्यम्।। अतिहरणपक्षे दोष उक्तः। अनाप्तिपक्षे दोषमाह—**यद्यु** इति। स्वसमयेऽप्राप्तत्वात् तासामपां कामप्रापकत्वं दूरापास्तमित्यर्थः। इत्थं तमुपोद्घातमुक्त्वौपोद्घातिकमाह—**तस्मादिति**। 'संप्रत्येव' सम्यगुत्तरभाग एव, न पुरतो न पश्चात्। अत उक्तं कात्यायनेन—"उत्तरेणाहवनीयꣳसंप्रति निदधाति" (श्रौ.सू. 2.3.3) इति ।।21।।

अन्वयः—ता अन्तरेण न सञ्चरेयुः। मिथुनं चर्यमाणम् इत् अन्तरेण न सञ्चरान् इति, ता अतिहृत्य न सादयेत् न उ अनाप्ताः सादयेत्, यत् स अतिहृत्य सादयेत् अग्नेश्च अपाञ्च वा विभ्रातृव्यमिव अस्ति, स यथा ह भवति तत् अग्नेः इव, यत्र अस्य आपः उपस्पृश्य अग्नौ ह भ्रातृव्यम् अधिवर्द्धयेत्, यत् अतिहृत्य सादयेत् यदि अनाप्ताः उ सादयेत् यस्मै कामाय प्रणीयन्ते आभिः तं कामं ह न उ अभ्यापयेत् तस्मात् सम्प्रत्येव आहवनीयम् उत्तरेण उ प्रणयति।।21।।

पदार्थः—ता = उस (अग्नि और जल) के, **अन्तरेण** = बीच से, **न** = नहीं, **सञ्चरेयुः** = आवागमन करें। **मिथुनं** = जोड़ा के रूप में, **चर्यमाणं** = रहते हुए, **इत्** = इनके, **अन्तरेण** = बीच से, **न** = नहीं, **सञ्चरान्** = सञ्चरण

करे (आवागमन करे), **इति** = ऐसा प्रसिद्ध है। **ता** = उन जलों को, **अतिहृत्य** = अत्यन्त निकट लाकर, **न** = नहीं, **सादयेत्** = रखे और, **न** = नहीं, **उ** = ही, **अनाप्ताः** = पहुँच के बाहर (अति दूर), **सादयेत्** = रखे, **यत्** = जो, **स** = वह अध्वर्यु, **अतिहृत्य** = अत्यन्त निकट, **सादयेत्** = रखे, **अग्नेश्च** = अग्नि का और, **अपाश्च** = जल का (आपस में), **वा** = निश्चित रूप से, **विभ्रातृव्यम्** = विशिष्ट शत्रुभाव, **इव** = के जैसा सम्बन्ध, **अस्ति** = है, **सः** = वह (भाव), **यथा** = जिस प्रकार, **ह** = निश्चय, **भवति** = होता है, **तत्** = वह (शत्रुभाव), **अग्नेः** = अग्नि का, **इव** = जैसा (हो जाता) है। **यत्र** = जहाँ, **अस्य** = इस प्रणयण पात्र के, **आपः** = जल, **उपस्पृशन्ति** = स्पर्श करते हैं, **अग्नौ** = अग्नि में, **ह** = निश्चय, **भ्रातृव्यम्** = शत्रुभाव (विनाशकभाव) को, **अधिवर्द्धयेत्** = अधिक बढ़ा देता है, **यत्** = यदि, **अतिहृत्य** = अत्यन्त निकट, **सादयेत्** = रखे, **यदि** = यदि, **अनाप्ताः** = पहुँच से परे (अति दूर), **उ** = ही, **सादयेत्** = रखे, तो **यस्मै** = जिसके लिए, **कामाय** = इच्छा पूर्ति हेतु, **प्रणीयन्ते** = जलों के प्रणयन किये जाते हैं (जलों को रखे जाते हैं), **आभिः** = इन जलों से, **तं** = उस, **कामम्** = कामना को (इच्छा को), **ह** = निश्चय, **न** = नहीं, **उ** = ही, **अभ्यापयेत्** = प्राप्त कर सकेगा, **तस्मात्** = इसलिए, **सम्प्रत्येव** = (ठीक-ठीक) उचित दूरी पर ही, **आहवनीयम्** = आवनीय खर के, **उत्तरेण** = उत्तर में, **उ** = ही, **प्रणयति** = प्रणयन करता है (लाकर रखता है)।।21।।

रेणु-व्याख्या–आहवनीयाग्नि एवं उसके उत्तर (वायीं ओर) रखे प्रणीतापात्रस्थ जल के बीच से किसी को भी आवागमन नहीं करना चाहिए। इसका हेतु स्पष्ट करते हुए शतपथकार कहते हैं कि किसी भी स्त्री पुरुष के जोड़े जहाँ स्थित हों उस बीच में तीसरे को नहीं जाना चाहिए "द्वाभ्यां तृतीयो न भवानि राजन्।" यह तो सामान्य उपदेश है कि दो के बीच तीसरे को नहीं पड़ना चाहिए किन्तु यहाँ प्रणयन द्वारा आपस में ऐक्य भाव को लिए हुए जोड़े के बीच तीसरे का टपकना तो लोक एवं वेद अर्थात् शास्त्र दोनों के अनुसार निषिद्ध किंवा निन्द्य माना गया है। इसका एक निदर्शन कुमारसम्भव में देखने को मिलता है।

"तदाकृतिं कामपि वीक्ष्य दिव्यामन्तर्भवश्छद्मविहंगमग्निम्।
विचिन्तयन्संविविदे स देवो भ्रूभङ्गभीमश्च रुषा बभूव।।"

(कु.सं. 9/5)

शिव पार्वती के प्रेमालाप के मध्य अग्निदेव कबूतर बनकर आ जाते हैं जिससे भगवान् शिव अत्यन्त क्रोधित हो जाते हैं। इसी तरह किसी भी दो जोड़े के मध्य तीसरे का आगमन कोपकारक ही होता है। अतः उन दोनों के मध्य अन्य का आवागमन यहाँ निषिद्ध है। अध्वर्यु जब प्रणीतास्थ जलों को स्थापित करे तब यह अवश्य ध्यान रखे कि न ही अग्नि के अत्यन्त समीप लाकर रखे और न ही अतिदूर। क्योंकि अग्नि और जल का आपस में शत्रुभाव भी है। अग्नि जल को शोषित करता है तथा जल अग्नि को शान्त कर देता है। अतः अत्यन्त समीप रखने से जल का शत्रुभाव अग्नि के प्रति अधिक बढ़ सकता है जिससे हानि होने की संभावना रहेगी तथा दूर रखने से जोड़े द्वारा प्रजनादि क्रिया में बाधा उत्पन्न होगी, अतः अति दूर भी नहीं रखनी चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से जिस इच्छा की पूर्ति हेतु अपांप्रणयन किया जा रहा है वह निश्चित रूप से प्राप्त नहीं होगी। इसलिए उचित दूरी पर ही आहवनीय के उत्तर भाग में प्रणयन करता है, यह निर्देश दिया गया है।

उक्त विधि को मानव के दैनन्दिन में भी समझना चाहिए। एक ही घर में पति पत्नी दोनों के रहते हुए भी न तो अत्यन्त सामीप्य होना चाहिए और न ही अत्यन्त दूरी क्योंकि आयुर्वेदशास्त्र में शतायु जीवन प्राप्त करने के लिए जो सिद्धान्त दिया गया है वह इस प्रकार है–

वामशायी द्विभुञ्जानः षण्मूत्री द्विपुरीषकः।
स्वल्पमैथुनकारी च शतवर्षाणि जीवति।।

(चरक सं. 1.44)

यहाँ 'स्वल्पमैथुनकारी' शब्द विशेष ध्यातव्य है, यदि स्त्री पुरुष अधिक समीप रहें तो इस कार्य में आधिक्य स्वाभाविक ही होगा जो उनके जीवन को क्षतिग्रस्त कर देगा अतः नियन्त्रण में रहने के लिए उचित दूरी परमावश्यक है।।21।।

[पात्रासादनम्]

1.1.1.22. (त्य) अथ तृणैः परिस्तृणाति। द्वन्द्वम्पात्राण्युदाहरति शूर्पञ्चाग्निहोत्रहवणीञ्च स्फ्यञ्च कपालानि च शम्याञ्च कृष्णाजिनञ्चोलूखलमुसले दृषदुपले तद्दश दशाक्षरा वै विराड्विराड् वै यज्ञस्तद्विराजमेवैत-

द्यज्ञमभिसम्पादयत्यथ यद्द्वन्द्वं द्वन्द्वं वै व्वीर्य्यं यदा वै द्वौ सꣳरभेते ऽअथ तद्वीर्य्यम्भवति द्वन्द्वं वै मिथुनम्प्रजननम्मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते।।22।।

इति प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके प्रथमाध्याये वा प्रथमं ब्राह्मणम्।

ऋजुपाठः—अथ तृणैः परिस्तृणाति। द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति—शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं च। स्फ्यं च कपालानि च। शम्यां च कृष्णाजिनं च। उलूखलमुसले। दृषदुपले। तद्दश। दशाक्षरा वै विराट्। विराड् वै यज्ञः। तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसंपादयति। अथ यद् द्वन्द्वम्। द्वन्द्वं वै वीर्यम्। यदा वै द्वौ संरभेते—अथ तद्वीर्यं भवति। द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननम्। मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते।।22।।

सा.भा.—प्रणीताप्रणयनानन्तरं परिस्तरणं पात्रासादनं चाह—**अथ तृणैरित्यादि**। 'द्वन्द्वं' द्वे द्वे। "द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु" (पा.सू. 8.1.15) इति निपातितम्। पात्रपदं यज्ञनिर्वर्तकानां स्फ्यादीनामप्युपलक्षकम्। अर्थतः प्राप्तां संख्यामनूद्य प्रशंसति—**तद्दशेति**। तस्मिन् प्रयोग एवं परिगणने कृते दश संपद्यन्ते। विराजश्छन्दसोऽक्षरेषु दशत्वमस्ति। प्रथमश्च यज्ञो ज्योतिष्टोमः। "एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः" (तै.सं. 7.4.10.11) इति श्रुतेः। तत्र च नवत्युत्तरशतसंख्याकाः स्तोत्रियाः। तास्वेकोनविंशतिसंख्यया विभज्यमानासु दश लभ्यन्त इत्यस्ति तत्रापि दश संख्या। अतो दशसंख्यायोगाद् विराड्यज्ञयोरेकत्वादिह दशसंख्यासंपत्त्या विराडात्मको यज्ञ एव साकल्येन संपादितो भवति। एवं दशत्वं स्तुत्वा द्विशः प्रयोगमनूद्य स्तौति—**अथ यदिति**। 'संरभेते' 'रभ राभस्ये' (भ्वा. आ. 999.) राभस्यं कार्योपक्रमः, किमपि कार्यं कर्तुमुपक्रमेते।।22।।

इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथभाष्ये प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्।।1।।1।।

अन्वयः—अथ तृणैः परिस्तृणाति। शूर्पञ्च अग्निहोत्रहवणीञ्च स्फ्यञ्च कपालानि च शम्याञ्च कृष्णाजिनञ्च उलूखलमुसले दृषदुपले तद्दश पात्राणि द्वन्द्वं उदाहरति। दशाक्षरा वै विराड् विराड् वै यज्ञः तद् विराजम् एतद्यज्ञ एव अभि सम्पादयति। अथ यद् द्वन्द्वं द्वन्द्वं वै वीर्यम्, यदा वै द्वौ संरभेते अथ तद्वीर्यं भवति द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननं, मिथुनम् एव एतत् प्रजननं क्रियते।।22।।

पदार्थः—अथ = (अपां प्रणयन कर्म सम्पन्न हुआ) इसके बाद, **तृणैः** = कुशाओं से, **परिस्तृणाति** = चारों ओर ढँकने के लिए परिस्तरण (बिछाता) करता है। **शूर्पश्च** = सूप और, **अग्निहोत्रहवणीश्च** = अग्निहोत्रहवणी, **स्पयञ्च** = स्फ्य और, **कपालानि च** = कपाल, **शम्याश्च** = शम्या और,

कृष्णाजिनश्च = कृष्णमृगचर्म, **उलूखलमुसले** = ऊखल एवं मुसल ये दोनों, **दृषदुपले** = **दृषद्** (शिला) एवं उपल (बट्टा) दोनों, **तत्** = इन, **दश** = दस (संख्या के), **पात्राणि** = पात्रों को, **द्वन्द्वं** = युग्म (जोड़े) रूप में, **उदाहरति** = लाकर रखता है। **दशाक्षरा** = दस अक्षरों वाला, **वै** = ही, **विराट्** = विराट् छन्द होता है, और, **विराड्** = विराट् छन्द, **वै** = ही, **यज्ञः** = यज्ञ है, **तत्** = उस, **विराजम्** = विराट् स्वरूप, **एतत्** = इस , **यज्ञम्** = यज्ञ को, **एव** = ही, **अभिसम्पादयति** = सर्वतोभावेन सम्पन्न करता है। **अथ** = तदनन्तर (और), **यद्** = जो, **द्वन्द्वं** = जोड़े (पात्र) को रखता है, वह **द्वन्द्वं** = जोड़ा, **वै** = ही, **वीर्यम्** = शक्ति है। **यदा** = जब, **वै** = भी, **द्वौ** = दो (युगल स्त्री एवं पुरुष) **संरभेते** = परस्पर सम्यक् उद्योग (कार्य) करते हैं, **अथ** = तो, **वै** = भी, **तद्** = वह कार्य, **वीर्यम्** = शक्ति को, **भवति** = उत्पन्न करने वाला (बढ़ाने वाला)होता है। **द्वन्द्वं** = जोड़ा, **वै** = ही, **मिथुनं** = मिलकर, **प्रजननम्** = कुछ विशिष्ट उत्पादन के योग्य बनते हैं। (क्योंकि) **मिथुनम्** = मिले हुए जोड़े, **एव** = ही, **एतत्** = इस, **प्रजननं** = प्रजोत्पत्ति रूप सृष्टि कार्य को, **क्रियते** = करने में समर्थ होते हैं।।22।।

रेणु-व्याख्या–अपां प्राणयन कर्म सम्पन्न होने के बाद अब परिस्तरण एवं पात्रासादन के विधान को बताते हुए शतपथकार कहते हैं कि अध्वर्यु वेदी पर पात्रों को रखने से पूर्व कुशाओं को बिछाता है पात्रासादन से पूर्व परिस्तरण जो वेदविहित है वह लोक-व्यवहार में भी प्रचलित है। जब कोई अतिथि आते हैं तो पहले उनके उपवेशनार्थ हम आसन की व्यवस्था करते हैं, भोजनादि के लिए पात्रों को बाद में लाते हैं। पात्रों को रखने के लिए भी जहाँ भोजनपात्र रखेंगे उस स्थान को पहले संस्कारित करते हैं तत्पश्चात् पात्र रखते हैं। लोकव्यवहारानुसार यहाँ भी पात्रासादन से पहले परिस्तरण विहित है।

परिस्तरण के लिए तृण का प्रयोग किया गया है, तृण शब्द द्वारा यहाँ कुश अभिप्रेत है। कुशाओं को वेदी पर चारों तरफ बिछाता है। परिस्तरण के बाद पात्रासादन हेतु नियम कहते हैं कि यह दर्शपूर्णमास याग सृष्टि संबंधी याग है, सृष्टि कर्म सम्पादित करने के लिए जोड़े का बहुत ही महत्त्व है। अतः देवताद्वन्द्व के रूप में अग्नि एवं जल को पहले के मन्त्रों में बताया गया है। उसी प्रकार पात्रों में भी द्वन्द्वात्मक स्वरूप प्रकट करते हुए कहते हैं कि यज्ञपात्रों में भी कुछ स्त्रीलिंग एवं कुछ पुँल्लिंगात्मक हैं, उनको जोड़े के रूप में स्थापित किया जाना चाहिए। उसका निर्देश करते हुए शूर्प एवं अग्निहोत्रहवणी, स्फ्य एवं कपाल,

शम्या एवं कृष्णाजिन, ऊखल एवं मुसल तथा सिल एवं बट्टा, ये दस पात्र आपस में स्त्री पुरुष हैं इनका युग्म रूप में आसादन करे। चूँकि विराड् ही यज्ञ है, और विराट् छन्द में दस अक्षर के चरण होते हैं। अतः दस पात्रों का युग्मरूप में स्थापन विहित किया गया है।

अब पुनः पात्रों को युग्म रूप से स्थापन क्यों करते हैं? तो शतपथकार कहते हैं कि दो (युग्म) में शक्ति होती है। जब दो परस्पर सहयोग की भावना से काम करते हैं तो वह काम सुदृढ़ होता है। अकेले चना भांड़ नहीं फोरता "नैको शक्तो भवति चणको त्रोटितुं भाण्डमत्र" इस लोकोक्ति के अनुसार दो से ही प्रजोत्पत्ति होती है। इस प्रकार यज्ञको अपूर्वोत्पादन (प्रजननशील) बनाने के लिए युग्म रूप में पात्रों को रखने का विधान बताया गया है।।22।।

इस प्रकार माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण के प्रथमाध्याय के
प्रथम ब्राह्मण की रेणु हिन्दी व्याख्या सम्पन्न हुई।।

प्रथमकाण्डे प्रथमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

[हविर्निर्वापविधिः]

1.1.2.1. अथ शूर्पञ्चाग्निहोत्रहवणीञ्चादत्ते। कर्म्मणे वां व्वेषाय वामिति यज्ञो वै कर्म यज्ञाय हि तस्मादाह कर्मणे वामिति व्वेषाय वामिति व्वेवेष्टीव हि यज्ञम्।।1।।

ऋजुपाठः–अथ शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं चादत्ते–"**कर्म्मणे वां वेषाय वाम्**" (1 अ. 6 मं.) इति। यज्ञो वै कर्म्म, यज्ञाय हि। तस्मादाह–कर्मणे वामिति, वेषाय वामिति; वेवेष्टीव हि यज्ञम्।।1।।

सा.भा.–पात्रासादनानन्तरं कर्तव्यमाह–**अथ शूर्पमिति**। एतच्चादानं हविर्निर्वापार्थम्। वामिति मन्त्रगतद्विवचनलिङ्गादुभे सहादीयेते। अत एव सूत्रे–"शूर्पाग्निहोत्रहवण्यादाय" (श्रौ..सू. 2.3.10.) इति। इतरेतरयोगद्वन्द्वः। **यज्ञो वा** इत्यादि। यज्ञाय हि तदादानम्; अतः कर्मशब्दः कर्ममात्रपरोऽपि तद्विशेषं यज्ञमेव ब्रूते। इज्यतेऽनेनेति 'यज्ञः' हविः; तदिह निर्वापकाले व्रीहिरूपम्। तदनिग्होत्रहवण्या शूर्पे निर्वपन् वेवेष्टीव परिवेषणं करोतीव, यथान्नं दर्व्या भोजनपात्रे। अतो वेषाय वामित्युक्तम्। वेवेष्टीत्यत्र परिरूपोपसर्गो लुप्तो निर्दिष्टः। "विष्लृ व्याप्तौ" (जु.उ. 13) "निजां त्रयाणां गुणः श्लौ" (पा.सू. 4.4.75.) इत्यभ्यासस्य गुणः। **अथ शूर्पमित्यथशब्दादनुष्ठेयपदार्थपौर्वापर्यलक्षणं क्रममाहुः**। अतस्तद्विशिष्टाः पदार्था विधीयन्ते। ननु चैष चेदनुष्ठेयलक्षणः क्रमः, स च सर्वेषु पदार्थेष्वेक एव, नैकैकपदार्थग इति तद्विशेषणतया तद्विधिभिः कथं विधातुं शक्यते? तर्हि संघातविशेषणतया तद्विधानेनैव विधीयतामिति चेत्, न संघातस्याविधेयत्वात्, तस्य चैकत्वेन नियमेनानेकपदार्थाश्रितस्य क्रमस्यासम्भवात्। नैष दोषः। यथा संयोगादय एकैकवस्तुन्यपर्यवसिता अपि वस्त्वन्तरमपेक्ष्यैकत्रापि पर्यवस्यन्तस्तद्विशेषणतया तद्विधिभिर्विधीयन्ते, तद्वत् क्रमोपि किं न विधीयते? न च शब्देनानभिधानादविधानमिति मन्तव्यम्। प्राकृतोपकारवदनभिहितस्यापि वैतत्यलक्षणक्रमस्यार्थाद्बुद्धावुपस्थितस्य विधिसम्भवात्। न चावश्यं वैतत्यलक्षण एव क्रमः; अस्ति ह्यसावानुपूर्व्यलक्षणोऽपि।

तथा च यथा–अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयतीति 'क्त्वा' प्रत्ययेनाभिहित: पौर्वापर्यलक्षण: क्रम एवार्थविशेषणतया विधीयते, एवमत्र अथशब्दैरभिहितो विधीयत इति किमुपपन्नम्? तदुक्तं जैमिनिना–"श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रधानत्वात्" (मी.सू. 5.1.1. इति)।।1।।

अन्वय:–अथ कर्मणे वां वेषाय वामिति (मन्त्रेण) शूर्पंञ्च अग्निहोत्रहवणीञ्च आदत्ते। हि यज्ञो वै कर्म तस्माद् यज्ञाय कर्मणे वामिति आह, हि वेवेष्टीव यज्ञं (तस्मादाह) वेषाय वामिति।।1।।

पदार्थ:–**अथ** = पात्रासादन के बाद हविनिर्वाप करने के लिए अध्वर्यु, **कर्मणे** = कर्म के लिए, **वां** = तुम दोनों को, **वेषाय** = व्याप्ति के लिए, **वां** = तुम दोनों को, **इति** = इस मन्त्र से, **शूर्पश्च** = सूप (छाज), और, **अग्निहोत्रहवणीश्च** = अग्निहोत्रहवणी नामक पात्र को, **आदत्ते** = लेता है। **हि** = क्योंकि, **यज्ञो** = यज्ञानुष्ठान, **वै** = निश्चितरूप से, **कर्म** = कर्म है, **तस्माद्** = इसलिए, **यज्ञाय** = यज्ञानुष्ठान के लिए, **कर्मणे** = कर्म सम्पादन के लिए, **वां** = तुम दोनों को (लेता हूँ), **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है, **हि** = क्योंकि, **वेवेष्टीव** = व्याप्त करता हुआ सा, **यज्ञं** = यज्ञ है, इसलिए, **वेषाय** = व्यापकत्व के लिए, **वाम्** = तुम दोनों को (लेता हूँ), **इति** = ऐसा कहता है।।1।।

रेणु-व्याख्या–पात्रासादन के बाद अध्वर्यु हवि तैयार करने के लिए (पति एवं पत्नी) स्त्री और पुरुष का जोड़ा रूप सूप एवं अग्निहोत्रहवणी पात्रों को लेता है। यहाँ सूप विवेक का प्रतिनिधि है तथा अग्निहोत्रहवणी जिज्ञासा की। विवेक का अर्थ है आवश्यक एवं अनावश्यक में भेद समझना तथा जिज्ञासा का अर्थ है जानने की इच्छा। इस प्रकार हवि (धान) को कूटने के बाद भूसे को चावल से अलग करने के लिए सूप का प्रयोग किया जाता है।[1] सूप के स्वभाव के विषय में किसी कवि ने कहा है–**"साधु तो ऐसा चाहिए जैसा सूप सुभाय। सार-सार को गहि रखे थोथा देत उड़ाय।"** अर्थात् चावल (सार वस्तु), भूसा (थोथा) दोनों में सार वस्तु चावल का ग्रहण करे और असार वस्तु भूसे को उड़ा दे यह सूप का स्वभाव है। इसलिए सूप को विवेकी पुरुष के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अग्निहोत्रहवणी में घृत (आज्य) रखा जाता है। आज्य सत्य स्वरूप है[2] उस सत्य को जानने की इच्छा जिसमें है वह जिज्ञासा से युक्त स्त्री जिज्ञासा रूप ही है।

1. वायुर्वो विविनक्तु, शु.य.सं. 1/16
2. सत्यमाज्यम्-श.प.ब्रा. 11/3/1/1

जिज्ञासा रूप जननी की गोद में सत्य पलता है। इस प्रकार विवेकशील लेता हुआ अध्वर्यु मन्त्र पढ़ता है **"कर्मणे वां वेषाय वामिति"** अर्थात् कर्म के पुरुषरूप सूप तथा जिज्ञासायुक्त स्त्री रूप अग्निहोत्रहवणी इन दोनों पात्रों को लिए तुम दोनों का ग्रहण करता हूँ तथा व्याप्ति के लिए (विष्-लृ-व्याप्तौ धातु से वेष शब्द निष्पन्न होता है) तुम दोनों का ग्रहण करता हूँ। क्योंकि यज्ञानुष्ठान निश्चित रूप से कर्म ही है।[1] इसलिए यज्ञानुष्ठान रूप कर्म सम्पादन के लिए तुम दोनों जोड़े को लेता हूँ ऐसा कहता है। क्योंकि यज्ञ व्यापक है इसलिए व्यापकत्व के लिए तुम दोनों जोड़े को लेता हूँ ऐसा कहता है॥1॥

1.1.2.2 (म्) अथ व्वाचं यच्छति। वाग्वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तनवाऽइत्यथ प्रतपति प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽअरातयऽइति वा॥2॥

ऋजुपाठः—अथ वाचं यच्छति। वाग्वै यज्ञः। अविक्षुब्धो यज्ञं तनवा इति। अथ प्रतपति "प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ता अरातयः" (यजु-1 अ. 7 मं.) इति वा॥2॥

सा.भा.—**वाग्वै यज्ञ** इति। यच्छति—पदसन्निधानान्नियम्यमानैवेह वाग् विवक्षिता, तस्याश्च यज्ञसाधनत्वाद्यज्ञसाधनतामुपपादयति—**अविक्षुब्ध** इति। वाङ्नियमे हि चित्तविक्षोभहेतोर्वाग्व्यवहारस्याभावात्तदैकाग्र्ये सत्यविकलो यज्ञो यतः संपद्यते। क्षुभेरुदात्तोपदेशत्वेऽप्यागमानुशासनस्यानित्यत्वादिडभावः। "क्षुब्धस्वान्त" (पा.सू. 7.2.18) इति ज्ञापकात्। शूर्पञ्चाग्निहोत्रहवणीं च प्रतपति—**अथ प्रतपतीति**। शूर्पमग्निहोत्रहवणीं चेत्यनुषङ्गात्तदुभयमित्यर्थः। **निष्टप्ता अरातय इति वेति**। व्रीह्यनुष्ठानपक्षे यववाक्यस्य-प्राप्तप्रामाण्यत्यागः, आप्राप्ताप्रामाण्यस्वीकारः, पुनर्यवानुष्ठाने स्वीकृताप्रामाण्यस्य त्यागः, त्यक्तप्रामाण्यस्वीकारश्चेति चत्वारो दोषाः। इत्थं व्रीहिवाक्येऽपि चत्वार इत्यष्टौ दोषा यद्यपि तथापि गत्यभावाद्विकल्प इत्युक्तं भट्टाचार्यैः—

"एवमेषोऽष्टदोषोऽपि यद्व्रीहियववाक्ययोः।

विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न विद्यते" (मी.भ. 12. अ. 3 पा.) इति।

इह पुनर्वाशब्देनाधस्तादप्यनुकृष्टेन मन्त्रद्वयपाक्षिकत्वस्य श्रुत्यैवाभिधानान्नैकोऽपि दोषः। एतदर्थमेव च "एकार्थास्तु विकल्पेरन्" (मी.सू. 12.3.10.) इति व्रीहियववदेव न्यायप्राप्तस्यापि विकल्पस्य, वेति स्वशब्देनोपादानम्॥2॥

1. यज्ञः कर्म समुद्भवः-गीता 3/14, यज्ञो वै श्रेष्ठतम् कर्मः श.प.ब्रा. 1.7.1.5

अन्वयः–अथ वाचं यच्छति। वाक् वै यज्ञः, अविक्षुब्धः यज्ञं तनवै इति, अथ प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः वा निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः इति प्रतपति।।2।।

पदार्थः–**अथ** = इसके बाद, **वाचं** = वाणी को, **यच्छति** = नियन्त्रित करता है (वाक्यसंयम करता है), **वाक्** = वाणी, **वै** = ही, **यज्ञः** = यज्ञरूप (है), **अविक्षुब्धः** = क्षोभरहित (निर्विघ्नता पूर्वक), **यज्ञम्** = यज्ञ को, **तनवै** = विस्तृत करूँ (पूर्ण करूँ), **इति** = ऐसा विचार करता है, **अथ** = "वाग्यमन के पश्चात्, **प्रत्युष्टं** = झुलस गये, **रक्षः** = राक्षस (यज्ञ के बाधक), **प्रत्युष्टा** = झुलस गये, **अरातयः** = शत्रु (अदानशील), **वा** = अथवा, **निष्टप्तं** = जल गये, **रक्षः** = राक्षस (यज्ञ के बाधक), **निष्टप्ताः** = जल गये, **अरातयः** = शत्रु (अदानशील), **इति** = ऐसा बोलकर, **प्रतपति** = (सूप एवं अग्निहोत्रहवणी दोनों पात्रों को एक साथ) अग्नि पर तपाता है।।2।।

रेणु-व्याख्या–जब अध्वर्यु हाथ में सूप एवं अग्निहोत्रहवणी लेकर कर्म करने को उद्यत होता है, उसके बाद यजमान वाणी को रोकता है अर्थात् मौन धारण करता है। यह इसलिए करता है कि वाणी यज्ञरूप है। यज्ञपरायण यजमान की वाणी भी यज्ञमय है। इस प्रकार यज्ञ को क्षोभरहित अर्थात् निर्विघ्नतापूर्वक विस्तृत करने (पूर्ण करने) में समर्थ हो सकूँ इसलिए वाणी का संयमन आवश्यक जानकर यजमान वाग्यमन करता है। यजमान द्वारा मौन धारण किए जाने के उपरान्त अध्वर्यु "प्रत्युष्ट ꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः निष्टप्त ꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः" इस यजुर्वेदोक्त (1.7) मन्त्र के पाठ द्वारा झुलस गए राक्षस झुलस गए यज्ञ के बाधक अदानशील शत्रु अथवा जल गये राक्षस, जल गये यज्ञ के बाधक अदानशील शत्रु ऐसा बोलकर सूप एवं अग्निहोत्रहवणी दोनों पात्रों को एक साथ अग्नि पर तपाता है।।2।।

1.1.2.3 देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। (स्ते) तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्तद्यज्ञ-मुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यतो-ऽपहन्ति।।3।।

ऋजुपाठः–देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुः। तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षांस्यतोऽपहन्ति।।3।।

सा.भा.–मन्त्रकरणकतायै साध्यस्य निरासस्योपयोगसिद्धये निरसनीयानां प्रसक्तिमाह–**देवा ह वा इति**। 'असुररक्षसेभ्यः–' इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। तेषाम् 'आसङ्गात्' संसर्गाद्भीताः। बिभेतेर्लिटि "भीह्रीभृहुवाम्" (पा.सू. 3.1.39.) इत्याम्प्रत्ययः, श्लुभावश्च।

नाशयन्तीति 'नाष्ट्राः' आसुर्यः प्रजाः, ता श्च रक्षांसि च 'तत्' अतो 'यज्ञमुखात्' यज्ञप्रारम्भादपहन्ति। 'एतत्' इति क्रियाविशेषणम्।।3।।

अन्वयः—ह देवा वै यज्ञं तन्वानाः। ते असुररक्षसेभ्यः आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुः तत् यज्ञमुखात् एव एतत् नाष्ट्रा रक्षांसि अतो अपहन्ति।।3।।

पदार्थः—ह = निश्चितरूप से, **देवाः** = देवगण, **वै** = ही, **यज्ञं** = यज्ञ को, **तन्वानाः** = फैलानेवाले (हैं), **ते** = वे देवगण, **असुररक्षसेभ्यः** = यज्ञकर्म के बाधक असुर राक्षसों के, **आसङ्गाद्** = संसर्ग से, **बिभयाश्चक्रुः** = डर गये, **तत्** = इसलिए, **यज्ञमुखात्** = यज्ञ के आरम्भकाल से, **एव** = ही, **एतत्** = इन, **नाष्ट्रा** = विनाशकारी, **रक्षांसि** = दुष्ट राक्षसों को, **अतो** = इस यज्ञस्थल से, **अपहन्ति** = मारकर दूर भगाते हैं।।3।।

रेणु-व्याख्या—यह सर्वविदित है कि देवताओं ने यज्ञ का विस्तार किया। अतः देवगण यज्ञ विस्तारक कहलाते हैं। इस प्रकार यज्ञ का विस्तार करते हुए देवताओं को इस कर्म में बाधक असुर राक्षसों का भय उत्पन्न हुआ। इस भय को अनावश्यक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जब कोई कुछ अच्छा कार्य करता है तो 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति' इस वचन के अनुसार तत्तत् श्रेष्ठकर्मों में विघ्न बाधाओं का होना स्वाभाविक ही होता है। एतदर्थ नीतियों में कहा गया है कि—'चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान्' अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष चलते समय एक ही बार दोनों पैर नहीं उठाते अपितु एक पैर उठाते हैं तथा दूसरे से अपना आधार बनाए रखते हैं। यहाँ यह भी चिन्तन आवश्यक है कि आधार कैसा हो? आधार का दृढ़ होना आवश्यक है। चूँकि आधार यदि दृढ़ नहीं होगा तो कर्त्ता कार्य करने में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर पाएगा। अतः आधार अत्यन्त मजबूत और स्थायी होना चाहिए।

अतः देवताओं ने जब यज्ञ का विस्तार आरम्भ किया तो उन्हें असुर राक्षसों का भय हुआ। इसलिए उन्होंने निर्णय लिया था कि यज्ञ के आरम्भ से ही असुर राक्षसों को मारकर भगाने का प्रबन्ध करना है। इसी निर्णय के आधार पर देवताओं ने यज्ञ के प्रारम्भ होने के क्षण से ही विनाशकारी एवं यज्ञ के बाधक असुर राक्षसों को यज्ञस्थल से भगाने का यत्न करते हुए सूप एवं अग्निहोत्रहवणी आदि यज्ञपात्रों को अग्नि पर तपाने जैसा कार्य आरम्भ किया।

तात्पर्य यह है कि 'दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्' इस सूक्ति के अनुसार दुर्जनों का स्वागत पहले करना चाहिए। जो दुर्जन जिस प्रकार के स्वागत से मार्ग

में बाधा करना छोड़ देता है, उस दुर्जन को उसी व्यवहार द्वारा सन्तुष्ट कर भगाना चाहिए। वही देवताओं ने भी किया।

श्रौतग्रन्थों में कहा गया है कि "अग्निर्वै रक्षसामपहन्ता" अर्थात् अग्नि ही राक्षसों के अपहन्ता हैं। अत एव अग्नि पर यज्ञपात्रों को तपाया जाता है, जिससे असुर राक्षसादि दूर भाग जाते हैं और कर्म निर्विघ्न सम्पन्न हो पाता है।।3।।

[हविर्ग्रहणम्]

1.1.2.4. (न्त्य) अथ प्रैति। (त्यु) उर्वन्तरिक्षमन्वेमीत्यन्तरिक्षं वाऽ अनुरक्षश्चरत्यमूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथायं पुरुषोऽमूलऽउभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनु- चरति तद्ब्रह्मणैवैतदन्तरिक्षमभयमनाष्ट्रं कुरुते।।4।।

ऋजुपाठः—अथ प्रैति—**'उर्वन्तरिक्षमन्वेमि'** (यजु- 1 अ. 7 मं.) इति। अन्तरिक्षं वा अनु रक्षश्चरत्यमूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथाऽयं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति। तद्-ब्रह्मणैवैतदन्तरिक्षमभयमनाष्ट्रं कुरुते।।4।।

सा.भा.—अथ प्रैतीति। शूर्पप्रतपनानन्तरमुर्विति मन्त्रेण हविर्निर्वापार्थं शकटसमीपं 'प्रेति' प्रगच्छेत्। मन्त्रप्रयोजनमाह—**अन्तरिक्षं** वेति। यथा वृक्षो मूलैः पृथिवीमनुप्रविष्टस्तिष्ठत्येव, न च गच्छति; यथा व्याघ्रादिरभितः पाशाभ्यां बद्ध्वा ध्रियमाणः नैवं पुरुषो मूलवान्, नाप्युभयतः केनचित् संसर्गिणा प्रतिबद्धः, किन्तु 'परिच्छन्नः' प्रतिबन्धकासंसृष्टः सन् अन्तरिक्षे विश्रम्भं चरति। तथैव निर्वप्स्यमानहविरादानार्थं रक्षोऽप्युक्तविशेषणविशिष्टं सत् तं निर्वप्स्यन्तं पुरुषमनुगच्छेत् अतस्तदेतत्पुरुषेण गम्यमानमन्तरिक्षप्रदेशे 'ब्रह्मणा' उर्वित्यनेनैव मन्त्रेण 'अनाष्ट्रम्' हिंसाकररहितम्। अत एवाभयं कुरुते। 'उरु' विस्तीर्णं प्रतिबन्धकरक्षोलक्षणमूर्त्तद्रव्यविरहादिति हि मन्त्रार्थः।।4।।

अन्वयः—अथ उर्वन्तरिक्षमन्वेमि इति प्रैति। यथा अमूलम् उभयतः परिच्छिन्नं अन्तरिक्षमनु वा रक्षः चरन्ति (तथा) अयं पुरुषः अमूलम् उभयतः अपरिच्छिन्नः अन्तरिक्षमनु चरति, एतत् ब्रह्मणैव तत् अन्तरिक्षम् अभयम् अनाष्ट्रं कुरुते।।4।।

पदार्थः—अथ = सूप एवं अग्निहोत्रहवणी को अग्नि पर तपाने के बाद, **उर्वन्तरिक्षमन्वेमि** = विस्तृत अन्तरिक्ष की ओर जाता हूँ, **इति** = ऐसा मन्त्र बोलकर, **प्रैति** = हविर्द्धान शकट (धान लदी हुई गाड़ी) की ओर चलता है, **अमूलम्** = बिना जड़वाला, **उभयतः** = दोनों तरफ, **परिच्छिन्नम्** = बन्धनरहित, **अन्तरिक्षम्** =

अन्तरिक्ष के, **अनु** = साथ, **वा** = ही, **रक्षः** = राक्षसगण, **चरन्ति** = विचरण करते हैं, (उसी प्रकार) **अयं** = यह, **पुरुषः** = पुरुष (अध्वर्यु), **अमूलम्** = मूलरहित, **उभयतः** = दोनों तरफ, **अपरिच्छिन्नः** = बन्धनरहित, **अन्तरिक्षम्** = अन्तरिक्ष लोक के, **अनु** = साथ, **चरति** = चलता है। **एतत्** = इस, **ब्रह्मणैव** = मन्त्र वाक्य से ही, **तत्** = उस, **अन्तरिक्षम्** = अन्तरिक्ष लोक को (जहाँ शकट है), **अभयम्** = भयरहित, **अनाष्ट्रं** = दुष्ट राक्षसों से मुक्त, **कुरुते** = करता है।।4।।

रेणु-व्याख्या–अध्वर्यु सूप एवं अग्निहोत्रहवणी को तपाकर पात्रस्थ असुरों का विनाशकर "उर्वन्तरिक्षमन्वेमि" विशाल अन्तरिक्ष की ओर जाता हूँ, यह मन्त्रांश पढ़ता हुआ हविर्द्धान शकट (जिस गाड़ी पर हवि रखा होता है, वहाँ से हवि लेने के लिए) के पास जाता है। जिस प्रकार असुर राक्षसादि बिना जड़ वाले तथा दोनों ओर बन्धन रहित विशाल अन्तरिक्ष में भ्रमण करते हैं, उसी प्रकार अध्वर्यु भी मूलरहित दोनों ओर बन्धनों से मुक्त अर्थात् दोनों युगों में बँधे हुए बैलों से रहित अन्तरिक्ष स्थानीय हविर्द्धान शकट की ओर जाता है। इस मन्त्रांश के पाठ द्वारा पहले उस स्थान के असुर राक्षसादिकों को नष्ट करता है फिर निर्भय होकर अन्तरिक्षलोक की ओर जाता है।।4।।

1.1.2.5. स वाऽ अनस एव गृह्णीयात्। (दु) अनो ह वाऽ अग्रे पश्चेव वाऽ इदं यच्छाल ँ्स यदेवाग्रे तत्करवाणीति तस्मादनस एव गृह्णीयात्।।5।।

ऋजुपाठः–स वा अनस एव गृह्णीयात्। अनो ह वा अग्रे, पश्चेव वा इदम्–यच्छालं; स यदेवाग्रे तत् करवाणीति। तस्मादनस एव गृह्णीयात्।।5।।

सा.भा.–अनस एव सकाशाद् ग्रहणे कारणमाह–**अनो ह वा** इति। अन एव हि प्रथमं धान्यस्याधिकरणम्। अनसः सकाशान्नीयमानं धान्यं 'पश्चेव' पश्चादेव। किं तत्? यत् 'शालम्' एतच्छालागतं भवति। "पश्च पश्चा च च्छन्दसि" (पा.सू. 5.3.33) इति निपातितम्। शालाशब्दाच्छान्दसत्वेन छस्य विकल्पितत्वादण्। यत् 'अग्ने' गृहप्रवेशात्प्रागनसि स्थितम्। अत एव गृहिणामाशयानुपहतं तदेव यज्ञसाधनं करवाणीति योग्यत्वे हेतुः। तस्मादनस एव सकाशात् सोऽध्वर्युर्गृह्णीयान्न शालातः।।5।।

अन्वयः–स अनस एव वा गृह्णीयात्। (यतः) अग्रे अनो ह वा, यत् इदं शालं (तत्) पश्चेव वा, स यदेव अग्रे तत् करणाणि इति, तस्मात् अनस एव गृह्णीयात्।।5।।

पदार्थः–**सः** = वह (अध्वर्यु जब हवि ग्रहण करने के लिए जाए तो), **अनसः** = गाड़ी से, **एव** = ही, **वा** = निश्चितरूपेण, **गृह्णीयात्** = (हवि) ग्रहण करे। क्योंकि, **अग्रे** = सबसे पहले (खेत से धान कटकर पहले), **अनो** = गाड़ी पर, **हं** = निश्चय, **वा** = ही (लाया जाता है/रखा जाता है), **यत्** = जो, **इदं** = यह धान है (वह), **शालं** = घर में, **पश्चेव** = बाद में रखने जैसा, **वा** = ही होता है। **स** = वह (अध्वर्यु), **यदेव** = जो ही, **अग्रे** = प्रथम स्थान है (हवि का), **तत्** = वहाँ से, **करवाणि** = हवि ग्रहण करूँ, **इति** = ऐसा विचारकर (हविग्रहण कर्म) करता है। **तस्मात्** = इसलिए, **अनस** = गाड़ी से, **एव** = ही, **गृह्णीयात्** = (हवि) ग्रहण करे। यह बतलाया गया है॥5॥

रेणु-व्याख्या–हविग्रहण के प्रसङ्ग में ऋषि कहते हैं कि शकट से ही हवि ग्रहण करना चाहिए। ऐसा क्यों करे? तो इसके लिए तर्क देते हैं कि जब व्रीहि आदि अन्न खेत से कटकर आते हैं तो सीधे घर में नहीं रखते अपितु खेत से फसल को शकट पर ढो कर लाते हैं। पुनः खलिहान में उसका संस्कार किया जाता है, मड़ाई और सूप से पछोड़कर अन्न को शुद्ध रूप में सम्पादित करने के उपरान्त घर में ले जाते हैं। इस प्रकार अन्न घर में आने से पहले शकट पर ही स्थापित होता है। अतः जो अन्न का प्रथम स्थान है वह शकट ही है, अत एव प्रथम स्थान से अर्थात् शकट (गाड़ी) से ही हविग्रहण करने का विधान किया गया है। अतः यज्ञकर्म में प्रवृत्त अध्वर्यु आदि को चाहिए कि शकट से ही हविग्रहण करे। चूँकि यज्ञ देवताओं का प्रथमस्थान है। अत एव अन्न के प्रथम स्थापन स्थान से ही हविग्रहण किया जाए ऐसा ऋषियों का आदेश है। एतदर्थ-अन्य हेतु बताते हुए कहते हैं॥5॥

1.1.2.6. (द्धू) भूमा वाऽअनः। (नो) भूमा हि वाऽ अनस्तस्माद्यदा बहु भवत्यनोवाह्यमभूदित्याहुस्तद्धूमानमे- वैतदुपैति तस्मादनस एव गृह्णीयात्॥6॥

ऋजुपाठः–भूमा वा अनः। भूमा हि वा अनस्तस्माद्-यदा बहु भवति, अनोवाह्यमभूदित्याहुः। तद् भूमानमेवैतदुपैति। तस्मादनस एव गृह्णीयात्॥6॥

सा.भा.–अथानसोऽप्यग्रे खलादानीयमानं मूतस्थमेव किं न निरूप्यते? इत्यत आह–**भूमा वा** इति। मूतस्थ ह्येवाल्पम्, ततो निरूप्यमाणं हविर्हिंसितभिक्षावद्देवा न गृह्णीयुः। अपि स्मर्यते हि–

"आत्मानं पीडयित्वा तु भिक्षां यः संप्रयच्छति।

सा भिक्षा हिंसिता ज्ञेया न सा ग्राह्या कदाचन" इति।।

बहोर्भावः 'भूमा' भवितरि भावोपचारोऽतिशयार्थः। मूर्तिभूतं ब्रह्मण्यमेवायं पुनातीतिवत्। अतो बहुतरं भूमा अन इत्यर्थः। तस्यार्थे लोकप्रसिद्धिमाह–**भूमा हीति**। प्रसिद्धिं लोकव्यवहारेण साधयति–'अनोवाह्यम्' अनसा वोढुमर्हम्। **तदित्यादि**। तदेतदनस्स्थं हविरुपयच्छन् भूयिष्ठमेवोपैति। अतो हिंसितभिक्षा निराकृता।।6।।

अन्वयः–भूमा वा अनः। हि भूमा वा अनः तस्माद् यदा अनोवाह्यम् अभूत् तदा बहु भवति इत्याहुः। तस्मात् एतत् भूमानमेव उपैति। तस्मात् अनस एव गृह्णीयात्।।6।।

पदार्थः–**भूमा** = बहुतायत का वाचक, **वा** = ही, **अनः** = बैलगाड़ी है। **हि** = क्योंकि, **भूमा** = बहुतायत का प्रतीक, **वा** = ही, **अनः** = बैलगाड़ी है, **तस्मात्** = इसलिए, **यदा** = जब, **अनोवाह्यम्** = गाड़ी द्वारा ढोने योग्य (पर्याप्त मात्रा में), **अभूत्** = कोई भी वस्तु हो गया, **तदा** = तब, **बहु** = बहुतायत का सम्पादन, **भवति** = होता है। **तस्मात्** = इसलिए, **एतत्** =इस हवि को, **भूमानमेव** = बहुतायत सम्पन्न रूप को ही, **उपैति** = प्राप्त करता है। **तस्मात्** = इसीलिए, **अनस** = बैलगाड़ी से, **एव** = ही, **गृह्णीयात्** = हविष्यान्न ग्रहण करे।।6।।

रेणु-व्याख्या–वस्तुतः लोक में ऐसा देखा जाता है कि जब कोई वस्तु पर्याप्त मात्रा में एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाई जाती है तब किसी न किसी साधन का प्रयोग किया जाता है। ढोने के लिए साधन के रूप में गाड़ी का प्रयोग प्रचलित है। तात्पर्य यह हुआ कि जब कोई वस्तु पर्याप्त मात्रा में कोई कहीं से लाता है तो कहा जाता है कि गाड़ी भरकर लाया है। अर्थात् गाड़ी से वस्तु का लाना बहुतायत का प्रतीक (वाचक) होता है।

अत एव ऋषि गाड़ी को बहुतायत का प्रतीक मानकर कहते हैं कि यह जो गाड़ी है वह बहुत का वाचक है। चूँकि बहुतायत का वाचक (प्रतीक) गाड़ी है इसलिए जब कभी बहुत कहना होता है तो गाड़ी (जो बहुतायत का प्रतीक है) शब्द का प्रयोग करते हैं। तात्पर्य यह है कि जब वस्तु की मात्रा अधिक होती है तो गाड़ी पर लाई जाती है। यहाँ भी गाड़ी से ढोने योग्य हुआ यह कहने का तात्पर्य कृषि से उत्पन्न हविष्यान्न पर्याप्त मात्रा में है, यही है। इस प्रकार हविष्यान्न को पर्याप्त मात्रा में प्राप्त करता है। इसलिए बैलगाड़ी से ही हविष्यान्न ग्रहण करे ऐसा ऋषिसम्मत विचार है।।6।।

1.1.2.7. (द्य) यज्ञो वाऽ अनः। (नो) यज्ञो हि वाऽ अनस्तस्मादुनस एव यजूꣳषि सन्ति न कौष्ठस्य न कुम्भ्यै भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति तद्वृषीन्प्रति भस्त्रायै यजूꣳष्यासुस्तान्येतर्हि प्राकृतानि यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमाऽइति तस्मादुनस एव गृह्णीयात्।।7।।

ऋजुपाठः—यज्ञो वा अनः। यज्ञो हि वा अनस्तस्माद्-अनस एव यजूंषि सन्ति। न कौष्ठस्य न कुम्भ्यै। भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति। तद्वृषीन् प्रति भस्त्रायै यजूंष्यासुः। तान्येतर्हि प्राकृतानि—यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमा अति। तस्मादनस एव गृह्णीयात्।।7।।

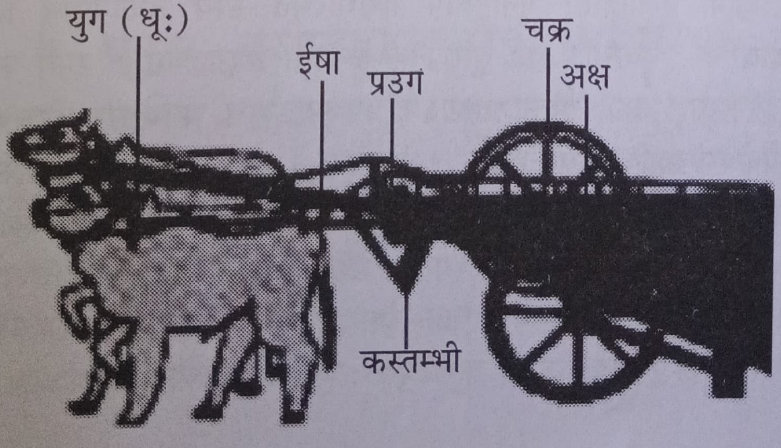
सा.भा.—अनस एव ग्रहणे हेत्वन्तरमाह—**यज्ञो वा** इति। यज्ञसाधनत्वादनसि साधनस्तुत्यै यज्ञत्वोपचारः। इज्यतेऽनेनेति करण एव वा 'नङ्' प्रत्ययः। वै-शब्दस्तस्य विधिश्रुतिसिद्धं यज्ञसाधनत्वं स्तोतुं स्मारयति। न केवलं श्रुतिसिद्धं तस्य तत्साधनत्वम्, अपि तु प्रत्यक्षादिप्रमाणैरपि तस्य साधनत्वं सिद्धमित्याह-**यज्ञो हीति**। अनसोऽसाधारण्ये हेत्वन्तरमाह—**तस्मादिति**। यस्मादनस एव ग्रहणम्, तस्माद्ग्रहणमन्त्राः "धूरसि" (वा.सं 1.8.) "अह्रुतमसि हविर्द्धानम्—" (वा.सं. 1.9.) इत्यादयोऽनोऽवयवलिङ्गा दृश्यन्ते। न पुनः कोष्ठगतस्य—कुम्भीगतस्य वा धान्यस्य। कुम्भी-शब्दस्तन्निष्ठधान्यं लक्षयति, मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत्। लुप्तनिर्दिष्टा षष्ठी। ऋषिमतमाह—**भस्त्राया** इति। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। तस्मिन् पक्षे भस्त्रायाः के मन्त्रा इत्याह—**तद्वृषीनिति**। उस्त्वर्थे। तदा तु तान्येव यजूंषि भस्त्रायाः प्रतिपादकानि स्युरित्यर्थः। अनःपक्षे हे अनः! यत् त्वं 'धूरसि' त्वमुद्धृतमतुलं हविर्द्धानमसीति। भस्त्रापक्षे तु हे भस्त्रे! इत्येव विशेषः। मन्त्रदारिद्र्य इव कस्मात्तान्येव? अन्यानि चेत्, भस्त्रायाः के मन्त्रा इत्यत आह—**तान्येतर्हीति**। तैरेव यजुर्भिर्ग्रहणे यानि यजूंषि प्रकृतावनस्यासन्, तान्येवैवं सति विकृतौ भस्त्रायामपि स्युः। तथात्वस्यापि किं फलमिति चेत्तत्राह—**यज्ञादिति**। यज्ञसाधनमन आश्रित्य सकृत्प्रयुज्य तत इदमुक्त्वैव यज्ञं भस्त्रादिकं 'निर्ममै' अनुतिष्ठानि, इत्येवमनुष्ठातुराशय इत्यर्थः। ननु प्रकृतावेव पक्षान्तरं भस्त्रा, यथा यवः, तत् किमुच्यते प्राकृतानीति? सत्यम्। प्राकृतमुपदिश्यमानं यथा प्रथमम्, वैकृतन्त्वतिदेशाच्चरमं प्रतीयते; एवं स्वशब्देनाभिधानात्प्रथमप्रतिपत्तेरेव प्राकृतमुच्यते। तल्लक्षितापूर्वसाधनत्वात्तु पश्चात्प्रतीतेर्भस्त्राविकृतिवद्विकृतिः। अतो भस्त्रायामपि यववदुपदेशादेव धर्मसंबन्धो नातिदेशात्। व्रीहीनवहन्तीति अपूर्वं व्रीहयः प्रकृतिद्रव्यमपहन्तीति यथा, तथाऽनेन पदेनापि भस्त्राविपरिग्रह इति।।7।।

अन्वयः—यज्ञो वा अनः। हि यज्ञो वा अनः तस्मात् अक्षय एव यजूंषि सन्ति न कौष्ठस्य न कुम्भ्यै। ऋषयः भस्त्रायै ह गृह्णन्ति स्म तत् ऋषीन् प्रति भस्त्रायै उ यजूंषि आसुः तानि एतर्हि प्राकृतानि यज्ञात् यज्ञं निर्मिमा इति तस्मादनस एव गृह्णीयात्।।7।।

पदार्थः–**यज्ञो** = यज्ञ, **वा** = ही, **अनः** = गाड़ी (है)। **हि** = क्योंकि, **यज्ञो** = यज्ञ, **वा** = ही, **अनः** = गाड़ी है, **तस्मात्** = इसलिए, **अनस** = गाड़ी से सम्बन्धित, **एव** = ही, **यजूंषि** = यहाँ प्रयुक्त यजु (मन्त्र), **सन्ति** = हैं, **न** = नहीं, **कौष्ठस्य** = कठोर से सम्बन्धित और, **न** = न ही, **कुम्भ्यै** = घड़े के लिए (मन्त्र प्रयुक्त है)। **ऋषयः** = ऋषिलोग, **भस्त्रायै** = चमड़े की बोरी के लिए, **ह** = निश्चित रूप से, **गृह्णन्ति** = (इस यजु का) ग्रहण करते, **स्म** = थे, **तत्** = उस समय (याज्ञवल्क्य से पहले), **ऋषीन्** = ऋषियों के, **प्रति** = लिए, **भस्त्रायै** = चमड़े की बोरी के लिए, **उ** = ही, **यजूँषि** = हविग्रहण सम्बन्धी यजु (मन्त्र), **आसुः** = थे। **तानि** = वे यजु, **एतर्हि** = इस प्रकारसे अब, **प्राकृतानि** = प्रकृतिभूत हैं। (चूँकि), **यज्ञात्** = यज्ञ से, **यज्ञम्** = यज्ञ को, **निर्मिमा** = निर्मित करूँ, **इति** = यह भाव है। **तस्मात्** = इसलिए, **अनस** = गाड़ी से, **एव** = ही, **गृह्णीयात्** = हविग्रहण करे॥7॥

रेणु-व्याख्या–यहाँ यज्ञ को गाड़ी के अनुरूप कहा गया है। इस कथन का उद्देश्य है कि यज्ञ भी पञ्चाङ्ग है तथा गाड़ी भी पञ्चाङ्ग है, इसलिए यज्ञ एवं गाड़ी दोनों एकरूप हैं। जिस प्रकार गाड़ी ईषा, प्रउग, अक्ष, चक्र एवं युग इन पाँच अंगों से युक्त होकर संगठित रूप से शकटभाव का निर्वाह करते हैं। उसी प्रकार यज्ञ भी काल, ऋत्विक्, द्रव्य, दक्षिणा एवं फल इन पाँच अंगों से युक्त होकर संघटन पूर्वक यज्ञभाव को प्राप्त करते हैं। अतः यज्ञ एवं शकट (गाड़ी) दोनों संघटन रूप होने के कारण परस्पर एकरूप हैं। इस प्रकार के संघटन कोष्ठ या कुम्भ में नहीं होते हैं। उसी तथ्य को ध्यान में रखकर महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि यज्ञ ही गाड़ी है। क्योंकि गाड़ी यज्ञरूप है इसलिए यज्ञ के निमित्त गाड़ी से ही हविर्ग्रहण किए जाते हैं। यह यजुर्वेदीय मन्त्र भी गाड़ी के अर्थ में ही पूर्ण रूप से घटित होता है कोष्ठ तन्त्र कुम्भ के अर्थ में नहीं। उदाहरणार्थ शकट का चित्र प्रस्तुत है–

शकट



याज्ञवल्क्य से पहले ऋषिलोग इस मन्त्र का विनियोग चमड़े की बोरी के सम्बन्ध में करते थे, इसलिए उन ऋषियों के लिए यह यजुर्मन्त्र चमड़े की बोरी की ओर संकेत करते थे। परन्तु यहाँ तो प्रकृत अर्थ ही है। 'यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमा' इस वाक्यांश से यह स्पष्ट होता है कि यज्ञ से यज्ञ करूँ यह भाव ऋषियों का था किन्तु भस्त्रा एवं कुम्भ में यज्ञत्व का अभाव था। यह देखकर याज्ञवल्क्य ने विचार किया कि भस्त्रा एवं कुम्भ के अर्थ में इस मन्त्र का विनियोग अमर्यादित है। अतः शकट जो यज्ञाङ्ग भी है, उसके लिए उक्त मन्त्र का विनियोग किया है। इसलिए गाड़ी से ही हविग्रहण करना चाहिए, यही यज्ञ एवं यजुःमन्त्र के अनुरूप यथोचित है।।7।।

1.1.2.8. (दु) उतो पात्र्यै गृह्णन्ति। (न्त्यु) अनन्तरायमुतर्हि यजूꣳषि जपेत्स्फ्यमुतर्ह्यधस्तादुपोह्य गृह्णीयाद्यतो युनजाम ततो व्विमुञ्चामेति यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो व्विमुञ्चन्ति।।8।।

ऋजुपाठः—उतो पात्र्यै गृह्णन्ति। अनन्तरायमु तर्हि यजूंषि जपेत्। स्फ्यमु तर्ह्यधस्तादुपोह्य गृह्णीयात्—यतो युनजाम ततो विमुञ्चा मेति। यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति।।8।।

सा.भा.—पात्रीतो ग्रहणे धर्मविशेषमाह **उतो पात्र्या** इति। 'उतो' अपि तु यदि पात्र्या गृह्णीयात्, तदा धूरीषाद्यभावेन तदुपस्थानविरहादननुष्ठानकृतं व्यवधानमन्तरायमन्तरेण तत्प्रकाशकयजूंषि "धूरसि" "देवानामसि" इत्यादीनि जपेत्। तत्रैव धर्मान्तरमाह—**स्फ्यमु तर्हीति।** तस्मिन् पात्रीपक्षे तस्या अधस्तात् स्फ्यमुपनिधाय गृह्णीयात्। यदाह कात्यायनः—"पात्र्यां वा स्फ्योपहितायां धूरीषारोहणानि पात्रीबिले जपति" (श्रौ.सू. 2.72.73) इति। अनसो ग्रहणे स्फ्योपहितपात्रीतो ग्रहणेऽतिशयितं प्रयोजनमाह—**यतो युनजामेति।** योऽयं स्फ्यमाश्रित्य 'युनजाम' यज्ञेन योगं प्राप्नवाम, ततस्तस्मिन्नेव स्फ्ये 'विमुञ्चाम—'इति वियोगमपि करवामः। (इति) योगवियोगसामानाधिकरण्यसिद्धिः। स्फ्योपहितपात्रीतो ग्रहणपक्षे अनःपक्षादतिशय इत्यर्थः। अयमत्राभिप्रायः—अनसो निर्वापपक्षे हि जुहूपभृतौ शकटस्य धुरोर्निदध्यात्। पात्रीतः पुनर्निर्वापे तदाधारभूते स्फ्ये तयोर्निधानं विमोकः। तदुक्तं कात्यायनेन—"घृताचीऽ इति धुरि निदधात्यनसि चेद्ग्रहणम्" "स्फ्ये पात्र्यां चेत्" (श्रौ. सू. 3.137.138) इति। तथाऽपां प्रणयनं च स्फ्येन सहेत्युक्तमापस्तम्बेन—"स्फ्येनोपसंगृह्याविषिञ्चन् हरति" (आ.श्रौ.सू. 1.16.8) इति। एवं च स्फ्येनैव योगः, स्फ्य एव वियोगात्मको विमोकोऽपीति पात्रीतो ग्रहणे योगवियोगयोः सामानाधिकरण्यलाभोऽतिशय इति। अथ तयोर्वैयधिकरण्यात् सामानाधिकरण्योक्तोऽतिशयं इत्याशङ्क्य लोकप्रसिद्ध्यनुसरणमतिशय इत्याह—**यतो ह्येवेति।** सार्वविभक्तिकस्तसिः। यत्रैव योगः, तत्रैव वियोगो न्याय्यः; न हि कर्णे युक्तः कट्या विमुच्यत इत्यर्थः।।8।।

अन्वयः–उत पात्र्यै उ गृह्णन्ति। तर्हि अन्तरायम् उ यजूंषि जपेत्, तर्हि यतो युनजाम ततो विमुञ्चाम इति स्फ्यम् उ अधस्तात् उपोह्य गृह्णीयात्; हि यतो युञ्जन्ति तत एव विमुञ्चन्ति।।8।।

पदार्थः–**उत** = अथवा, **पात्र्यै** = पुरोडाशपात्री से, **उ** = ही, **गृह्णन्ति** = हवि ग्रहण करते हैं। **तर्हि** = तो (ऐसी अवस्था में), **अन्तरायम्** = बिना व्यवधान के, **उ** = ही, **यजूंषि** = यजुःमन्त्रों का पूरा का पूरा, **जपेत्** = पाठ करना चाहिए, **तर्हि** = ऐसा करने से, **यतो** = जहाँ से, **युनजाम** = जोड़ें, **ततो** = वहीं से, **विमुञ्चाम** = खोलें, **इति** = इस विचार से, **स्फ्यम्** = स्फ्य (वज्र) को, **उ** = ही, **अधस्तात्** = नीचे की ओर, **उपोह्य** = रखकर (सहारा के लिए), **गृह्णीयात्** = हविग्रहण करें। **हि** = क्योंकि, **यतो** = जहाँ से, **युञ्जन्ति** = जोड़ते हैं, **ततो** = वहाँ से, **एव** = ही, **विमुञ्चन्ति** = खोलते हैं।।8।।

रेणु-व्याख्या–अब यहाँ विचार करते हैं कि शकट से हविग्रहण करते हैं अथवा पात्री से ही हविग्रहण करते हैं। यदि पात्री से ही हविग्रहण करने के पक्ष को स्वीकार किया गया हो तो उस अवस्था में बिना किसी व्यवधान के हविग्रहण सम्बन्धी सभी यजुओं का पाठ कर लेना चाहिए यह इसलिए करते हैं कि शकट से बैल को जहाँ से जोड़ते हैं वहीं से उसे अलग भी करते हैं। तात्पर्य यह है कि गाड़ी पर व्रीहि खेत से लाने के लिए गाड़ी में बैलों को घर में ही जोतते हैं फिर शकट चलाकर खेत ले जाते हैं, वहाँ से व्रीहि गाड़ी पर उठाकर पुनः घर तक लाते हैं। यह शकट वज्ररूप है अतः वज्र का दूसरा प्रतिरूप जो स्फ्य है, उसे पात्री के नीचे रखकर पुनः पात्री से हविग्रहण करते हैं। ऐसा करने से यह नियम (जहाँ से जोड़ते हैं वहीं खोलते हैं) का पूर्णरूप से परिपालन हो जाता है।।8।।

1.1.2.9. त॒स्य वा॒ऽ एतस्या॒नसः। (सोऽग्नि) अग्नि॒रेव धू॒रग्निर्हि वै धू॒र॒थ य॒ऽएनद्व॒हन्त्यग्नि॒दग्धमिवैषां व्व॒हं भवत्य॒थ य॒ञ्जघ॒नेन कस्तम्भीं प्र॒ऽउगं व्वे॒दिरे॒वास्य सा॒ नीड॒ऽएव॒ हविर्द्धा॒नम्।।9।।

ऋजुपाठः–तस्या वा एतस्यानसोऽग्निरेव धूः। अग्निर्हि वै धूः। अथ य एनद् वहन्ति–अग्निदग्धमिवैषां वहं भवति। अथ यं जघनेन कस्तम्भीं, प्रउगं-वेदिरेवास्य सा। नीड एव हविर्द्धानम्।।9।।

सा.भा.–अथ धुरः समन्त्रकमभिमर्शनं विधास्यंस्तदुपोद्घातत्वेन देवतारूपतां तस्याः प्रतिपादयति–**तस्येत्यादिना**। अग्निरेव धूरिति यद्धुरोऽग्न्यात्मकत्वं प्रतिज्ञातम्, तस्योपपादनम्–**अग्निर्हि वा** इत्यादि। अनसो या धूर्बलीवर्दवहनस्थानम्, तस्याग्न्यात्मकत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां लोकप्रसिद्धमिति 'हि'–शब्दार्थः। तामेव प्रसिद्धिं दर्शयति–**अथ य एनदिति**। 'एनद्' धुराक्षम्, अनसो योगे खलु बलीवर्दा वहन्ति एषाम् 'वहम्' वहनसाधनं कन्धरूपमङ्गमग्निदग्धमिव दृश्यते। अतो नूनम् 'धूर्' वोढव्या धूरग्न्यात्मिकेत्यवसीयत इत्यर्थः। शकटान्निर्वापस्य प्राशस्त्यातिशयं द्योतयितुं तस्मिन्वेदिहविर्द्धानयोः संपत्तिमाह–**अथ यज्जघनेनेति**। शकटस्याधःपतनं वारयितुमीषादण्डप्रोत्तम्भनार्था मेथी 'कस्तम्भी'। ईषाद्वयं यत्र संसृप्तं ततः प्रत्यग्भागः, तयोरीषयोर्मध्यदेशः 'प्रउगम्'। तच्च पश्चाद्विस्तृतम्, पुरस्ताद्ध्रसीयः। 'वेदिः' अपि तथाविध "त्रिंशत्पदानि पश्चात्तिरश्ची भवति, षट्त्रिंशत्प्राची, चतुर्विंशतिः पुरस्तात् तिरश्ची" (तै.सं. 6.2.5.8) इति श्रुतेः। अतस्तत्सारूप्यात्प्रउगस्य वेदित्वव्यपदेशः। **नीड एवेति**। धान्यनिधानाय परिश्रितप्रदेशो नीडः। हविर्द्धानमपि परिश्रितम्। परिश्रयणसाम्यान्नीडस्य हविर्द्धानत्वम्।।9।।

अन्वयः–तस्य एतस्य वा अनसो धूः एव अग्निः। हि धूः वै अग्निः अथ ये एनत् वहन्ति अग्निदग्धम् इव एषां वहं भवति। अथ यत् जघनेन कस्तम्भीं, प्रउगं एवास्य वेदिः, सा नीड एव हविर्द्धानम्।।9।।

पदार्थः–**तस्य** = उस, **एतस्य** = इस, **वा** = ही, **अनसः** = गाड़ी का, **धूः** = जुआ, **एव** = ही, **अग्निः** = यज्ञाग्नि है। **हि** = क्योंकि, **धूः** = जुआ, **वै** = निश्चयरूप से ही, **अग्निः** = अग्नि है, **अथ** = इसलिए, **य** = जो (बैल), **एनत्** = इस (गाड़ी) को, **वहन्ति** = ढोते हैं, **अग्निदग्धम्** = अग्नि से जले हुए, **इव** = के समान ही, **एषां** = इन (बैलों) का, **वहं** = भार उठाने वाला कन्धा, **भवति** = होता है। **अथ** = इसलिए, **यत्** = जो, **जघनेन** = गाड़ी चालक के जङ्घों के बीच के, **कस्तम्भीं** = ईषादण्ड को नीचे टिकाने वाली जो लकड़ी लगी होती है, उससे पीछे का भाग अर्थात् ईषा का मध्यभाग, **प्रउगं** = प्रउगाकार त्रिकोणाकृति का स्थान है वह, **एवास्य** = ही इस गाड़ी की, **वेदिः** = वेदी है, **सा** = वह, **नीडः** = गाड़ी के पीछे का भाग (सामान रखने के लिए चौड़ा स्थान); **एव** = ही, **हविर्द्धानम्** = हविर्धानमण्डप रूप है।।9।।

रेणु-व्याख्या–वस्तुतः सप्तम मन्त्र में गाड़ी को यज्ञरूप कहा गया है। वह गाड़ी यज्ञरूप किस प्रकार है, इसको स्पष्ट करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यज्ञ में अग्नि, वेदी एवं हविर्धान यह तीन मुख्य स्थान है। वे तीनों स्थान इस शकट में विद्यमान हैं, इस तर्क द्वारा गाड़ी की साम्यता यज्ञ से दिखाते हुए कहते हैं कि–गाड़ी के जिस दण्डे में बैलों को जोता जाता है, वह दण्ड धूः (अक्ष) कहलाता है।

"तुर्वी-थुर्वी। दुर्वी-धुर्वी-हिंसायाम्" (पा. धा 570-573) धातु से धूः का प्रयोग हिंसा के अर्थ में किया है। इसमें बैल जोता जाता है इसलिए इसे जुआ कहते हैं। बैलों के कन्धे पर यह दण्ड घर्षण करता है जिससे वहाँ अग्नि प्रकट होकर बैल के कन्धों को हिंसित करता है अतः यह धूः ही अग्नि है। उस धूः पर 188 अंगुल लम्बी दो ईषा दण्ड पीछे की ओर जाती हुई विस्तृत मुख वाली रखी जाती है। इस ईषा दण्ड के मध्य स्थान, जहाँ पर गाड़ी चालक बैठता है, उसके दोनों जङ्घाओं के बीच से नीचे की ओर एक लकड़ी लगाई जाती है जिसे कस्तम्भी कहते हैं। उसके पास त्रिकोणाकार स्थान है वह प्रउग वेदी है। उससे पीछे जो चौड़ा स्थान है जहाँ वस्तु रखते हैं वह हविर्धान है। इस प्रकार गाड़ी की उपमा यज्ञायतन से देकर गाड़ी को यज्ञरूप बतलाया गया है। इसलिए गाड़ी से हविग्रहण करने की बात कहकर यज्ञ से यज्ञ को ग्रहण करे यह शिक्षा दी गई है।।9।।

1.1.2.10. (6.) स धुरमभिमृशति। धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान्धूर्वति तं धूर्व यं व्वयं धूर्वाम इत्यग्निर्वाऽ एष धुर्यस्तमेतदत्येष्यन्भवति हविर्ग्रहीष्यंस्तस्माऽ एवैतान्निह्नुते तथो हैतमेषो ऽअतियन्तमग्निर्धुर्यो न हिनस्ति।।10।।

ऋजुपाठः—स धुरमभिमृशति—"धूरसि, धूर्व धूर्वन्तं, धूर्व तं—योऽस्मान् धूर्वति, तं धूर्व—यं वयं धूर्वामः" (1 अ. 8 मं.) इति। अग्निर्वा एष धुर्यः, तमेतदत्येष्यन् भवति—हविर्ग्रहीष्यन्। तस्मा एवैतान् निह्नुते। तथो हैतमेषोऽतियन्तमग्निर्धुर्यो न हिनस्ति।।10।।

सा.भा.—औपोद्घातिकं समन्त्रकमभिमर्शनं विधत्ते—**स धुरमिति**। अस्याभिमर्शस्य प्रयोजनमाह—**अग्निर्वा** इति। युगस्य धुरि भवोऽग्निः 'धुर्यः'। "भवे च्छन्दसि" (पा.सू. 4.4.110) इति यत्। हविर्ग्रहणाय शकटस्य 'परिश्रितप्रदेशम्' पश्चाद्भागं यास्यन्, 'तं' धुर्यं पौरस्त्यमग्निमतिक्रमिष्यन् भवति। तदतिक्रमे च स क्रुध्येत्। तस्य प्रसादनाय 'एतद्' धूरसीति मन्त्रोच्चारणेन 'तस्मै' एवाग्नये 'निह्नुते' अपनयति। अतिक्रमजनितं स्वापराधं प्रशमय्य प्रसादयति। "ह्नुङ् अपनयने" धातुः (अदा.आ. 72)। "श्लाघह्नुङ्स्थाशपाम्–"(पा.सू. 1.4.34) इति तच्छब्दाच्चतुर्थी। यश्चास्माकं हिंसिता, योऽप्यस्माभिर्हिंस्यः, 'तं' द्विविधं शत्रुमेव 'धूर्व' हिंस्याः, योऽस्मानिति हि मन्त्रार्थः। तथा सत्येवं प्रार्थितोऽग्निरतिक्रामन्तमप्यध्वर्युं न बाधत इत्यर्थः।।10।।

अन्वयः—स (अध्वर्युः) धुरम् अभिमृशति। धूः असि तं धूर्वन्तं धूर्व यः अस्मान् धूर्वति यं वयं धूर्वामः तं धूर्व इति (उक्त्वा) एष अग्निर्वा धुर्यः तम् अत्येष्यन् एतद् हविर्गहीष्यन् भवति तस्मा एव एतान् निह्नुते तथा उ एषो ह धुर्योऽग्निः एतम् अतियन्तं न हिनस्ति।।10।।

पदार्थः—**सः** = वह (अध्वर्यु), **धुरम्** = जुआ को, **अभिमृशति** = छूता है। **धूरसि** = हे जुआ तुम हिंसक हो, **तं** = उसको, **धूर्वन्तं** = हिंसा करने वाले को, **धूर्व** = हिंसित करो, **यः** = जो, **अस्मान्** = हमें, **धूर्वति** = हिंसित करता है तथा, **यं** = जिसे, **वयम्** = हम, **धूर्वामः** = हिंसित करते हैं, **तं** = उसे, **धूर्व** = तू हिंसित कर, **इति** = इस मन्त्र वाक्य का उच्चारण कर कहता है कि, **एष** = यह जुआ, **अग्निः** = अग्नि ही, **वा** = निश्चयरूप से है, **तम्** = उसको **अत्येष्यन्** = अतिक्रमित कर, **एतद्** = यह, **हविर्गृहीष्यन्** = हवि को लेने की इच्छा वाला, **भवति** = होता है, **तस्मा** = इससे, **एव** = ही, **एतान्** = यज्ञानुष्ठान करने वाले यजमानादियों को, **निह्नुते** = प्रसन्न करता है, तथा ऐसा करने से, **उ** = निश्चय, **एषः** = यह, **धुर्योऽग्निः** =जुआ में रहनेवाला अग्नि, **एतम्** = इसको, **अतियन्तम्** = अतिक्रमित करने वाले को, **न** = नहीं, **हिनस्ति** = हिंसित करता है।।10।।

रेणु-व्याख्या—हविग्रहण करने के लिए जब अध्वर्यु गाड़ी के समीप जाता है तो सर्वप्रथम गाड़ी के धूः (जुआ) का स्पर्श करता है और उस समय "धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं च वयं धूर्वामः" इस (यजु. 1/8) मन्त्र का जप करता है। इस मन्त्र के द्वारा अध्वर्यु गाड़ी के जुए से यह प्रार्थना करता है कि हे जुआ! तुम हिंसा करने वाले हो इसलिए तुम हिंसा करने वाले को हिंसित करो। अर्थात् तुम उस शत्रु की हिंसा करो जो हमें हिंसित करता है। तथा जिस शत्रु की हिंसा हम करना चाहते हैं। चूँकि जुए में अग्नि का वास होता है अतः जुआ अग्नि ही है। अग्नि यज्ञ के बाधकों का विनाशक है। वस्तुतः जब अध्वर्यु हविग्रहण के लिए गाड़ी पर जाएगा तो पहले जुए को पार करेगा तब हवि के पास पहुँचेगा। यदि जुए में स्थित अग्नि को प्रसन्न किए बिना उसे अतिक्रमित करेगा तो अग्नि की मर्यादा की अवहेलना करेगा। इस दोष की निवृत्ति हेतु अध्वर्यु इस मन्त्र के उच्चारण द्वारा पहले उस जुए के अग्नि के समीप यज्ञानुष्ठान करने वाले यजमानादियों को शरणागत करता है, जिससे अग्नि की मर्यादा बनी रहती है और तब हविग्रहण करने के लिए आगे बढ़ता है। ऐसा करने से धुर्य अग्नि (जुआ में स्थित अग्नि) उसे हिंसित नहीं करता है।।10।।

1.1.2.11. तद्ध स्मैतदारुणिराह। (हा) अर्द्धमासशो वाऽअहꣳ सपत्नान्धूर्वामीत्येतद्ध स्म स तदभ्याह।।11।।

ऋजुपाठः—तद्ध स्मैतदारुणिराह—'अर्द्धमासशो वा अहं सपत्नान् धूर्वामि'—इति। एतद्ध स्म स तदभ्याह।।11।।

सा.भा.–तन्मन्त्रोच्चारणेन शत्रुहिंसनं महर्षिव्यवहारेण संवादयति–**तद्धेति**। 'तत्' तत्राभिमर्शनविषये 'एतदारुणिराह स्म'। एतच्छब्दपरामृश्यं दर्शयति–**अर्द्धमासश** इति। मासस्यार्द्धमर्द्धमासः। "अर्द्धं नपुंसकम्" (पा.सू. 2.2.2.) इत्येकवद्भावः। अर्द्धमासेऽर्द्धमासे; पौर्णमास्यां दर्शे च। "सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्" (पा.सू. 5.4.43) इति शस्प्रत्ययः। 'एतद्ध स्म'–इति ऋषेरभिप्रायकथनम्। 'एतत्' इति धूरसीत्यभिमर्शनमित्यर्थः॥11॥

अन्वयः–तत् आरुणिः ह एतत् आह स्म (यत्) अहम् अर्धमासशो वा सपत्नान् धूर्वामि इति, स एतत् तत् ह अभि आह स्म॥11॥

पदार्थः–**तत्** = वहाँ अभिमर्शन के विषय में, **आरुणिः** = आरुणि नामक ऋषि ने, **ह** = निश्चय, **एतत्** = जो यह, **आह** = कहा, **स्म** = था (कि), **अहं** = मैं, **अर्द्धमासशो** = पखवाड़े के अनुसार (दर्श एवं पौर्णमास के अनुसार), **वा** = ही, **सपत्नान्** = शत्रुओं को, **धूर्वामि** = मारता हूँ, **इति** = ऐसा, **सः** = वह, **एतत्** = यह, **तत्** = उस याग के सन्दर्भ में, **ह** = निश्चयरूप से, **अभि** = दोनों ओर से शत्रुओं को मारने की बात को, **आह** = कहा, **स्म** = था॥11॥

रेणु-व्याख्या–वहाँ अभिमर्शन के विषय में जो आरुणि नामक ऋषि ने यह निश्चय कर कहा था कि मैं पखवाड़े के अनुसार अर्थात् आधे महीने के दर्शेष्टि और आधे महीने के पौर्णमासेष्टि याग के अनुष्ठान द्वारा अपने दोनों ओर बाह्याभ्यन्तर (आगे एवं पीछे) के शत्रुओं को मारता हूँ, ऐसा कथन उन्होंने इस दर्शपौर्णमासयाग के सन्दर्भ में ही कहा था कि मैं दोनों ओर से अपने शत्रुओं को मारता हूँ।

तात्पर्य यह है कि दर्शपौर्णमास याग के अनुष्ठान से आरुणि ने अपने बाह्याभ्यन्तर शत्रुओं से लड़ने की शक्ति प्राप्त की थी। देवताओं ने भी इस याग का अनुष्ठान इसी हेतु से किया था। अत एव यह यजमान अपने शत्रुओं को नष्ट करने के अभिप्राय से दर्शपौर्णमास याग का अनुष्ठान करता है॥11॥

[ईशाभिमर्शनम्]

1.1.2.12 (हा) अथ जघनेन कस्तम्भीमीषामभि- मृश्य जपति। देवानामसि वह्नितम ꣳ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम्। अह्रुतमसि हविर्द्धानं दृꣳह स्व मा ह्वारित्यन ऽएवैतदुपस्तौत्युपस्तुताद्रातमनसो हविर्गृह्णानीति मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीदिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद् यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते॥12॥

ऋजुपाठः–अथ जघनेन कस्तम्भीमीषामभिमृश्य जपति–"देवानामसि वह्नितमꣳसस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम्" (1 अ. 8 मं.) "अह्रुतमसि हविर्द्धानं दृꣳहस्व मा ह्वाः" (1 अ. 9 मं.) इति अन एवैतदुपस्तौति–'उपस्तुताद्रातमनसो हविर्गृह्णानि'–इति। "मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्" (1 अ. 9 मं.) इति। यजमानो वै यज्ञपतिः। तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते।।12।।

सा.भा.–अथ समन्त्रकमीषाभिमर्शनं विधत्ते-**अथ जघनेनेति।** 'कस्तम्भी' व्याख्याता। **अन एवेति।** यद्यप्ययं मन्त्र ईशाभिमर्शने जप्यः, तथाप्यवयविस्तुत्यावयवोऽपि स्तुतो भवतीत्यभिप्रेत्यैतन्मन्त्रवाक्यं वोढृतमत्वादिगुणकथनेनान एवोपस्तौति। अभिमृष्टव्येषापरित्यागेन तदवयवि शकटं स्तुवतोऽभिप्रायमाह–उपस्तुतादित्यादिना। 'ध्रातं' तृप्तम्। देवानां तृप्तिजनने पर्याप्तमित्यर्थः। "ध्रै तृप्तौ"–इति भौवादिको (932) धातुः। **अह्वलामाशास्ते** इति। 'यज्ञपतिर्मार्ह्वार्षीत्' कुटिलगतिर्मा भवत्विति मन्त्रवाक्ये प्रतिपादनात् ह्वरणनिषेध एव 'अह्वला' शब्दार्थः।।12।।

अन्वयः–अथ जघनेन कस्तम्भीमीषाम् अभिमृश्य–"देवानां वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् असि। अह्रुतं हविर्द्धानम् असि दृंहस्व मा ह्वाः इति जपति (अनेन मन्त्रेण) अन एव एतत् उपस्तौति उपस्तुतात् रातमनसो हविर्गृह्णानि इति।" ते यज्ञपतिः मा ह्वार्षीत् "इति यजमानो वै यज्ञपतिः तद् एतद् अह्वलां यजमानाय एव आशास्ते।।12।।

पदार्थः–**अथ** = इसके बाद, **जघनेन** = पीछे की ओर, **कस्तम्भीम्** = शकट के ईषा दण्ड को टिकाने वाली लकड़ी (धारकदण्ड), **ईषाम्** = दोनों ईषा दण्डों को, **अभिमृश्य** = स्पर्श करके, **देवानां** = देवों का, **वह्नितमं** = सर्वश्रेष्ठ वाहक, **सस्नितमं** = सम्यक्तया चर्मरज्जुओं से वेष्टित और अत्यन्त शुद्ध, **पप्रितमं** = व्रीहि आदि धान्य से परिपूर्ण, **जुष्टतमं** = देवताओं के अत्यन्त प्रिय एवं सेवक, **देवहूतमम्** = देवों के आह्वान का श्रेष्ठ साधन, **असि** = हो, **अह्रुतम्** = कुटिलता (वक्रता) से रहित, **हविर्द्धानं** = व्रीहिरूप हवियों के धारक, **असि** = हो, (अतः), **दृंहस्व** = दृढ़ रहो, **मा ह्वाः** = कुटिल मत बन, **इति** = इस प्रकार यजुर्वेदोक्त मन्त्र का, **जपति** = जप करके गाड़ी की स्तुति करता है। इस स्तुति द्वारा, **अन** = गाड़ी की, **एव** = ही, **एतत्** = यह (अध्वर्यु), **उपस्तौति** = स्तुति करता है, **उपस्तुतात्** = स्तुति की हुई, **रातमनसः** = दत्तमनस्क (देने की इच्छा मन में रखने वाली गाड़ी से), **हविर्गृह्णानि** = हवि ग्रहण करूँ, **इति** = ऐसा विचारकर, स्तुति करता है। **ते**

= तुम्हारा, **यज्ञपतिः** = यजमान, **मा ह्वार्षीत्** = कुटिलता न करे, **इति** = ऐसा कहता है। **यजमानो** = यजमान, **वै** = ही (निश्चय), **यज्ञपतिः** = यज्ञ का पालक है, **तद्** = इसलिए, **एतत्** = यह, **अह्वलां** = दृढ़ता (अविचलता), **यजमानाय** = यजमान के लिए, **एव** = ही, **आशास्ते** = कामना करता है॥12॥

रेणु-व्याख्या–दर्शपौर्णमास यज्ञ के अनुष्ठान द्वारा मासार्धों से शत्रुविनाशन रहस्य का प्रतिपादन करने के उपरान्त अध्वर्यु शकट के ईषा दण्ड को पृथ्वी पर न गिरने देने के लिए उसमें नीचे की ओर लगी उपस्तम्भन काष्ठ (कस्तम्भी) को स्पर्श कर (यजुर्वेदोक्त 1/9) मंत्र का जप करता हुआ शकट से कहता है कि–'हे शकट! तुम देवताओं के लिए हवियों को ढोने का सर्वश्रेष्ठ माध्यम हो, तुम चारों ओर भलीभाँति चर्मरज्जुओं से वेष्टित और अत्यन्त शुद्ध हो, व्रीहि यवादि धान्यों से परिपूर्ण हो, देवताओं के अत्यन्त प्रियकर एवं सेवक हो, देवताओं को यज्ञ में बुलाने का श्रेष्ठ साधन हो, कुटिलता (वक्रता) से रहित हो, व्रीह्यादिरूप हवि को धारण वाले हो। अतः तुम दृढ़ रहो कभी टेढ़े मेढ़े आदि कुटिलता से युक्त न होवो, इस प्रकार मन्त्रोच्चारण द्वारा शकट की स्तुति करता है। प्रार्थना से प्रसन्न तथा हवि प्रदान करने की इच्छा मन में रखने वाले शकट से हवि ग्रहण करूँ ऐसा विचारकर अध्वर्यु शकट की स्तुति करता है। पुनः अध्वर्यु कहता है कि–हे शकट! तुम्हारा यजमान भी कभी कुटिलता न करे। क्योंकि यजमान ही यज्ञपति (यज्ञ का पालक) है इसलिए यह दृढ़ता (अविचलता) यजमान के लिए ही चाहता है (माँगता है)। आचार्य सायण कहते हैं कि–**अवयविस्तुत्या अवयवोऽपि स्तुतो भवति** अर्थात् अवयवी की स्तुति करने से अवयव भी स्तुत्य हो जाता है। अतः यह स्तुति ईषा रूप शकट के अवयव को स्पर्श किया जाता हुआ शकट रूप एवं यजमान रूप अवयवी के लिए भी होती है। अतः ईषाभिमर्शन के समय इस मन्त्र का जप अध्वर्यु करता है॥12॥

[शकटारोहणम्]

1.1.2.13. (स्तेऽथा) अथाक्रमते। व्विष्णुस्त्वाक्रमतामिति यज्ञो वै व्विष्णुः स देवेभ्य इमां व्विक्रान्तिं व्विचक्रमे यैषामियं व्विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैताम्वेवैषऽएतस्मै व्विष्णुर्यज्ञो व्विक्रान्तिं व्विक्रमते॥13॥

ऋजुपाठः–अथाक्रमते–**"विष्णुस्त्वाक्रमताम्"** (1 अ. 9 मं.) इति। यज्ञो वै विष्णुः। स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे। यैषामियं विक्रान्तिः। इदमेव प्रथमेन पदेन पस्पार, अथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन, दिवमुत्तमेन। एतामु–एवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते।।13।।

सा.भा.–शकटस्यारोहणं विधत्ते–**अथाक्रमत** इति। हे शकट! त्वां विष्णुरेवाक्रमताम्, नाहमिति मन्त्रार्थः। विष्णोरेवाक्रमणं किमिति प्रार्थ्यते? इति चेत्, तत्राह–**यज्ञो वा** इत्यादि। विष्णोर्यज्ञस्य च व्यापनसामान्यात्तादात्म्यव्यपदेशः 'एषाम्' देवानामर्थे या 'इयम्' वैष्णवी विक्रान्तिः, इमामिति पूर्वत्रान्वयः। का पुनरियमिति? तां दर्शयति–**इदमेवेत्यादिना।** त्रैविक्रमसमये 'इदमेव' परिदृश्यमानं पृथिव्याख्यं स्थानं प्रथमेन पादनिधानेनाक्रममाणः 'पस्पार' पालयामास। "स्पृ प्रीतिपालनयोः" (स्वा. प. 33) इति धातुः। निगदसिद्धमन्यत्।।13।।

अन्वयः–अथ विष्णुः त्वा आक्रमताम् इति (मन्त्रेण) आक्रमते। यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे यैषां (देवानां) इयं विक्रान्तिः इदमेव प्रथमेन पादेन पस्पार अथ द्वितीयेन इदमन्तरिक्षम् उत्तमेन दिवम्। एताम् विक्रान्तिं एव एषः विष्णुर्यज्ञः एतस्मै विक्रमते।।13।।

पदार्थः–**अथ** = इसके बाद, **विष्णुः** = सर्वव्यापक विष्णु, **त्वा** = तुझ पर, **आक्रमताम्** = पाद निक्षेप करे, **इति** = यह मन्त्र बोलकर, **आक्रमते** = (अध्वर्यु) गाड़ी के दाहिने पहिये पर पैर रखकर चढ़ता है। **यज्ञो** = यज्ञ, **वै** = ही, **विष्णुः** = विष्णु है, **स** = उसने (उस विष्णु ने), **देवेभ्यः** = देवताओं के लिए, **इमां** = इस, **विक्रान्तिं** = पादनिक्षेप रूप विक्रान्ति को, **विचक्रमे** = विशिष्ट रूप से क्रमित किया। **यैषां** = जो इन देवताओं की, **इयं** = यह, **विक्रान्तिः** = विशिष्ट क्रान्ति (गति का मार्ग) है उनके लिए, **इदम्** = इस पृथिवी लोक को, **एव** = ही, **प्रथमेन** = प्रथम, **पादेन** = पैर से, **पस्पार** = जीता, **अथ** = तदनन्तर, **द्वितीयेन** = दूसरे (पैर) से, **इदमन्तरिक्षम्** = इस अन्तरिक्ष को जीता, **उत्तमेन** = तीसरे पैर से, **दिवम्** = द्युलोक को जीता। **एताम्** = इस, **एव** = ही, **विक्रान्तिं** = विशिष्ट क्रान्ति को, **उ** = निश्चितरूप से, **एषः** = यह, **विष्णुर्यज्ञः** = यज्ञात्मक विष्णु, **एतस्मै** = इस यजमान के लिए, **विक्रमते** = विशिष्ट रूप से पादनिक्षेप करता है।।13।।

रेणु-व्याख्या–ईषाभिमर्शन के बाद शकट पर से हवि लेने के लिए अध्वर्यु शकट (गाड़ी) पर चढ़ने के समय 'विष्णुस्त्वाक्रमताम्' इस यजुर्वेदीय (1/9) मन्त्र का पाठ करता है। इस मन्त्रपाठ का तात्पर्य है कि यज्ञ देवता से सम्बन्धित है और देवताओं में श्रेष्ठ विष्णु है, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है "अग्निर्वै देवानामवमः परमो विष्णुः" (ऐ.ब्रा. 1.1.1) अर्थात् अग्नि देवताओं का

मुख है तथा विष्णु देवताओं में श्रेष्ठ हैं। समस्त देवात्माओं में श्रेष्ठ (परम) होने के कारण विष्णु को परमात्मा कहा जाता है।

यह यज्ञ देवताओं द्वारा ही सम्पादित होता है इसीलिए यजमान व्रतग्रहण के समय देवत्व प्राप्ति का संकल्प लेता है। अध्वर्यु इस मन्त्र वाक्य द्वारा यह स्पष्ट करना चाहता है कि यह हविग्रहण मैं अपने स्वार्थ के लिए नहीं अपितु यज्ञ के लिए कर रहा हूँ। यज्ञ देवताओं के निमित्त तथा देवसाध्य है। अतः यज्ञ का अधिष्ठाता देवता सर्वव्यापक विष्णु तुझ पर चढ़े इस वाक्य का प्रयोग करता हुआ अध्वर्यु गाड़ी के दाहिने पहिये पर पैर रखकर चढ़ता है।

चूँकि यज्ञ ही विष्णु है, उस विष्णु ने देवताओं के लिए इस पादनिक्षेप रूप विक्रान्ति को किया था। वस्तुतः ये तीनों लोक देवताओं की क्रान्तियाँ हैं, उन देवताओं के लिए विष्णु ने अपने प्रथम पैर से पृथिवीलोक को, द्वितीय पैर से अन्तरिक्ष लोक को तथा उत्तम (तृतीय) पैर से द्युलोक को जीता है जिस प्रकार विष्णु ने देवताओं को उनकी विशिष्टक्रान्ति प्राप्त करवाया था उसी प्रकार अध्वर्यु यजमान को प्राप्त करवाना चाहता है इसलिए यह विष्णवाक्रमण करता है।

इसी विष्णवाक्रमण की प्रक्रिया को पुराणों में भगवान् वेदव्यास ने बड़ा रोचक ढंग से वामन एवं बलि के प्रसङ्ग द्वारा प्रस्तुत किया है जो अभिनयात्मक होते हुए विष्णु के पारमार्थिक स्वरूप को प्रकट करता है।

ऋग्वेद में यज्ञस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—**चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।** यहाँ त्रयो अस्य पादा यह वाक्यांश बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। संसार में जितने भी जीव हैं, सबकी तीन मुख्य अवस्थाएँ, बाल्य यौवन एवं जरा होती हैं। इन तीनों अवस्था रूप क्रान्तिवृत्तों को पार कर ही जीव विष्णु के परमधाम को प्राप्त करने में समर्थ हो पाता है। अतः विष्णु के त्रिविक्रम स्वरूप का स्मरण भगवत् शरणागति के लिए परमावश्यक है। यज्ञ का भी यही उद्देश्य है। इसलिए अध्वर्यु इस मन्त्र का जप कर हविग्रहण के समय गाड़ी पर चढ़ता है।।13।।

[हविःप्रेक्षणम्]

1.1.2.14. (तेऽथ) अथ प्रेक्षते। (तऽ) उरु व्वातायेति प्राणो वै व्वातस्तद्ब्रह्मणैवैतत्प्राणाय व्वातायोरुगायं कुरुते।।14।।

ऋजुपाठः—अथ प्रेक्षते—"**उरु वाताय**" (1 अ. 9 मं.) इति। प्राणो वै वातः, तद् ब्रह्मणैवैतत्प्राणाय वातायोरुगायं कुरुते।।14।।

सा.भा.—पुरोडाशीयानां व्रीहीणां समन्त्रकमवेक्षणं विधत्ते—**अथ प्रेक्षत** इति। **प्राणो वा** इति। "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" (ऐ.ब्रा. 1.4.2.4) इति श्रुतेः प्राणवातयोरेकत्वम्। 'तत्' तथा सति 'ब्रह्मणा' मन्त्रेणैव प्राणात्मकाय 'वाताय' एतत् 'उरुगायम्' उरुभवनं कीर्त्तनं कुरुत इत्यर्थः।।14।।

अन्वयः—अथ उरु वातायेति प्रेक्षते। प्राणो वै वातः तद् ब्रह्मणा एव एतत् प्राणाय वाताय उरुगायं कुरुते।।14।।

पदार्थः—**अथ** = इसके बाद (अध्वर्यु), **उरु** = विस्तीर्ण (पुष्कल) हो जाओ, **वाताय** = वायु के लिए, **इति** = इस मन्त्रांश का पाठ कर, **प्रेक्षते** = गाड़ी पर स्थित व्रीहि यवादि हविर्द्रव्य को देखता है। चूँकि **प्राणः** = प्राण, **वै** = ही (निश्चय), **वायुः** = वायु है, **तत्** = इसलिए, **ब्रह्मणा** = मन्त्र द्वारा, **एव** = ही, **एतत्** = वह, **प्राणाय** = (यजमान के) प्राण के लिए, **वाताय** = वायु के लिए, **उरुगायं** = पर्याप्त स्तुति, **कुरुते** = करता है।।14।।

रेणु-व्याख्या—शकट पर चढ़ने के उपरान्त अध्वर्यु गाड़ी पर स्थित व्रीहि यवादि धान्य रूप हविर्द्रव्य को 'उरु वाताय' (यजु. 1/9) इस मन्त्रांश का पाठ कर कि हे हविद्रव्य! तुम वायु के लिए पुष्कल (विस्तीर्ण) हो जाओ, उसे देखता है। यहाँ इस मन्त्र के प्रयोग का हेतु बताते हुए शतपथकार कहते हैं कि प्राण ही वायु है। इसलिए इस मन्त्र के प्रयोग द्वारा वह (अध्वर्यु) यजमान के प्राणवायु को विस्तृत करता है। चूँकि यह प्राण किसी एक ही व्यक्ति या स्थान से सम्बन्धित नहीं है, यह सार्वकालिक और सार्वत्रिक हो, पर्याप्त मात्रा में हो ताकि यजमान एवं उसके सम्बन्धी प्रजाओं को भी पर्याप्त मात्रा में वह मिल सके, इसलिए अध्वर्यु प्राण का बहुत कीर्तन करता है। यहाँ प्राणवायु रूप हविर्द्रव्य ही अभीष्ट है।।14।।

[तृणनिरसनम्]

1.1.2.15. (तेऽथा॒) अथा॒पास्यति। (त्य॒) अ॒पहतꣳ र॒क्ष इति यद्य॒त्र कि॒ञ्चिदा॒पन्नं भ॒वति य॒द्यु॒ ना॒भ्येव॒ मृशेत्ता॒न्नाष्ट्रा॒ऽ एवैतद्र॒क्षाꣳस्यतो॒ऽपहन्ति।।15।।

ऋजुपाठः–अथापास्यति–"अपहतꣳ रक्षः" (1 अ. 9 मं.) इति। यद्यत्र किञ्चिदापन्नं भवति, यद्यु नाभ्येव मृशेत्, तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्ति॥15॥

सा.भा.–यद्यत्रेति। 'अत्र' पुरोडाशीयेषु व्रीहिषु यदि किञ्चित्तृणादिकम् 'आपन्नम्' क्षिप्तं भवेत्, तत् "अपहतम्" इति मन्त्रेण निरस्येदित्यर्थः। यदि तु तत्र तृणादिकं न भवेत्, तदा पुरोडाशीयं व्रीहिसमूहमेवानेन मन्त्रेणाभिमृशेदित्यर्थः॥15॥

अन्वयः–अथ अपहतं रक्ष इति (मन्त्रेण) यदि अत्र किञ्चिदापन्नं भवति (तत्) अपास्यति। यदि उ न एव अभिमृशेत् तत् नाष्ट्रा एव एतत् रक्षांसि अतो अपहन्ति॥15॥

पदार्थः–**अथ** = इसके बाद, **अपहतं** = दूर कर दिया (मार भगाया), **रक्षः** = यज्ञबाधक राक्षस को, **इति** =ऐसा (यजु. 1/9) मंत्रांश को पढ़कर, **यदि** = यदि, **अत्र** = यहाँ (हविर्द्रव्य पर), **किञ्चित्** = कुछ तृणादि, **आपन्नं** = पड़ा हुआ, **भवति** = होता है तो उसे, **अपास्यति** = दूर फेंक देता है। **यदि** = अथवा यदि, **उ** = निश्चय, **न** = नहीं, **एव** = ही, कुछ हो तो, **अभिमृशेत्** = हविर्द्रव्य को स्पर्श कर मन्त्र पढ़े, **तत्** = इस प्रकार, **नाष्ट्रा** = नाशकारी, **एव** = ही, कुछ हो तो **अभिमृशेत्** = हविर्द्रव्य को स्पर्श कर मन्त्र पढ़े, **तत्** = इस प्रकार, **नाष्ट्रा** = नाशकारी, **एव** = ही, **एतत्** = यह, **रक्षांसि** = राक्षसों को, **अतो** = यहाँ से, **अपहन्ति** = नष्ट करते हैं, अपेक्षा पूरा करते हैं॥15॥

रेणु-व्याख्या–हवि को देखने के उपरान्त अध्वर्यु **अपहतं रक्षः** (यजु. 1/9) राक्षसों को मार भगाया इस मन्त्रांश का पाठकर यदि हविर्द्रव्य पर कोई घास तृणादि पड़ा हुआ हो तो उसे उठाकर दूर फेंक देता है। यदि कुछ अपद्रव्य न हो तो मन्त्र पाठकर हवि को स्पर्श कर अभिमन्त्रित करता है। ऐसा करने से हवि में व्याप्त राक्षसवत् दुष्ट एवं नाशकारी विषाणु आदि तत्त्व भी निश्चित रूप से नष्ट हो जाते हैं। इसलिए यह प्रयोग यहाँ अवश्य करे, ताकि शुद्ध हवि यज्ञ के लिए ग्रहण करना जो उसका अभीष्ट है, वह सिद्ध हो॥15॥

1.1.2.16. (न्त्य) अथाभिपद्यते। यच्छन्तां पञ्चेति पञ्च वाऽ इमा अङ्गुलयः पाङ्क्तो वै यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतदत्र दधाति॥16॥

ऋजुपाठः–अथाभिपद्यते–"यच्छन्तां पञ्च" (1 अ. 9 मं.) इति। पञ्च वा इमा अङ्गुलयः, पाङ्क्तो वै यज्ञः। तद्यज्ञमेवैतदत्र दधाति॥16॥

सा.भा.–हविर्ग्रहणाय समन्त्रकं स्पर्शनं विधत्ते–**अथाभिपद्यत** इति। 'अभिपद्यते' आलभते, स्पृशति। हविर्ग्रहीतुं बध्नन्तु पञ्चाङ्गुलय इत्यर्थः। मन्त्रगतपञ्चशब्दार्थमाह–**पाङ्क्तो वा** इति। "पञ्चपदा पङक्तिः" (ऐ.ब्रा. 6.4.4.) यज्ञोऽपि धानाकरम्भादिपञ्चहविष्क इति पञ्चसंख्यायोगसाम्यात् 'पाङ्क्तः' तथा च तैत्तिरीयकम्–"धानाः करम्भः परिवापः पुरोडाशः पयस्या, तेन पङ्क्तिराप्यते; तद्यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम्" (तै.सं. 6.5.11.8.) इति। 'तत्' तथा सति 'एतत्' एतेन पञ्चशब्दोपेतमन्त्रोच्चारणेन 'अत्र' अस्मिन् शकटे 'पाङ्क्तम्' यज्ञमेव धारयतीत्यर्थः।।16।।

अन्वयः–अथ यच्छन्तां पञ्चेति अभिपद्यते। पञ्च वा इमा अङ्गुलयः पाङ्क्तो वै यज्ञः तत् यज्ञमेव एतत् अत्र दधाति।।16।।

पदार्थः--**अथ** = उसके बाद (तृण निरसन के बाद), **यच्छन्तां** = संयमित करें (ग्रहण करें), **पञ्च** = पाँच संख्या में, **वै** = ही, **अङ्गुलयः** = हाथ की अङ्गुलियाँ हैं और, **पाङ्क्तः** = पाँच अवयव वाला, **वै** = ही, **यज्ञः** = यज्ञ है, **तत्** = इसलिए, **यज्ञमेव** = यज्ञ को ही, **एतत्** = इस प्रकार पाँच अङ्गुलियों से हविग्रहण कर, **अत्र** = यहाँ, **दधाति** = धारण करता है।।16।।

रेणु-व्याख्या–वस्तुतः पञ्च परमेश्वर है। चूँकि पाँच महाभूतों की समष्टि ही संसार है, वह संसार ईशावास्य है। अतः जहाँ परमात्मा का निवास है वह सब परमात्म रूप से ही कल्पित होता है। इस प्रकार अध्वर्यु हविर्द्रव्य के ऊपर से तृणापासन करने के उपरान्त 'यच्छन्तां पञ्च' अर्थात् पञ्च परमेश्वर इसे ग्रहण करें इस भाव से इस (यजु. 1/9) मन्त्रांश का पाठ कर हवि को हाथ से लेता है। चूँकि हाथ में पाँच ही अङ्गुलियाँ होती हैं तथा यज्ञ में धाना, करम्भ, परिवाप, पुरोडाश तथा पयस्या इन पाँच हवियों के प्रयोग होने के कारण यज्ञ को पञ्चहविष्क कहते हैं। इसके साथ यज्ञ के पाँच अवयव भी कहे गए हैं–अनुष्ठानकाल, ऋत्विज, द्रव्य, दक्षिणा एवं फल। इसलिए पञ्चावयव वाले यज्ञ को सम्पादित करने हेतु अध्वर्यु पञ्चाङ्गुलियुक्त हाथ से हविग्रहण करता है। इस प्रकार हविग्रहण करने से मानो वह पञ्चावयव यज्ञ को ही धारण करता है।।16।।

[हविर्ग्रहणम्]

1.1.2.17. (त्यु) अथ गृह्णाति। देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं गृह्णामीति सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत

एवैतद्गृह्णात्यश्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा भागदुघोऽशनं पाणिभ्यामुपनिधाता सत्यं देवा अनृतं मनुष्यास्तत्सत्येनैवैतद्गृह्णाति॥17॥

ऋजुपाठः—अथ गृह्णाति—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं गृह्णामि" (1 अ. 10 मं.) इति। सविता वै देवानां प्रसविता। तत्सवितृप्रसूत एवैतद् गृह्णाति। अश्विनोर्बाहुभ्यामिति। अश्विनावध्वर्यू। पूष्णो हस्ताभ्यामिति। पूषा भागदुघः, अशनं पाणिभ्यामुपनिधाता। सत्यं देवाः, अनृतं मनुष्याः, तत्सत्येनैवैतद्गृह्णाति॥17॥

सा.भा.—अथ समन्त्रकं स्पर्शनं विधत्ते—**अथ गृह्णातीति।** अनुष्ठेयहविर्ग्रहणानुगुण्यं मन्त्रस्य दर्शयति—**सविता वा** इत्यादिना। 'देवानाम्' मध्ये 'सविता' खलु 'प्रसविता' स्वस्वव्यापारेषु सर्वस्य लोकस्य प्रेरयिता। "सूते प्रेरयतीति सविता" (निघ. 5.4.20.)— (निरु. 7.7.9.) इति तन्नामव्युत्पत्तेः। **अश्विनावध्वर्यू** इति। पुरा खलु देवकर्तृके यज्ञेऽश्विनावध्वर्यू अभूताम्, अतस्तयोरेव बाहुभ्यां हविर्गृह्णामीत्यस्यार्थस्य प्रतिपादको मन्त्रभागो युक्त इत्यर्थः। पूषा भागदुघ इति। भागं दोग्धीति 'भागदुघः' भागप्रद इत्यर्थः। "दुहः कब् घश्च" (पा.सू. 3.2.70) इति कब्घत्वे। तादृशः पूषा पाणितलाभ्यां सर्वस्य जनस्य 'अशनम्' भोज्यमन्नम् 'उपनिधाता' उपनिधातुमुपस्थापयितुं शीलवान्। ताच्छीलिकस्तृन्। "न लोकाव्ययनिष्ठा" (पा.सू.2.3.69) इति कर्मणि षष्ठ्याः प्रतिषेधः। तथा च पूषादेवताया हस्ताभ्यां हविर्ग्रहणं युक्ततरमिति भावः। इतोऽप्यश्विनोर्बाहुभ्यामित्यादिकं युक्तमित्याह—सत्यं देवा इति। 'देवाः' इति यत् तत् 'सत्यम्'; अमरणत्वेन विनाशाभावात्। मनुष्यास्तु तद्वैपरीत्यादनृतरूपाः तस्मादश्विनोर्बाहुभ्यामित्यादिमन्त्रभागोच्चारणाद्देवतारूपेण 'सत्येनैव' तद्धविर्ग्रहणं कृतं भवतीत्यर्थः॥17॥

अन्वयः—अथ सवितुः देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् अग्नये जुष्टं त्वा गृह्णामि इति गृह्णाति। सविता वै देवानां प्रसविता, तत्सवितृप्रसूत एव एतत् गृह्णाति अश्विनोर्बाहुभ्यां इति अश्विनौ अध्वर्यू पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा भागदुघः अशनं पाणिभ्यां उपनिधाता सत्यं देवा अनृतं मनुष्याः तत्सत्येन एव एतत् गृह्णाति॥

पदार्थः—**अथ** = इसके बाद, **सवितुः** = सविता नामक, **देवस्य** = देव विशेष की, **प्रसवे** = आज्ञा में, **अश्विनोर्बाहुभ्यां** = अश्विनीकुमार युगलदेवों की भुजाओं से, **पूष्णो** = पूषा देवता की, **हस्ताभ्यां** = हाथों से, **अग्नये** = अग्नि के लिए, **जुष्टं** = प्रीतिकर, **त्वा** = तुझे, **गृह्णामि** = ग्रहण करता हूँ, **इति** = यह मन्त्र बोलकर, **गृह्णाति** = अध्वर्यु ग्रहण करता है। **सविता** = सविता देवता प्रेरित, **एव** = ही, **एतत्** = इस हवि को, **गृह्णाति** = ग्रहण करता है, **अश्विनोर्बाहुभ्याम्** = अश्विनीकुमार की हाथों से (लेता हूँ), **इति** = यह इसलिए कहता है कि, **अश्विनौ** = दोनों

अश्विनीकुमार ही, **अध्वर्यू** = अध्वर्युरूप हैं, **पूष्णः** = पूषा देव के, **हस्ताभ्यां** = हाथों से, **इति** = यह जो कहता है उसका हेतु देता है कि **पूषा** = पूषा देव, **भागदुघः** = भाग प्रदाता है, **अशनम्** = भोजन को, **पाणिभ्याम्** = हाथों से, **उपनिधाता** = उपस्थित करने वाला है, **सत्यम्** = सत्यस्वरूप, **देवाः** =देवता है, **अनृतं** = असत्य (झूठ), **मनुष्याः** = मनुष्य हैं, **तत्** = इसलिए, **सत्येन** = देवताओं के माध्यम से, **एव** = ही, **एतत्** = यह हवि, **गृह्णाति** = (अध्वर्यु) ग्रहण करता है।।17।।

रेणु-व्याख्या–अध्वर्यु पञ्चावयव सहित हाथों से हविग्रहण का संकल्प लेने के बाद देवताओं के प्रेरक सविता देवता की आज्ञा से अश्विनी कुमारों की भुजाओं से तथा पूषा देवता के हाथों से अग्नि को प्रिय लगने वाली हे हवि! हम तुम्हें ग्रहण करते हैं इस प्रकार के (यजु. 1/10) मन्त्रांश का पाठकर हविष्यान्न ग्रहण करता है। चूँकि सविता देवता निश्चितरूप से सभी देवों के प्रेरक हैं, इसलिए सविता द्वारा प्रेरित ही इस हवि का ग्रहण करता है क्योंकि यज्ञ देवों के निमित्त है, यह जो कहता है कि अश्विनी कुमारों की भुजाओं से ग्रहण करता हूँ यह इसलिए कहता है कि–"पहले देवताओं द्वारा अनुष्ठित यज्ञ में अश्विनी कुमारों ने अध्वर्यु का काम किया था।" इस प्रकार अश्विनी कुमार जो युगल देवता हैं वही अध्वर्यु के दोनों हाथ हैं, इसलिए अध्वर्यु कहता है कि यह यज्ञ मैं अपने स्वार्थ के लिए नहीं अपितु देवताओं की प्रसन्नता के लिए करने जा रहा हूँ। अत एव देवताओं के निमित्त ग्रहणीय हवि को मैं अश्विनी कुमार की भुजाओं से लेता हूँ। पुनः यह प्रश्न उठता है कि "पूष्णो हस्ताभ्याम्" यह क्यों कहता है? तो इसका उत्तर शतपथकार देते हैं कि पूषा भाग (अंश) प्रदान करने के स्वभाव वाला है। भोजन हाथों से किया जाता है, अतः हाथ का स्वभाव भी भाग प्रदान करने वाला ही है। चूँकि सत्य केवल देवता है, मनुष्य अनृत (झूठ) है, यह यज्ञ देवताओं के निमित्त है इसलिए देवताओं के माध्यम से ही हविग्रहण रूप कर्म सम्पादित करता है।।17।।

[देवतादेशनम्]

1.1.2.18. (त्य) अथ देवतायाऽआदिशति। सर्व्वा ह वै देवताऽ अध्वर्युꣳहविर्ग्रहीष्यन्तमुपतिष्ठन्ते मम नाम ग्रहीष्यति मम नाम ग्रहीष्यतीति ताभ्यऽ एवैतत्सहसतीभ्योऽसमदं करोति।।18।।

ऋजुपाठः–अथ देवताया आदिशति। सर्वा ह वै देवता अध्वर्युं हविर्ग्रहीष्यन्तमुपतिष्ठन्ते–'मम नाम ग्रहीष्यति, मम नाम ग्रहीष्यति'–इति। ताभ्य एवैतत् सहसतीभ्योऽसमदं करोति।।18।।

सा.भा.–"अग्नये जुष्टम्"–इति देवतादेशनस्यावश्यकर्तव्यतां प्रतिपादयति–**सर्वा ह वा** इत्यादिना। स्वस्वनामग्रहणसंभावनयोपस्थितानां मध्ये कस्याश्चिदग्न्यादिदेवताया आदेशने सति सहवर्तमानाः। ताभ्यः षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। तासां देवतानाम् 'असमदम्' अकलहं परस्परमविरोधं करोति।।18।।

अन्वयः–अथ देवतायाः (नाम) आदिशति, सर्वा ह वै देवता हविर्ग्रहीष्यन्तं अध्वर्युम् उपतिष्ठन्ते मम नाम ग्रहीष्यति मम नाम ग्रहीष्यति इति सह सतीभ्यः ताभ्य एव एतत् असमदं करोति।।18।।

पदार्थः–**अथ** = हविग्रहण के लिए हाथ को आगे बढ़ाने के बाद, **देवतायाः** = देवताओं के (नाम का), **आदिशति** = निर्देश करता है, क्योंकि, **सर्वा** = सभी, **ह** = प्रसिद्ध, **वै** = ही, **देवता** = देवगण, **हविर्ग्रहीष्यन्तम्** = हविग्रहण करने वाले, **अध्वर्युम्** = अध्वर्यु के, **उपतिष्ठन्ते** = पास आते हैं, **मम** = मेरा, **नाम** = नाम, **ग्रहीष्यति** = लेगा, **मम**= मेरा, **नाम** = नाम, **ग्रहीष्यति** = लेगा, **इति** = ऐसा आपस में विचार करते हुए, **सह** = साथ, **सतीभ्यः** = रहनेवालों के लिए, **ताभ्यः** = उन देवों के लिए, **एव** = ही, **एतत्** = यह (नाम निर्देश रूप कार्य कर) अध्वर्यु, **असमदं** = अविरोध पूर्वक सामञ्जस्य, **करोति** = स्थापित करता है।।18।।

रेणु-व्याख्या–जब अध्वर्यु हविग्रहण के लिए हाथ को आगे बढ़ाता है तो उस समय देवताओं के नाम का निर्देशकर हविग्रहण करता है **अग्नये त्वा जुष्टं गृह्णामि, अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं गृह्णामि** इस प्रकार देवताभेद से देवता नामों का निर्देश करता हुआ हविग्रहण करता है। चूँकि जब अध्वर्यु हविग्रहण के लिए प्रवृत्त होता है तो जितने भी प्रसिद्ध देवता हैं वे सभी अध्वर्यु के पास यह कहते हुए आ जाते हैं कि मेरा नाम लेगा मेरा नाम लेगा। उस समय देवताओं के बीच कलह जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उस कलह रूप विरोध को दूर करने के लिए अध्वर्यु देवता नाम का निर्देश करता है। ऐसा करने से साथ-साथ आए हुए देवताओं के बीच अध्वर्यु सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करता है इसलिए नामनिर्देशपूर्वक हविग्रहण करता है।।18।।

1.1.2.19. यद्वेव देवतायाऽआदिशति। यावतीभ्यो ह वै देवताभ्यो हवीꣳषि गृह्यन्तऽ ऋणमु हैव तास्तेन मन्यन्ते यदस्मै तं कामꣳ समर्द्धयेयु- र्यत्काम्या गृह्णाति तस्माद्वै देवतायाऽआदिशत्येवमेव यथापूर्व्वꣳ हवीꣳषि गृहीत्वा॥19॥

ऋजुपाठः—यद्वेव देवताया आदिशति। यावतीभ्यो ह वै देवताभ्यो हवींषि गृह्यन्ते, ऋणमु हैव तास्तेन मन्यन्ते—यदस्मै तं कामं समर्द्धयेयुः, यत्काम्या गृह्णाति। तस्माद्वै देवताया आदिशति। एवमेव यथापूर्वं हवींषि गृहीत्वा॥19॥

सा.भा.—प्रकारान्तरेणापि देवतादेशनस्य कर्तव्यतां प्रतिपादयति—**यावतीभ्य** इति। यत्परिमाणविशिष्टाभ्य इत्यर्थः। **ऋणमु हैवेति**। स्वस्वनामोद्देशेन गृहीतं हविर्ऋणमेव 'ताः' सर्वा देवता मन्यन्ते। कुत इदमवगतम्? इति चेदुच्यते—'यत्काम्या' यस्य फलस्येच्छया हविर्गृह्णाति, 'तं कामम्' काम्यमानं फलविशेषम् 'अस्मै' यजमानाय 'यद्' यस्मात् समर्द्धयेयुः। तेन कारणेन हविष ऋणरूपत्वमवगतमित्यर्थः। यत्काम्येति यच्छब्दादिच्छार्थे "काम्यच्च" (पा.सू. 3.1.9.) इति काम्यच्, तदन्तादकारप्रत्यये तृतीयाया लुक्। (पा.सू. 7/1/39)। **तस्मादिति**। 'तस्मात्' हविषि देवतानामृणत्वाभिमानात्। फलप्रदानेन तत्प्रत्यर्पणार्थं तत्र देवतानामावश्यमादेष्टव्यमित्यर्थः। अग्नीषोमीयादिहविरन्त- रेऽप्युक्तमतिदिशति—**एवमेवेति**। 'एवमेव' आग्नेयवदेव 'यथापूर्वम्' यथाक्रमम्, अग्नीषोमीयादीनि 'हर्वींषि' गृह्णीयादित्यर्थः। अत एव मन्त्रकाण्डे आग्नेयहविर्ग्रहणमन्त्रानन्तरम् "अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि" (वा.सं. 1.10) इति ग्रहणमन्त्रशेष आम्नातः। कात्यायनोऽप्यसूत्रयत्—"एवमग्नीषोमीयम्" यथादेवतमन्यत् (श्रौ.सू. 2.3.22) इति॥19॥

अन्वयः—देवताया यत् उ एवं आदिशति। यावतीभ्यो ह वै देवताभ्यो हवींषि गृह्यन्ते, तेन ताः ऋणम् उ ह एव मन्यन्ते यत् यत् काम्या गृह्णाति अस्मै तं कामं समर्द्धयेयुः। तस्माद्वै एवमेव यथापूर्वं हवींषि गृहीत्वा देवताया आदिशति।

पदार्थः—**देवताया** = देवता (के नाम) का, **यत्** = जो, **उ** = निश्चित रूप से, **एव** = ही, **आदिशति** = निर्देश करता है। **यावतीभ्यः** = जितने परिमाण के लिए, **ह** = प्रसिद्धों के लिए, **वै** = निश्चितरूप से, **देवताभ्यः** = देवताओं के लिए, **हवींषि** = हवियों का, **गृह्यन्ते** = ग्रहण करता है, **तेन** = उससे, **ता** = वे सभी (देवता), **ऋणम्** = मनुष्य के ऋण, **उ** = निश्चित, **ह** = प्रसिद्ध, **एव** = ही, **मन्यन्ते** = मानते हैं, **यत्** = जिस, **काम्या** = कामना से, **गृह्णाति** = हविग्रहण करता है, **अस्मै** = इस यजमान के लिए, **तं** = उस, **कामं** = कामना को, **समर्द्धयेयुः** = हम पूर्ण करें। **तस्मात्** = इसलिए, **वै** = ही, **एवमेव** = इस प्रकार से ही, **यथापूर्वं** = क्रमानुसार (पूर्वोक्त विधानानुसार), **हवींषि** = हवियों को, **गृहीत्वा** = लेकर, **देवताया** = देवता के, **आदिशति** = नाम का निर्देश करता है॥19॥

रेणु-व्याख्या–हविग्रहण के समय निश्चित रूप से देवता के नामनिर्देश करने का दूसरा हेतु बताते हुए शतपथकार कहते हैं कि वह जो निश्चितरूप से देवता का नामनिर्देश करता ही है वह इसलिए कि जितनी संख्या में जिस भाग में देवता कहे गए हैं, उन प्रसिद्ध देवताओं के लिए हवियों का ग्रहण करता है। उस समय जिन-जिन देवताओं के निमित्त हविग्रहण किए जाते हैं, उसे देवगण मनुष्य के ऋण ही मानते हैं। यजमान जिन कामनाओं से हविग्रहण करता है, उस यजमान के लिए देवता यह अपना कर्त्तव्य मानते हैं कि उसकी तत्तत् कामनाएँ हम अवश्य पूर्ण करें। इसलिए पहले की तरह हविग्रहण के समय अध्वर्यु देवताओं का नामनिर्देश अवश्य करता है।।19।।

1.1.2.20. (त्वा॒था) अ॒थाभि॒मृशति। भूता॒य त्वा ना॒रातयऽ इ॒ति तद्यतऽएव॒ गृह्णा॒ति त॒द्वै॒तत्पु॒नरा॒प्याययति।।20।।

ऋजुपाठः–अथाभिमृशति–"**भूताय त्वा नारातये**" (1 अ. 11 मं.) इति। तद्यत एव गृह्णाति तदेवैतत्पुनराप्याययति।।20।।

सा.भा.–निरुप्तशेषस्य समन्त्रकमभिमर्शनं विधत्ते-अथेति। **तद्यत एवेति**। 'तत्' तत्र शकटे 'यत एव' यस्मादेव स्थानाद् गृह्णाति, 'तदेव' तत्स्थानमेवानेन मन्त्रेण पुनः 'आप्याययति' वर्द्धयति। 'भूताय' प्रभूताय समृद्ध्यर्थं त्वामभिमृशामि 'अरातये' अदानायासमृद्ध्ये नाभिमृशामि, इत्यस्यार्थस्य मन्त्रेण प्रतिपादनात्। सूत्रितं हि–"भूताय त्वेति शेषाभिमर्शनम्" (श्रौ.सू. 2. 6.8.) इति।।20।।

अन्वयः–अथ 'भूताय त्वा (गृह्णामि) नारायतयऽइति अभिमृशति। तत् यत एव गृह्णाति तत् एव एतत् पुनः आप्याययति।।20।।

पदार्थः–**अथ** = उसके बाद, **भूताय** = भूतमात्र के (विभूति हेतु), **त्वा** = तुझे (**गृह्णामि** = ग्रहण करता हूँ) **न** = नहीं, **अरातय** = अदाता शत्रु के लिए, **इति** = यह (यजु. 1/11) मंत्र पढ़कर, **अभिभृशति** = स्पर्श करता है। **तद्** = इसको, **यत** = जहाँ से, **एव** = ही, **गृह्णाति** = ग्रहण करता है, **तत्** = वहाँ, **एव** = ही, **पुनः** = फिर, **आप्याययति** = हवि को पूर्ण करता है।।20।।

रेणु-व्याख्या–देवता के नाम निर्देश पूर्वक हविग्रहण के विधान को कहने के बाद कहते हैं कि जहाँ से जितना हवि लेता है अध्वर्यु उसको मन्त्रांश द्वारा उतनी ही मात्रा में पुनः पूर्ण करता है। एतदर्थ यहाँ मन्त्रवाक्य का प्रयोग करता है कि हे हवि! मैं विभूति के लिए तुझे लेता हूँ अदाता शत्रु के लिए नहीं। इस प्रकार

जिस स्थान से जितना हवि अध्वर्यु ग्रहण करता है उतनी ही मात्रा में उसकी पूर्ति भी करता है। तात्पर्य यह है कि उस स्थान को रिक्त नहीं करता अर्थात् यज्ञ पूर्ण है उसकी पूर्णता को यथावत् सुरक्षित रखता है।।20।।

[प्रागवेक्षणम्]

1.1.2.21. (त्यु) अथ प्राङ्प्रेक्षते। स्वरभिविख्येषमिति परिवृतमिव वाऽएतदनो भवति तदस्यैतच्चक्षुः पाप्मगृहीतमिव भवति यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्य्यस्तत्स्वरेवैतदतोऽभि- विपश्यति।।21।

ऋजुपाठः—अथ प्राङ् प्रेक्षते—**"स्वरभिविख्येषम्"** (1 अ. 11 मं.) इति। परिवृतमिव वा एतदनो भवति। तदस्यैतच्चक्षुः पाप्मगृहीतमिव भवति। यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्यः। तत्स्वरेवैतदतोऽभिविपश्यति।।21।।

सा.भा.—अथ समन्त्रकं प्रागवेक्षणं विधत्ते—**अथ प्राङिति। परिवृतमिव वेत्यादि।** परिवेष्टितमेव खल्वनो भवति, धान्यनिधानार्थम्। तन्मध्येऽवस्थितस्याध्वर्योश्चक्षुः 'पाप्मगृहीतमिव' काचकामलादिदोषदूषितमिव द्रष्टुं न समर्थं भवति, तत्र सहकारिण आलोकस्याभावात्। कथं तस्य दर्शनोपायः इति, तदुच्यते—अवेक्षणमन्त्रगत-स्वरितिशब्देन स्वर्गवाचिना तत्साधनभूतो यज्ञोऽभिधीयते; अपरादीनि च तेन लक्षणया प्रतिपाद्यन्ते। अत एव 'स्वर्'—शब्द सूर्यनामत्वमुक्तं यास्केन—"स्वरादित्यो भवति" इति। "सु अरणः, सु ईरणः" (निरु. 1.4.2.) इति। 'तत्' तथा सत्येतन्मन्त्रकरणकेन प्रेक्षणेन स्वर्-शब्दप्रतिपादितं यज्ञादिचतुष्टयमर्थजातं प्राच्यां दिशि प्रथमत उपलभ्यमानम् 'अतः' अस्माच्छकटस्थानात् 'अभिविपश्यति' अवलोकयति।।21।।

अन्वयः—अथ स्वरभिविख्येषमिति प्राङ्प्रेक्षते। एतत् अनो वा परिवृतमिव भवति तत् अस्य एतत् चक्षुः पाप्मगृहीतम् इव भवति। यज्ञो वै स्वः अहर्देवाः तत् सूर्यः स्वर् एव एतत् अतः अभिविपश्यति।।21।।

पदार्थः—**अथ** = उसके बाद, **स्वर्** = प्रकाशमान यज्ञ को, **अभिविख्येषम्** = सर्वतोभावेन, देखूँ, **इति** = ऐसा (यजु. 1/11) मन्त्रांश पढ़कर, **प्राङ्** = पूर्व की ओर, **प्रेक्षते** = देखता है। **एतत्** = यह, **अनः** = गाड़ी, **वा** = निश्चितरूप से ही, **परिवृतमिव** = चारों ओर घिरी हुई (ढँकी हुई) होती है, **तत्** = वहाँ (घिरी हुई गाड़ी में) **अस्य** = अध्वर्यु का, **चक्षुः** = आँख, **पाप्मगृहीतमिव** = अन्धकार रूप पाप से ग्रसित की तरह, **भवति** = हो जाता है। **यज्ञो** = यज्ञ, **वै** = ही, **स्वः** = स्वर्ग है, **अहः** = दिन, **देवाः** = देवता है, **तत्** = वह (स्वः

अर्थात् यज्ञ), **सूर्यः** = सूर्य है, **स्वर्** = यज्ञ को, **एव** = ही, **एतत्** = यह सूर्य, **अतः** = यहाँ (स्वर्ग) से, **अभिविपश्यति** = देखता है।।21।।

रेणु-व्याख्या–हविग्रहण का हेतु कहकर हविग्रहण के पश्चात् अध्वर्यु पूर्व की ओर देखता हुआ 'स्वरभिविख्येषम्' इस मन्त्रांश को बोलता है। इसका तात्पर्य है कि मैं यज्ञ को देखता हूँ। स्वर् के चार अर्थ प्रशस्त हैं–यज्ञ, देव, दिन तथा सूर्य। इन चारों की दिशा पूर्व कही गई है। अत एव अध्वर्यु पूर्व की ओर ही देखता हुआ मन्त्र पाठ करता है कि मैं यज्ञ को देखूँ। इसका हेतु बताते हुए शतपथकार कहते हैं कि गाड़ी तो चारों ओर से ढँकी होती है। उस पर्दा के अन्दर हवि ग्रहण के लिए अध्वर्यु गया है। घिरे हुए होने के कारण उसे अन्धकार ही अन्धकार दिख रहा है। अन्धकार पाप का द्योतक तथा प्रकाश पुण्य का द्योतक है। यज्ञ का फल पुण्य प्राप्ति है। इसलिए उपनिषदों में **तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय** इत्यादि प्रार्थना वाक्य मिलते हैं।

यहाँ यज्ञ ही स्वः है, वही दिन है, देव है तथा सूर्य है। इस प्रकार पूर्व की ओर स्वः को देखने के माध्यम से वह अध्वर्यु गाड़ी पर से इन चारों अर्थों में घटित स्वः अर्थात् यज्ञ, दिन, देव एवं सूर्य को ही सर्वतोभावेन देखना चाहता है। इसलिए गाड़ी पर से पूर्व की ओर देखता है।।21।।

[शकटादवरोहणम्]

1.1.2.22. (त्य) अथावरोहति। दृꣳह न्तां दुर्य्याः पृथिव्यामिति गृहा है दुर्य्यास्ते हैत ईश्वरो गृहा यजमानस्य योऽस्यैषोऽध्वर्य्युर्यज्ञेन चरति तं प्रयन्तमनु प्रच्योतोस्तस्येश्वरः कुलं व्विक्षोब्धोस्तानेवैतदस्यां पृथिव्यां दृꣳहति तथा नानुप्रच्यवन्ते तथा न विक्षोभन्ते तस्मादाह दृꣳहन्तां दुर्य्याः पृथिव्यामित्यथ प्रैत्युर्व्वन्तरिक्षमन्वेमीति सोऽसावेव बन्धुः।।22।।

ऋजुपाठः–अथावरोहति–"दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्याम्"–(1 अ. 11 मं.) इति। गृहा वै दुर्याः। ते हैत ईश्वरो गृहा यजमानस्य–योऽस्यैषोऽध्वर्युर्यज्ञेन चरति–तं प्रयन्तमनु प्रच्योतोः, तस्येश्वरः कुलं विक्षोब्धोः, तानेवैतदस्यां पृथिव्यां दृंहति। तथा

नानुप्रच्यवन्ते, तथा न विक्षोभन्ते; तस्मादाह दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्यामिति। **अथ** प्रैति–**"उर्वन्तरिक्षमन्वेमि"**–(1 अ. 11 मं.) इति। सोऽसावेव बन्धुः॥22॥

सा.भा.–अथ समन्त्रकं शकटादवरोहणं विधत्ते–**अथावरोहतीति। ते हैत** इत्यादि। 'अस्य' यजमानस्य य एषोऽध्वर्युः 'यज्ञेन चरति' हविर्ग्रहणादिकं यज्ञसाधनमनुतिष्ठति, तं 'प्रयन्तम्' शकटस्थानात् प्रगच्छन्तम् 'अनु'–सृत्य यजमानस्य 'ते' गृहाः 'इतः' अस्माद्भूलोकात् 'प्रच्योतोरीश्वराः' प्रच्युतिं प्राप्तुं समर्थाः। तथा 'तस्य' यजमानस्य कुलं 'विक्षोब्धोः' विक्षोभयितुं समर्थाः। "ईश्वरे तोसुन्कसुनौ" (पा.सू. 3.4.13.) इति च्यवतेः क्षुभेश्च तोसुन् प्रत्ययः। अनेन मन्त्रेणावरोहन्नध्वर्युः 'तानेव' यजमानस्य गृहान् 'अस्याम्' पृथिव्याम् 'दृंहति' दृढीकरोति। "दृह–दृहि वृद्धौ" (भ्वा.प. 734, 735) इति धातुः। एवं सत्युक्तदोषनिवृत्तिमाह–तथेति। निरुप्तेन हविषा सहाग्निसमीपगमनं विधत्ते–**अथ प्रैतीति।** उर्विति मन्त्रस्य प्रागाम्नातं ब्राह्मणमत्रातिदिशति–**सोऽसाविति।** अन्तरिक्षं वा अनुरक्ष श्चरति–इत्यादिको यो वाक्यशेषः, 'सोऽसावेव' अत्राम्नातस्यापि तस्य मन्त्रस्य 'बन्धुः' अनुकूलः, अतोऽत्राप्यनुषज्य योजनीय इत्यर्थः॥22॥

अन्वयः–अथ दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्याम् इति अवरोहति। गृहा वै दुर्याः ते गृहा ह यजमानस्य ईश्वरः, यः एषः अध्वर्युः अस्य यज्ञेन चरति, तं प्रयन्तमनु तस्य इतः प्रच्योतोः ईश्वरः कुलं विक्षोब्धोः तान् एव एतत् अस्यां पृथिव्यां दृंहति तथा न अनुप्रच्यवन्ते तथा न विक्षोभन्ते तस्मात् दृंहन्तां दुर्याः पृथिव्याम् इति आह अथ उर्वन्तरिक्षम् अन्वेमि इति प्रैति सोऽसौ एव बन्धुः॥22॥

पदार्थः–**अथ** = उसके बाद, **दृंहन्तां** = सुदृढ़ हो, **दुर्याः** = घर, **पृथिव्याम्** = पृथिवीलोक पर, **इति** = ऐसा (यजु. 1/11) मन्त्रांश बोलकर, **अवरोहति** = शकट पर से उतरता है। **गृहा** = घर, **वै** = ही, **दुर्याः** = दुर्य है (द्वारों से युक्त है), **ते** = वे, **गृहा** = घर, **ह** = निश्चय, **यजमानस्य** = यजमान का, **ईश्वरः** = समर्थ घर है, **यः** = जो, **एषः** = यह, **अध्वर्युः** = अध्वर्यु, **अस्य** = इस (यजमान) का, **यज्ञेन** = यज्ञद्वारा, **चरति** = कर्म सम्पादन करता है, **तं** = उसके, **प्रयन्तमनु** = आगे बढ़ने के पश्चात्, **तस्य** = उस (यजमान) का, **इतः** = इस भूलोक से, **प्रच्योतोः** = नष्ट होने में, **ईश्वरः** = समर्थ हो सकता है, **कुलं** = वंश। **विक्षोब्धोः** = विक्षुब्ध (नष्ट) हो सकता है, **तान्** = उन को (घर एवं परिवारों के), **एव** = ही, **एतत्** = इस मंत्र पाठ द्वारा, **अस्यां** = इस, **पृथिव्यां** = पृथिवीपर, **दृंहति** = स्थिर करता है, **तथा** = ऐसा करने से, **न** = नहीं, **अनुप्रच्यवन्ते** = अध्वर्यु के आगे बढ़ने पर नष्ट होता है तथा, **न** = नहीं विक्षुब्ध होते हैं, **तस्मात्** = इसलिए, **दृंहन्तां** = सुदृढ़ हों, **दुर्याः** = घर,

पृथिव्याम् = भूलोक पर, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है। **अथ** = इसके बाद, **उरु** = विशाल, **अन्तरिक्षम्** = अन्तरिक्ष की ओर, **अन्वेमि** = जाता हूँ, **इति** = ऐसा यजु बोलकर, **प्रैति** = प्रयाण करता है, **सः** = वह, **असौ** = यह यजु, **एव** = ही, **बन्धुः** = अनुकूल है।।22।।

रेणु-व्याख्या—हविग्रहण करने के उपरान्त अध्वर्यु गाड़ी पर से उतरता है। जब वह उतरता है उस समय "दृंहन्तां दुर्याः पृथिव्याम्" यजमान का घर पृथिवी पर सुदृढ़ रहे यह (यजु. 1/11) मन्त्रांश बोलता है। इस मन्त्रांश के बोलने का हेतु स्पष्ट करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि घर ही दुर्य (अनेक द्वारवाला) है। वह घर निश्चय रूप से यजमान के सामर्थ्य का परिचायक है। इससे पूर्व प्रथम ब्राह्मण के उन्नीसवें मन्त्र में कहा गया है 'गृहा वै प्रतिष्ठा' घर ही प्रतिष्ठा है। यहाँ अध्वर्यु इस यजमान के लिए यज्ञानुष्ठान करता है। जब अध्वर्यु शकट पर से उतर कर गार्हपत्य देश जो भूलोक है वहाँ से अन्तरिक्ष लोक की ओर आगे बढ़ेगा तो भूलोकस्थ जो यजमान का घर परिवारादि साम्राज्य है, उसके नष्ट होने की सम्भावना होती है।

यह विज्ञान का सिद्धान्त है कि जब सामान्य गति से चलने वाली कोई गाड़ी अचानक तेज रफ्तार पकड़ती है तो उसमें बैठी सवारी पीछे की ओर झुकती है अर्थात् पीछे वालों को झटका लगता है, उस स्थिति में यदि कोई असावधान हो तो उसको क्षति पहुँचती है। इसी प्रकार अध्वर्यु जब भूलोक से अन्तरिक्ष लोक की ओर जाएगा तो भूलोकस्थ व्यवस्थाओं के विनष्ट होने की सम्भावना बनेगी। इस सम्भावना को रोकने के लिए अध्वर्यु इस मन्त्र वाक्य का प्रयोग करता है। यही बताते हुए शतपथकार कहते हैं कि इस अध्वर्यु के आगे बढ़ने के बाद उस यजमान का घर परिवार आदि प्रच्योत एवं विक्षुब्ध हो सकते हैं, इसलिए अध्वर्यु 'दृंहन्तां दुर्याः पृथिव्याम्' इस मन्त्र के प्रयोग द्वारा यजमान के साम्राज्य को नष्ट होने से बचाने का यत्न करते हुए अन्तरिक्ष लोक की ओर जाता है। ताकि यजमान की प्रतिष्ठा, उसका साम्राज्य, घर, परिवारादि यथावत् (पूर्ववत्) भूलोक में सुदृढ़ रहे। यही यजु इसके लिए अनुकूल है।।22।।

[हविरासादनम्]

1.1.2.23. स यस्य गार्हपत्ये हवीꣳषि श्रपयन्ति। गार्हपत्ये तस्य पात्राणि सꣳसादयन्ति जघनेनो तर्हि गार्हपत्यꣳ सादयेद्यस्याहवनीये हवीꣳषि

श्रपयन्त्याहवनीये तस्य पात्राणि सꣳसादयन्ति जघनेनो तर्ह्याहवनीयꣳसादयेत्पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामीति मध्यं वै नाभिर्म्मध्यमभयं तस्मादाह पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामीत्यदित्याऽ उपस्थऽइत्युपस्थऽइवैनदभार्षुरिति वाऽआहुर्यत्सुगुप्तं गोपायन्ति तस्मादाहादित्याऽ उपस्थ इत्यग्ने हव्यꣳ रक्षेति तदग्नये चैवैतद्धविः परिददाति गुप्त्याऽअस्यै च पृथिव्यै तस्मादाहाग्ने हव्यꣳ रक्षेति॥23॥2॥

इति प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके प्रथमाध्याये वा द्वितीयं ब्राह्मणम्॥1॥2॥

ऋजुपाठः–स यस्य गार्हपत्ये हवींषि श्रपयन्ति गार्हपत्ये तस्य पात्राणि संसादयन्ति। जघनेनो तर्हि गार्हपत्यं सादयेत्। यस्याहवनीये हवींषि श्रपयन्ति, आहवनीये तस्य पात्राणि संसादयन्ति। जघनेनो तर्ह्याहवनीयं सादयेत्–"पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामि"–(1 अ. 11 मं.) इति। मध्यं वै नाभिर्मध्यमभयं तस्मादाह–पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामीति। "अदित्याऽउपस्थे" (1 अ. 11 मं.) इति उपस्थ इवैनदभार्षुरिति वा आहुर्यत्सुगुप्तं गोपायन्ति, तस्मादाह–अदित्याऽउपस्थ इति।। **"अग्ने हव्यꣳरक्ष–"** (1 अ. 11 मं.)। इति। तदग्नये चैवैतद्धविः परिददाति गुप्त्या, अस्यै च पृथिव्यै; तस्मादाह–अग्ने हव्यꣳ रक्षेति॥23॥2॥ (1/2)

सा.भा.–आहृतस्य हविषः सादनं विधत्ते–**स यस्येत्यादिना**। गार्हपत्य आहवनीये वा यस्मिन्नग्नौ श्रपणम्। तस्य पश्चात् 'पात्रासादनम्' निरुप्तस्य हविषः सादनं च कर्त्तव्यमित्यर्थः। सादनमन्त्रगत–'नाभि'-शब्दस्याभिप्रेतमर्थमाह–**मध्यं वा** इति। मनुष्यादिशरीरेषु नाभेर्मध्यदेशेऽवस्थानात् पृथिव्या नाभिरिति मध्यमेवोच्यते। तच्च मध्यम् 'अभयम्' भयरहितम्; प्रान्तदेशे हि चौरव्याघ्रादिभयम्। अतः पृथिव्याः संबन्धिनि राक्षसादिभयरहिते स्थाने त्वां सादयामि इति मन्त्रभागस्यार्थः। "अदित्या उपस्थे" इति मन्त्रस्य द्वितीयभागं व्याचष्टे–**उपस्थ इवेति**। 'यद्' वस्तु 'सुगुप्तम्' सुष्ठु रक्षितं यथा भवति तथा 'गोपायन्ति' रक्षन्ति। एतत् 'उपस्थ इव' उत्सङ्ग इव। उदरमध्य इव वा। 'अभार्षुः' भृतवन्त इति खलु वदन्ति लौकिकाः। अतश्च यस्मिन् स्थाने सादितं हविः सुगुप्तं भवति। तत् स्थानमुपस्थशब्देन मन्त्रगतेन विवक्षितम्। अभार्षुरिति "भृञ् भरणे" (भ्वा. उ. 923) इत्यस्माल्लुङि सिचि वृद्धिः (पा.सू. 7.2.1.) 'गोपायन्ति' इति "गुपूधूपविच्छि" (पा.सू. 3.1.28) इति आयप्रत्ययः। अन्तिमं भागमाचष्टे–**अग्ने हव्यमिति**। "इयं वा अदितिः" (ऐ.ब्रा. 3.6.7.) (तै.सं. 3.2.4.7.) इति श्रुतेः। अदितिर्हि पृथ्वी तस्याश्चाधिपतिरग्निः, स चात्र गार्हपत्यरूप आहवनीयरूपो वा तस्मै च 'अग्नये' तेनाधिष्ठितायै पृथिव्यै च रक्षणार्थम्। 'एतद्धविः' अनेन मन्त्रभागेन दत्तं भवतीत्यर्थः॥22॥2॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे माध्यन्दिनशतपथभाष्ये प्रथमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्।।1।।2।।

अन्वयः—स यस्य गार्हपत्ये हवींषि श्रपयन्ति तस्य गार्हपत्ये पात्राणि संसादयन्ति, जघनेन उ ता गार्हपत्यं सादयेत्। यस्य आहवनीये हवींषि श्रपयन्ति तस्य आहवनीये पात्राणि संसादयन्ति, जघनेन उ तर्हि आवहनीयं सादयेत्। त्वा पृथिव्याः नाभौ सादयामि इति आह, अदित्या उपस्थे इति च आह, उपस्थ इव एनत् अभार्षु इति वा आहुः। यत्सुगुप्तं गोपायन्ति तस्मात् आदित्य उपस्थ इति आह। अग्ने हव्यं रक्ष इति तत् अग्नये च एव अस्यै च पृथिव्यै एतत् हविः गुप्त्या परिददाति, तस्मात् अग्ने हव्यं रक्ष इत्याह।।23।।

पदार्थः—**सः** = अध्वर्यु आदि ऋत्विक्, **यस्य** = जिस (यजमान) के, **गार्हपत्ये** = गार्हपत्याग्नि में, **हवींषि** = हवियों को, **श्रपयन्ति** = पकाते हैं, **तस्य** = उस (यजमान) के, **गार्हपत्ये** = गार्हपत्य देश में, **पात्राणि** = यज्ञपात्रों को, **संसादयन्ति** = आसादन करते हैं (बिछाते हैं), **जघनेन** = पीछे की ओर (पश्चिम भाग में), **उ** = ही, **तर्हि** = तब, **गार्हपत्ये** = गार्हपत्य देश में, **सादयेत्** = पात्रासादन करे। **यस्य** = जिसके, **आहवनीये** = आहवनीय खर में, **हवींषि** = हवियों को, **श्रपयन्ति** = पकाते हैं, **तस्य** = उसके, **आहवनीये** = आहवनीय देश में, **पात्राणि** = यज्ञपात्रों को, **संसादयन्ति** = रखते हैं, **जघनेन** = पीछे की ओर, **उ** = ही, **तर्हि** = तब, **आहवनीयं** = आहवनीय देश में, **सादयेत्** = रखे। **त्वा** = तुझे, **पृथिव्याः** = पृथिवी के, **नाभौ** = मध्य में, **सादयामि** = रखता हूँ, **मध्यं** = मध्यभाग में, **वै** = ही, **नाभिः** = नाभि होती है, **मध्यं** = मध्यदेश, **अभयं** = भयरहित स्थान है, **तस्मात्** = इसलिए, **त्वा** = तुझे, **पृथिव्याः** = पृथिवी के, **नाभौ** = मध्य में, **सादयामि** = रखता हूँ, **इति** = ऐसा यजु, **आह** = बोलता है। **अदित्या** = अदिति (पृथिवी) की, **उपस्थे** = गोद में, **इति** = ऐसा, **च** = पुनः, **आह** = कहता है, **उपस्थ** = गोद, **इव** = की तरह, **एनत्** = इन पात्रों को, **अभार्षुः** = उचित भरण पोषण हेतु सुरक्षित करता हूँ, **इति** = ऐसा, **वा** = ही, **आहुः** = कहते हैं। **यत्** = जो, **सुगुप्तं** = सम्यक् प्रकार से सुरक्षित रखने वाले चीजें की, **गोपयन्ति** = रक्षा करते हैं, **तस्मात्** = इसलिए, **आदित्या** = अदितिकी, **उपस्थे** = गोद में, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है, **तत्** = वह, **अग्नये** = अग्नि के लिए, **च** = और, **एव** = ही, **अस्यै** = इस, **पृथिव्यै** = पृथिवी के लिए, **एतत्** = इस, **हविः** = हवि को, **गुप्त्या** = रक्षा के लिए, **परिददाति** = देता है, **तस्मात्** = इसलिए, **अग्ने** = हे अग्नि! **हव्यं** = हवि पदार्थ को, **रक्ष** = रक्षा करो, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है।।23।।

रेणु-व्याख्या–वे अध्वर्यु आदि ऋत्विक् जिस यजमान के गार्हपत्य में हवियों का पाक करते हैं उसके गार्हपत्य देश में पीछे की ओर पात्रों को रखते हैं तथा जिस यजमान के आहवनीय में हवियों को पकाते हैं उस यजमान के आहवनीय देश में पीछे की ओर पात्रासादन करते हैं। पात्रासादन करते समय 'पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामि' अर्थात् पृथिवी की नाभि में तुझे स्थापित करता हूँ यह मन्त्र वाक्य बोले। पृथिवी ही अदिति अर्थात् देवों की माता है, इस प्रकार पृथिवी की नाभि में रखने की बात कहकर अदिति की गोद में रखता हूँ ऐसा ही कहता है। क्योंकि हवियों की रक्षा यहाँ ध्येय है, जिस प्रकार लोक में कोई शिशु माता की गोद में पूर्णतः सुरक्षित रहता है उसी प्रकार ये हवियाँ अदिति की गोद में पूर्ण सुरक्षित रहती हैं इसी हेतु से ऐसा कहता है। हवियों को अदिति की गोद में या पृथिवी के मध्य स्थान में रखते हुए अग्नि के (आहवनीय या गार्हपत्य) के समीप रखता है। उस समय अग्नि से प्रार्थना करता है कि–हे अग्नि! तुम इस हवि की रक्षा करो। इस प्रकार हवियों की रक्षा की दृष्टि से वह पृथिवी की नाभि तथा आदिति की गोद में हवियों को रखने का वाक्य बोलता है।।23।।2।।

इस प्रकार माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण के प्रथम अध्याय
के द्वितीय ब्राह्मण की रेणु हिन्दी व्याख्या सम्पन्न हुई।

प्रथमकाण्डे प्रथमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

पवित्रच्छेदनम्/प्रोक्षणम्

1.1.3.1. पवि॒त्रे करोति। पवि॒त्रे स्थो व्वैष्ण॒व्यावि॒ति यज्ञो वै व्वि॒ष्णुर्यज्ञि॒येस्थऽइ॒त्ये॒वैत॒दाह॥1॥

[प्रोक्षणम्]

ऋजुपाठः—पवित्रे करोति—"पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ" (1 अ. 12 मं.) इति। यज्ञो वै विष्णुः॥ यज्ञिये स्थ इत्येवैतदाह॥1॥

सा.भा.—पवित्रकरणमन्त्रगतस्य वैष्णव्याविति पदस्य तात्पर्यमाह—**यज्ञो वा इति।** वेवेष्टि व्याप्नोतीति व्युत्पत्त्या यज्ञ एव विष्णुः। तथा च मन्त्रगतस्य वैष्णव्याविति शब्दस्य, हे दर्भनाड्यौ! युवां यज्ञसम्बन्धिन्यावेव भवथ इत्ययमर्थः प्रतिपादितो भवतीत्यर्थः॥1॥

अन्वयः—"पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ इति (मन्त्रेण) पवित्रे करोति। एतत् यज्ञो वै विष्णुः यज्ञिये स्थः इति एव आह॥1॥

पदार्थः—**पवित्रे** = हे कुशपवित्रद्वय! तुम दोनों पवित्र, **स्थः** = हो, **वैष्णव्यौ** = विष्णु देवता सम्बन्धी हो, **इति** = इस मन्त्र द्वारा, **पवित्रे** = दो पवित्र, **करोति** = तैयार करता है। **एतत्** = यह, **यज्ञो** = यज्ञ, **वै** = ही, **विष्णुः** = विष्णु है, **यज्ञिये** = तुम दोनों पवित्र यज्ञमय (यज्ञरूप, यज्ञ में उपस्थित), **स्थः** = हो, **इति** = ऐसा, **एव** = ही, **आह** = कहता है॥1॥

रेणु-व्याख्या—यज्ञपात्र, यज्ञदेश एवं हवियों को प्रोक्षणादि द्वारा पवित्र करने के लिए दो कुशपत्र को तोड़कर लेता हुआ अध्वर्यु 'पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ' (यजु. 1. 12) इस मन्त्र द्वारा हे दर्भ! तुम दोनों विष्णुदेवता सम्बन्धी पवित्र हो, ऐसा बोलकर दो दर्भपत्र छेदन (तोड़) कर लेता है। चूँकि यज्ञ ही विष्णु है, इसलिए तुम दोनों यज्ञीय हो ऐसा ही कहता है॥1॥

[पवित्रयोर्द्वित्वविधानम्]

1.1.3.2. ते वै द्वे भवतः। (तोऽ) अयं वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमेकऽइवैव पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च ताविमौ प्राणोदानौ तदेतस्यैवानुमात्रां तस्माद्द्वे भवतः॥2॥

ऋजुपाठः–ते वै द्वे भवतः। अयं वै पवित्रम्–योऽयं पवते। सोऽयमेक इवैव पवते। सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् च, प्रत्यङ् च। ताविमौ प्राणोदानौ। तदेतस्यैवानुमात्राम्। तस्माद् द्वे भवतः॥2॥

सा.भा.–संख्यान्तरं वारयितुं पवित्रयोर्द्वित्वं विधत्ते–**ते वा** इति। तदेतदुपपादयति–**अयं वा** इति। 'यः' पवमानो वायुः, अयमेव 'पवित्रम्' पवनसाधनम्। शुद्धिहेतुः। "पुवः संज्ञायाम्" (पा.सू. 3.2.185.) इति करण इत्रप्रत्ययः। "पन्थानश्च विशुद्ध्यन्ति सोमसूर्यांशुमारुतैः" इत्यादिस्मृतेः (नि.सं. 23.40.) वायोः शुद्धिहेतुत्वम्। **एक इवैवेति।** 'सः' च बाह्ये वर्तमानो वायुरेकरूप एव वाति, 'सः' एव पुरुषशरीरानुप्रविष्टः सन् वृत्तिभेदेन 'प्राङ् च प्रत्यङ् च चरति'। इडापिङ्गलादिनाडीद्वारा बहिर्निर्गच्छन् प्राणः प्राङित्युच्यते, तयैव द्वारा पुनरन्तः प्रविशन् प्रत्यङ्ङिति; तावेतौ वृत्तिभेदौ 'प्राणोदानौ'–इत्युच्येते। तत्र प्राङ् संरचन् प्राणः 'उद्' ऊर्द्ध्वदेशादानयति, अन्तः प्रविश्यानुगुणं चेष्टत इति 'उदानः'। तस्य 'च' शब्देन प्रत्यङ्मुखोऽपानो विवक्षितः, न तूत्क्रान्तिहेतुरुदानवृत्तिरिति; तस्या ऊर्द्ध्वमुखत्वेन प्रत्यङ्ङुत्क्रमानुपपत्तेः। अत एव तैत्तिरीयके समानप्रकरणे पवित्रयोः प्राणापानरूपत्वमाम्नायते–"प्राणापानौ पवित्रे यजमान एव प्राणापानौ दधाति" (2.1.10. 2.) इति। एवं द्विधाभिन्नस्यैतस्यैव वाय्वाख्यस्य पवित्रस्य 'मात्राम्' परिमाणम् 'अनु'–सृत्य, तत्पवित्रयोर्द्वित्वम्॥2॥

अन्वयः–ते द्वे वै भवतः। योऽयं पवते अयं वै पवित्रं, सोऽयम् एक इव एव पवते सोऽयं प्राङ् च प्रत्यङ् च पुरुषे अन्तः प्रविष्टः, तत् एतस्य एव अनुमात्रां तौ इमौ प्राणोदानौ तस्मात् द्वे भवतः॥2॥

पदार्थः–**ते** = वे, **द्वे** = दो, **वै** = ही, **भवतः** = होते हैं। **यो** = जो, **अयं** = यह, **पवते** = बहता है (वायुरूप में), **अयं** = यह, **वै** = ही, **पवित्रं** = पवित्र (पावनकर्ता) है, **सो** = वह, **अयं** = यह, **एक** = एक रूप, **इव** = के जैसा, **एव** = ही, **पवते** = बहता है, **सोऽयं** = वह यह, **प्राङ्** = अन्दर की ओर, **च** = और, **प्रत्यङ्** = बाहर की ओर, **च** = पुनः, **पुरुषे** = जीव शरीर में, **अन्तः** = भीतर में, **प्रविष्टः** = प्रवेश किया हुआ है, **तत्** = इसलिए, **एतस्य** = इसके,

एव = ही, **अनुमात्रां** = अनुकरण रूप हैं, **तौ** = वे दोनों, **इमौ** = ये, **प्राणोदानौ** = प्राण और उदान हैं, **तस्मात्** = इसलिए, **द्वे** = दो, **भवतः** = होते हैं।।2।।

रेणु-व्याख्या–वे कुश पवित्र दो ही होते हैं। पवित्र के दो होने का हेतु स्पष्ट करते हुए शतपथकार कहते हैं कि यह जो बहने वाला वायु (पवन) है, यही पवित्र रूप है, वह वायु यद्यपि एकरूप में ही बहता है किन्तु गति का स्थान भिन्न-भिन्न है, एक तो जीव शरीर के अन्दर सञ्चरण करता है दूसरा शरीर के बाहर। इस प्रकार यह वायु जीव शरीर के बाहर भीतर संचरण कर उसे पवित्र रखता है। आचार्य सायण ने स्मृति वाक्य का उद्धरण दिया है–"पन्थानश्च विशुद्ध्यन्ति सोमसूर्यांशुमारुतैः।" अर्थात् सूर्य, चन्द्र एवं हवा से सभी मार्ग पवित्र हो जाते हैं। वह वायु यद्यपि एक ही है परन्तु वृत्तिभेद से दो हो जाता है, इडा पिङ्गला आदि नाड़ियों से बाहर निकलने वाला वायु 'प्राण' तथा उसी मार्ग से अन्दर प्रविष्ट होने वाला वायु 'उदान' है, प्राण ही प्राङ् तथा उदान ही प्रत्यङ् है। अतः ये दो दर्भपत्र इन दोनों वायुओं के अनुकरण रूप मात्र है। इसलिए दो पवित्र ही होते हैं। जिस प्रकार प्राङ् एवं प्रत्यङ् वायु शरीर को बाहर भीतर पवित्र करते हैं उसी प्रकार ये दो पवित्र यजमान के प्राणोदान रूप में ग्रहण किए जाते हैं।2।।

[पवित्रस्य त्रित्वविधानम्]

1.1.3.3. (तोऽथो) अथो ऽअपि त्रीणि स्युः। (व्यां) व्यानो हि तृतीयो द्वे त्वेव भवतस्ताभ्यामेताः प्रोक्षणीरुत्पूय ताभिः प्रोक्षति तद्यदेताभ्यामुत्पुनाति।।3।।

ऋजुपाठः–अथो अपि त्रीणि स्युः। व्यानो हि तृतीयः। द्वे त्वेव भवतः। ताभ्यामेताः प्रोक्षणीरुत्पूय ताभिः प्रोक्षति। तद्यदेताभ्यामुत्पुनाति।।3।।

सा.भा.–त्रित्वपक्षमभ्युपन्यस्यति–**अथोऽअपीति।** पक्षान्तरद्योतकः 'अथो अपि' शब्दः। तत्रोपपत्तिः–**व्यानो हीति।** मुख्यपवित्रस्य वायोः प्राणोदानवद् व्यानाख्यो वृत्तिभेदस्तृतीयः 'हि' यस्माद् विद्यते तस्मात्पवित्रत्रित्वमप्युक्तमित्यर्थः। द्वित्वपक्षमेव निगमयति–**द्वे त्वेवेति।** "अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः, स व्यानः" (छा.उ. 1.3.3.) इति श्रुतेर्व्यानस्य सन्धिरूपतया तदुभयानतिरिक्तत्वाद् द्वित्वपक्ष एव श्रेयानित्यर्थः। कात्यायनस्तु पक्षद्वयमपि सूत्रयामास–"कुशौ समावप्रशीर्णाग्रावनन्तर्गर्भौ कुशैश्छिनत्ति पवित्रे स्थ इति" "त्रीन् वा" (श्रौ.सू. 2.75.76) इति। अथोत्पवनं विधत्ते–**ताभ्यामिति।** प्रोक्षत्याभिरिति 'प्रोक्षण्यः' आपः। करणे ल्युट् (पा.सू. 3.3.117)। 'ताभिः प्रोक्षति' इत्युत्पवनस्य प्रयोजनकथनम्; न तु प्रोक्षणविधिः।

यस्मादुत्पूताभिरद्भिः प्रोक्षणं कर्तव्यम्, तस्मात् पवित्राभ्यां तासामुत्पवनं कार्यमित्यर्थः। तदेतदुत्पवनं स्तोतुमनुवदति–**तद्यदिति**।।3।।

अन्वयः–अथो त्रीणि अपि स्युः। हि व्यानः तृतीयः, द्वे तु भवतः एव, ताभ्यां एताः प्रोक्षणीः उत्पूय ताभिः प्रोक्षति। तत् यत् एताभ्याम् उत्पुनाति।।3।।

पदार्थः–**अथो** = अथवा, **त्रीणि** = तीन, **अपि** = भी, **स्युः** = हों, **हि** = क्योंकि, **व्यानः** = व्यान नामक वायु विशेष, **तृतीयः** = तृतीय वृत्ति है (तीसरा है), **द्वे** = दो, **तु** = तो, **भवतः** = होते हैं, **एव** = ही, **ताभ्यां** = उन दोनों पवित्रों से, **एताः** = इन, **प्रोक्षणीः** = प्रोक्षणीस्थ जलों को, **उत्पूय** = पवित्रकर, **ताभिः** = प्रोक्षणी के पवित्र जलों से, **प्रोक्षति** = अन्यों का प्रोक्षण करता है। **तत्** = इसलिए, **यत्** = जो, **एताभ्यां** = इन दो पवित्रों से, **उत्पुनाति** = प्रोक्षणी को पवित्र करता है।।3।।

रेणु-व्याख्या–पूर्व मन्त्र में जो वायु की दो वृत्तियाँ प्राङ् एवं प्रत्यङ् (प्राण + उदान) कही गईं वे दो तो होते ही हैं, अब तीसरी वृत्ति के होने का संकेत भी देते हुए कहते हैं कि अथवा ये वायु तीनों हों, क्योंकि 'व्यान' वायु की तीसरी वृत्ति है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है–'स वा अयं प्राणस्त्रेधा विहितः प्राणोऽपानो व्यान इति।' (ऐ.ब्रा. 2.4.5.) यह व्यान शरीर में उदान रूप में ऊपर से प्रविष्ट होकर अनुगुण चेष्टा करता है। किन्तु प्राण एवं उदान मुख्यधारा है इसमें यह तीसरी धारा अन्तर्निहित है, इसलिए यहाँ दो की मुख्यता स्थापित की गई है। उन दोनों पवित्रों से प्रोक्षणीस्थ जल को पवित्र कर पुनः प्रोक्षणीस्थ पवित्र जलों से अन्य वस्तुओं का प्रोक्षण करना विहित किया गया है। वह जो इन दो पवित्रों से प्रोक्षण करता है इसके लिए कहते हैं कि–।।3।।

[उत्पवननिर्वर्त्यामशुद्धिदर्शयितुमितिहासमुदाहरति–]

1.1.3.4. व्वृत्रो ह वाऽ इद ᳫ सर्व्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिद ᳫ सर्व्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम।।4।।

ऋजुपाठः–वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये–यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी। स यदिदं सर्व वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम।।4।।

सा.भा.–उत्पवननिवर्त्त्यामशुद्धिं दर्शयितुमितिहासमुदाहरति–**वृत्रो** हेति। **वृत्वा शिश्ये** इति। आवृत्य शयनं कृतवान्। शीङो लिटि (अदा.आ.) "एरनेकाचः–" (पा.सू. 6.4.82.) इति यण्। **द्यावापृथिवी** इति। द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ (पा.सू. 6/3/30) इति द्यावादेशः। "अन्तरान्तरेण"

(पा.सू. 2.3.4.) इति द्वितीया। द्यावापृथिव्योर्मध्य इत्यर्थः। वरणाद् 'वृत्र' इति नाम निर्वक्ति–**स यदिति**।।4।।

अन्वयः–इदं सर्वं वृत्वा वृत्रो ह वा शिश्ये। यत् इदं द्यावापृथिवी अन्तरेण इदं यत् सर्वं वृत्वा स शिश्ये तस्मात् वृत्रो नाम।।4।।

पदार्थः–**इदं** = इस, **सर्वं** = सम्पूर्ण जगत् को, **वृत्वा** = घेरकर, **वृत्रो** = वृत्र नामक असुर विशेष, **ह** = प्रसिद्ध, **वा** = निश्चय रूप से, **शिश्ये** = सो गया। **यत्** = जो, **इदं** = इस, **द्यावापृथिवी** = द्युलोक और पृथिवीलोक के, **अन्तरेण** = बीच में है, **इदं** = यह, **यत्** = जो कुछ, **सर्वं** = उस सबको, **वृत्वा** = घेरकर (ढककर), **सः** = वह, **शिश्ये** = सो गया, **तस्मात्** = इसलिए, **वृत्रो** = वह वृत्र, **नाम** = नाम से प्रसिद्ध हुआ।।4।।

रेणु-व्याख्या–एक वृत्र नामक प्रसिद्ध असुर था जो निश्चित रूपेण इस सम्पूर्ण संसार को घेरकर (आच्छादित कर) सो गया था। वह जो द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य अन्तरिक्ष लोक है इन सभी लोकों में जो कुछ भी था, उन सबको घेरकर वह सो गया था इसलिए उसका नाम वृत्र प्रसिद्ध हुआ। वरणार्थक वृञ् धातु (पा.धा. 5/1254) से वृत्र शब्द की निष्पत्ति कही गई है। यथा–"यदिमाँल्लोकानवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्" (तै.सं. 2.4.12.2.) अर्थात् जो इन समस्त लोकों को घेरकर सोया हुआ था वही वृत्र का वृत्रत्व है। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वृत्र समस्त लोकों को घेरकर सो गया था।।4।।

1.1.3.5. तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वतऽएवापो- ऽभिप्रसुस्राव सर्व्वत इव ह्ययꣳ समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे ताऽउपर्युपर्यतिपुप्रुविरेऽत इमे दर्भास्ता हैताऽअनापूयिता आपोऽस्ति वाऽइतरासु सꣳसृष्टमिव यदेना व्वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तादेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्यथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति तस्माद्वाऽएताभ्यामुत्पुनाति।।5।।

ऋजुपाठः–तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वत एवापोऽभिप्रसुस्राव। सर्वत इव ह्ययं समुद्रः। तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे। ता उपर्युपर्यतिपुप्रुविरे। अत इमे

दर्भाः। ता हैता अनापूयिता आपः। अस्ति वा इतरासु संसृष्टमिव–यदेन वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्। तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्ति। अथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति। तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति।।5।।

सा.भा.–स हत इत्यादि। पूतिर्दुर्गन्धः। सर्वत एवापोऽभिलक्ष्य प्रस्तुतोऽभूत्। अत एव खल्वयमपि समुद्रः, सर्वतः सर्वमावृत्य वर्तते। 'तस्माद्' दुर्गन्धात् स्रुताद् वृत्रादिमा आपो 'बीभत्साञ्चक्रिरे' जुगुप्सन्ते स्म। "मान्बधदानशान्भ्यः"–(पा.सू. 3.1.6.) इति वधेर्वैरूप्ये सन्–प्रत्ययः। बीभत्समानाः 'ताः' आपः तत्संस्पर्शं परिहर्तुमुपर्युपरि वर्तमानाः 'अतिपुप्लुविरे' जलाशयमतिक्रम्य तीरदेशं प्राप्ता आसन्। "प्लुङ् गतौ" (भ्वा.आ. 983) इति धातुः। प्लुताश्च 'ताः' आपो दर्भात्मना परिणताः। अयमर्थस्तैत्तिरीयकेऽपि विस्पष्टमाम्नातः–"इन्द्रो वृत्रमहन्त्सोऽपोऽभ्यम्रियत, तासां यन्मेध्यं यज्ञियꣳसदेवमासीत्; तदपोदक्रामत्, ते दर्भा अभवन्" (तै.ब्रा. 3.2.5.1.) इति। **अनापूयिता** इति। 'आ' समन्तात् पूयं दौर्गन्ध्यं प्राप्ता आपूयिताः, न आपूयिताः 'अनापूयिताः'। "पूयी विशरणे दुर्गन्धे च–" (भ्वा.आ0 485) इत्यस्मात् कर्तरि निष्ठायां छान्दस इट्। यद्वा 'आ' समन्तात् पूयमासां संजातमिति 'आपूयिताः'। "तदस्य सञ्जातम्–" (पा.सू. 5.2.36.) इति तारकादित्वादितच्। **इतरास्विति**। दर्भात्मना परिणतजलव्यतिरिक्तासु अमेध्यत्वापादकं किञ्चित्संसृष्टमिव भवति। अत्र हेतुः–**यदेना** इति। एवमनापूयितापृविकारदर्भमयाभ्याम् 'आसाम्' अपामुत्पवनं कुर्वन् पूयसंसर्गकृतम् 'तद्' अमेध्यत्वमपहन्ति। ततश्च विधास्यमानं प्रोक्षणं च 'मेध्याभिः' मेधार्हाभिः शुद्धाभिरेवाद्भिः कृतं भविष्यतीत्यर्थः। 'तस्माद्'–इत्युत्पवननिगमनम्।।5।।

अन्वयः–तम् इन्द्रो जघान स हतः सर्वत एव आपो अभि पूतिः प्रसुस्राव हि अयं समुद्रः सर्वत इव तस्मात् ह एका आपो उ बीभत्साञ्चक्रिरे, ता उपरि उपरि अतिपुप्रुविरे, अत इमे दर्भाः, ता ह एता आपः अनापूयिताः, यत इतरासु संसृष्टम् इव वा अस्ति, एनाः वृत्रः पूतिः अभिप्रास्रवत्, तत् आसां (पूतिः) एव एताभ्यां पवित्राभ्याम् अपहन्ति, अथ मेध्याभिः अद्भिरेव प्रोक्षति, तस्मात् वा एताभ्याम् उत्पुनाति।।5।।

पदार्थः–तम् = उस (वृत्र) को, **इन्द्रो** = इन्द्र ने, **जघान** = मारा, **सः** = वह (वृत्र), **हतः** = मारा गया। **सर्वतः** = सब ओर, **एव** = ही, **आपः** = जल (हैं), **अभि** = उस ओर, **पूतिः** = दुर्गन्ध, **प्रसुस्राव** = बहने लगा, **हि** = क्योंकि, **अयं** = यह, **समुद्रः** = समुद्र (जल का स्थान), **सर्वतः** = सब ओर, **इव** = समान रूप है, **तस्मात्** = इसलिए, **ह** = निश्चय, **एका** = एक भाग (जल का एक भाग), **उ** = ही, **बीभत्साञ्चक्रिरे** = उसमें मिलने से डर गए, **ताः** = वे (जल), **उपर्युपरि** = ऊपर ऊपर (पृथिवी की ओर), **अति** = छलककर (अतिक्रमण कर), **पुप्रुवि** = बहने लगे (सन्तरण करने लगे), **अतः** = इस (शुद्ध जल) से, **इमे** = ये, **दर्भाः** = दर्भ उत्पन्न हुए, **ताः** = वे (दर्भरूप में परिणत), **ह** = निश्चय, **एताः** = ये, **आपः** = जल,

अनापूयिताः = दुर्गन्ध रहित है, **यत्** = जो, **इतरासु** = अन्य जलों में, **संसृष्टम्** = मिले हुए, **इव** = के जैसे, **वा** = निश्चित रूप से, **अस्ति** = है, **एनाः** = ये, **वृत्रः** = वृत्र के, **पूतिः** = दुर्गन्ध (से युक्त होकर), **अभि** = सब ओर, **प्रास्रवत्** = बह चले, **तत्** = उस, **आसां** = उन जलों के, (पूतिः = दुर्गन्ध को), **एव** = ही, **एताभ्यां** = इन दोनों, **पवित्राभ्यां** = पवित्रों से, **अपहन्ति** = दूर करते हैं, **अथ** = इस प्रकार, **मेध्याभिः** = पवित्र, **अद्भिः** = जलों से, **एव** = ही, **प्रोक्षति** = प्रोक्षण करता है (अध्वर्यु), **तस्मात्** = इसलिए, **वा** = निश्चितरूप से, **एताभ्याम्** = इन दो पवित्रों से, **उत्पुनाति** = उत्पवन (पवित्रीकरण) करता है।।5।।

रेणु-व्याख्या—भूरादि समस्त लोकों को आच्छादित कर सोया हुआ जो वृत्र नामक असुर विशेष था, उसको इन्द्र ने मारा, वह इन्द्र के द्वारा जब मारा गया तब उसके शरीर से दुर्गन्धयुक्त द्रव्य निकला। चूँकि वह विशालकाय था इतना विशाल कि तीनों लोकों को घेरने में समर्थ था, इसलिए उसके मृत शरीर से निकलने वाला जो दुर्गन्ध युक्त द्रव्य था वह भी अपार ही था। वह दुर्गन्ध युक्त द्रव्य पृथिवी के चारों ओर व्याप्त समुद्र के जलों की ओर बहने लगा। समुद्र के जल अपनी ओर आते हुए उस दुर्गन्ध को देखकर भयभीत हो गए। फलतः समुद्र के कुछ जल के भाग यानि एक भाग ऊपर-ऊपर छलकते हुए पृथिवी की ओर बहने लगे। दुर्गन्ध द्रव्य युक्त जलों को अतिक्रमित कर पृथिवी की ओर बहने वाले जल ही शुद्ध बचे शेष समुद्र के समस्त जल दुर्गन्ध युक्त हो गए। उन शुद्ध जलों के पृथिवी से संयोग होने पर वे जल दर्भ (कुशा) रूप में परिवर्तित हो गए। ये दर्भ रूप में परिणत जल ही निश्चित रूप से शुद्ध हैं, (समुद्रस्थ)अन्य जलों की अशुद्धता स्वतः सिद्ध हो जाती है। यह यज्ञ पवित्र कर्म है, अपवित्र जल से इसका अनुष्ठान नहीं हो सकता, यही कारण है कि दो कुशपवित्र का छेदन कर उससे अन्य जलों की अपवित्रता को दूर करते हैं। इस प्रकार पवित्र जलों से ही अध्वर्यु प्रोक्षण करते हैं। इसलिए उत्पवन (पवित्रीकरण/प्रोक्षण) करते समय जल में पवित्र डालकर उससे ही प्रोक्षण करने का विधान श्रुति में प्रतिपादित है। अतः ऐसा ही करना चाहिए।।5।।

[उत्पवनम्]

1.1.3.6. सऽ उत्पुनाति। सवितुर्व्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिरिति सविता वै देवानां प्रसविता। तत्सवितृप्रसूतऽएवैत-दुत्पुनात्यच्छिद्रेण पवित्रेणेति यो वाऽ अयं पवतऽ एषोऽच्छिद्रं

पवि॒त्रमेते॒नैत॒दाह सू॒र्यस्य रश्मि॒भिरि॒त्येते वा॒ऽउत्पविता॒रो यत्सू॒र्यस्य रश्म॒यस्त॒स्मादाह सू॒र्यस्य रश्मि॒भिरि॒ति॥6॥

ऋजुपाठः—स उत्पुनाति—"सवितुर्वः प्रसवऽ उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः" (1 अ. 12 मं.) इति। सविता वै देवानां प्रसविता, तत्सवितृप्रसूत एवैतदुत्पुनाति—अच्छिद्रेण पवित्रेणेति। यो वा अयं पवते—एषोऽच्छिद्रं पवित्रम्। एतेनैतदाह—सूर्यस्य रश्मिभिरिति। एते वा उत्पवितारः—यत्सूर्यस्य रश्मयः। तस्मादाह—सूर्यस्य रश्मिभिरिति॥6॥

सा.भा.—विहितमुत्पवनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—**स** इति। सविता वा इत्यादि पूर्ववत्। अच्छिद्रशब्दार्थमाह—**यो वा** इति। योऽयं वायुः पवते, एष खल्वविच्छेदेन सर्वत्र वर्तमानश्छिद्ररहितं पवनसाधनम्। **एते वा** इति। 'एते' सूर्यस्य रश्मयः, 'उत्' उत्कृष्टम्, पवितारः शोधकाः, अतस्तैः करणभूतैरुत्पवनं युक्तमित्यर्थः॥6॥

अन्वयः—सवितुः प्रसवे अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः वः उत्पुनामि इति (अनेन मन्त्रेण) स उत्पुनाति। सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एव अच्छिद्रेण पवित्रेणेति एतत् उत्पुनाति। एषो अच्छिद्रं पवित्रं यो वा अयं पवते एतेन एतद् सूर्यस्य रश्मिभिः इति आह। एते वा उत्पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयः। तस्मात् सूर्यस्य रश्मिभिः इत्याह॥6॥

पदार्थः—**सवितुः** = सविता देवता की, **प्रसवे** = आज्ञा में, **अच्छिद्रेण** = छिद्ररहित, **पवित्रेण** = पवित्र के द्वारा, **सूर्यस्य** = सूर्य की, **रश्मिभिः** = किरणों से, **वः** = तुमको, **उत्पुनामि** = पवित्र करता हूँ, **इति** = यह (यजु-1.12) मंत्र पढ़कर, **सः** = वह (अध्वर्यु), **उत्पुनाति** = पवित्र करता है। **सविता** = सविता देवता, **वै** = निश्चय, **देवानां** = देवों का, **प्रसविता** = आज्ञापक है, **तत्** = इसलिए, **सवितृ** = सविता देव से, **प्रसूतः** = प्रेरित होकर, **एव** = ही, **अच्छिद्रेण** = छिद्ररहित (दोषरहित), **पवित्रेण** = पवित्र से, **इति** = इस प्रकार, **एतत्** = यह, **उत्पुनाति** = पवित्र करता है, **एषो** = यह, **अच्छिद्रं** = छिद्ररहित, **पवित्रं** = पवित्र है, **यः** = जो, **वै** = ही, **अयं** = यह (वायु), **पवते** = पवित्र करता है, **एतेन** = इस कथन के द्वारा, **एतत्** = यह, **सूर्यस्य** = सूर्य की, **रश्मिभिः** = किरणों से, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है, **एते** = ये, **वै** = ही, **उत्पवितारः** = पवित्र करने वाली हैं, **यत्** = जो, **सूर्यस्य** = सूर्य की, **रश्मयः** = किरणें हैं, **तस्मात्** = इसलिए, **सूर्यस्य** = सूर्य की, **रश्मिभिः** = किरणों से (पवित्र करता हूँ), **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है॥6॥

रेणु-व्याख्या–वृत्रासुर वध के आख्यान द्वारा दर्भ की पवित्रता को बताते हुए दर्भ पवित्र के साथ प्रोक्षणी पात्रस्थ जल से अध्वर्यु प्रोक्षण करते हुए–मैं सविता देवता की आज्ञा में छिद्ररहित पवित्र से सूर्य की किरणों से तुम्हें पवित्र करता हूँ ऐसा मन्त्रवाक्य बोलकर पवित्र (प्रोक्षण) करता है। वस्तुतः सविता देवता ही सभी देवों के आज्ञापक अर्थात् शासन करने वाले हैं। इसलिए सविता देवता से प्रेरित होकर ही छिद्र (दोष) रहित पवित्र से इस प्रकार पवित्र करता है।

इस संसार में सत्य ही पवित्रता का मुख्य आश्रय है। इसलिए कहा जाता है– सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः। सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्। सत्य की परिभाषा याज्ञवल्क्य ने दी है–"नामरूपे सत्यम्" नाम एवं रूप से युक्त जो है वह सत्य है। इस प्रकार भूलोक का सर्वप्रथम सत्य सूर्य है। सूर्य सबको पवित्र करता है। इस सत्य की व्याप्ति के लिए यहाँ वायु का उदाहरण दिया गया है जिस प्रकार वायु अविच्छिन्न गति से बहता है, उसी प्रकार सूर्य की किरणें द्युलोक से पृथ्वी लोक तक अच्छिद्र रूप से आती हैं। अतः वायु पवित्र करने में समर्थ है इसलिए पवन नाम से प्रसिद्ध है। सूर्यकिरणें भी निरन्तर प्रवहणशील वायु की तरह पवित्रकारक हैं, अतः छिद्ररहित पवित्र रूप सूर्य की किरणों से पवित्र करता हूँ ऐसा अध्वर्यु कहता है। क्योंकि ये सूर्य की किरणें पावक एवं शोधक हैं, इसलिए सूर्य की किरणों से पवित्र करता हूँ ऐसा कहता है॥6॥

1.1.3.7. ताः सव्ये पाणौ कृत्वा। दक्षिणेनो दिङ्गयत्युपस्तौ- त्येवैनाऽएतन्महयत्येव देवीरापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुवऽइति देव्यो ह्यापस्तस्मादाह देवीरापऽ इत्यग्रेगुवऽइति ता यत्समुद्रं गच्छन्ति तेनाग्रेगुवोऽग्रेपुव इति ता यत्प्रथमाः सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति तेनाग्रेपुवोऽग्रऽ इममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपति ꣳ सुधातुं यज्ञ- पतिं देवयुवमिति साधु यज्ञ ꣳ साधु यजमानमित्येवैतदाह॥7॥

ऋजुपाठः–ताः सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणनोदिङ्गयति, उपस्तौत्येवैना, एतन्महयत्येव–"देवीरापो ऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुवः" (1 अ. 12 मं.) इति। देव्यो ह्यापः तस्मादाह–देवीराप इति। अग्रेगुव इति। ता यत्समुद्रं गच्छन्ति, तेनाग्रेगुवः। अग्रेपुव इति। ता यत्प्रथमाः सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति तेनाग्रेपुवः। "अग्र इममद्य यज्ञं नयताग्रे

यज्ञपति ꣡ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम्" (1 अ. 12 मं.) इति। साधु यज्ञं साधु यजमानम्–इत्येवैतदाह।।7।।

सा.भा.–उत्पवनानन्तरं कर्त्तव्यं विधत्ते–**ता** इति। 'ताः' प्रोक्षणीरपोऽग्निहोत्रहवण्या पात्रेण साकं सव्ये पाणौ धारयन् "देवीरापः" इति मन्त्रेण दक्षिणेन हस्तेन 'उदिङ्गयति' ऊर्ध्वं सेचनेन चालयति। "इगि रिगि लिगि गत्यर्थाः (भ्वदि प. 153-155) इति धातुः। मन्त्रतात्पर्यमाह–उपस्तौतीति। 'एतत्' एतेन, देवीराप इति मन्त्रपठनेन 'एनाः' अपः प्रशंसत्येव। तेन च प्रशंसनेन 'महयति' पूजयत्येव। कस्तर्ह्यासां स्तावकस्तथाविधो मन्त्र इति तं दर्शयति–**देवीरिति**। स्तुतिरूपतामुपपादयति–**देव्य** इत्यादिना। अपां देवतारूपत्वेन देवीत्वं प्रसिद्धमिति 'हि'–शब्दार्थः।

ता यदित्यादे। 'अग्रे' पुरतो वर्तमानं समुद्रं गच्छन्तीति 'अग्रेगुवः'। अग्रेगूशब्दस्य समुद्रगामित्वं विवक्षितमिति भावः। 'ऊङ् च गमादीनाम्' इति गमेरूकारः (पा.सू. 6/4/40/ अत्रत्यं वार्तिकम् 1)। **ता यत्प्रथमा** इति। आपः खल्वभिषवार्थमासिच्यमाना यष्टव्यदेवताभ्यः पूर्वं सोमरसमास्वादयन्ति। तेन सोमपानेन 'अग्रे' प्रथमं स्वात्मानं पुनन्तीति 'अग्रेपुवः'। उभयत्र "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" (पा.सू. 6.3.14) इति अग्रशब्दात् सप्तम्या अलुक्।

साधु यज्ञमित्यादि। 'अग्र इमम्' इत्यत्र 'अग्र'–शब्दः प्राशस्त्यवाची। 'अग्रे' प्रशस्ते 'अद्य' अस्मिन् काले 'इमम्' यज्ञं प्रापयतेति प्रतिपादयता मन्त्रेण 'साधु यज्ञं नयत'–इत्येवोक्तं भवति, प्राशस्त्यं प्राप्तस्य साधुत्वनियमात्। यज्ञस्य पतिः यज्ञपतिः, तमिति। यज्ञशब्देन यजमानो विवक्षित इति व्याचष्टे **साधु यजमानमिति**। अत्रापि पूर्ववत् 'अग्रे' शब्दव्याख्यानम्। साध्विति विशेषणम्।।7।।

अन्वयः–सव्ये पाणौ ताः कृत्वा दक्षिणेन उदिङ्गयति एना उपस्तौति एव, एतत् एव देवीः आपः अग्रे गुवः अग्रे पुवः इति (उक्ता) महयति। हि आपः देव्यः तस्मात् देवीः आप इति अग्रे गुव इति आह। ता यत् समुद्रं गच्छन्ति तेन अग्रे गुवः अग्रे पुवः इति कथयति ताः यत् राज्ञः सोमस्य प्रथमाः भक्षयन्ति तेन अग्रे पुव, अद्य इमं यज्ञं अग्रे नयत, यज्ञपतिं सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम् अग्रे (नयत) इति (तेन) यज्ञं साधु यजमानं साधु (नयत) इति एव एतत् आह।।7।।

पदार्थः–**सव्ये** = वायें, **पाणौ** = हाथ में, **ताः** = उन (प्रोक्षणीस्थ जलों) को, **कृत्वा** = लेकर, **दक्षिणेन** = दायें हाथ (में पवित्र दर्भद्वय) से, **उदिङ्गयति** = जलसिञ्चन करता हुआ ऊपर की ओर हिलाता है। उस समय, **एनाः** = इनकी, **उपस्तौति** = स्तुति करता है, **एतत्** = ये, **एव** = ही, **देवीः** = दिव्यगुणयुक्त, **आपः** = जल, **अग्रे** = आगे, **गुवः** = जाने वाले हैं, **अग्रे** = सर्वप्रथम, **पुवः** = पवित्र करने वाले हैं, **इति** = ऐसा (यजु. 1.12) बोलकर, **महयति** = जलों की

महत्ता को बताते हुए पूजन करता है। **हि** = क्योंकि, **आपः** = जल, **देव्यः** = दिव्यगुणों से युक्त हैं, **तस्मात्** = इसलिए, **देवीः** = देदीप्यमान, **आपः** = जल, **इति** = ऐसा तथा, **अग्रे** = सर्वप्रथम, **पुवः** = पवित्रकारक, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है (अध्वर्यु)। **ताः** = वे जल, **यत्** = जो, **समुद्रे** = समुद्र की ओर, **गच्छन्ति** = जाते हैं, **तेन** = इस कारण से, **अग्रे** = आगे, **गुवः** = जाने वाले, **अग्रे** = आगे (प्रथमतया), **पुवः** = पवित्र करनेवाले हैं, **इति** = ऐसा कहता है। **ताः** = वे जल, **यत्** = जो, **राज्ञः** = राजा का, **सोमस्य** = सोम का, **प्रथमाः** = सर्वप्रथम, **भक्षयन्ति** = भक्षण करते हैं, **तेन** = इस कारण से, **अग्रे** = प्रथम, **पुवः** = पवित्र करने वाले (कहे गए) हैं, **अद्य** = आज, **इमं** = इस, **यज्ञं** = यज्ञ को, **अग्रे** = आगे, **नयत** = ले चलो, **यज्ञपतिं** = यजमान को, **सुधातुं** = हिरण्यादि धातुओं से युक्त, यज्ञपति यजमान को, **देवयुवं** = दिव्यगुणों वाले (देवों के प्रिय) को, **अग्रे** = आगे (ले चलो), **इति** = ऐसा यजु बोलता है, (इस प्रकार) **यज्ञं** = यज्ञ को, **साधु** = अच्छी प्रकार से, **यजमानं** = यजमान को, **साधु** = अच्छी प्रकार से (ले चलो), **इति** = ऐसा, **एव** = ही, **एतत्** = यह कथन, **आह** = कहता है।।7।।

रेणु-व्याख्या–उन प्रोक्षणी पात्रस्थ जलों को अध्वर्यु बायें हाथ में लेकर दाहिने हाथ से दोनों कुश पवित्रों की सहायता से जल का सिञ्चन करता हुआ ऊपर की ओर उछालता है। उसी समय जल की स्तुति करते हुए कहता है कि–ये जल ही दिव्यगुणों से युक्त आगे जाने वाले हैं, यही सर्वप्रथम पवित्र करने में समर्थ है। इस प्रकार यजुर्वेदोक्त (1.12) मन्त्र पढ़कर जल के महत्त्व को कहता हुआ उसका गुणगान करता है। क्योंकि जल दिव्यगुणों से युक्त हैं इसलिए ये जल देदीप्यमान हैं तथा सर्वप्रथम पवित्रकारक हैं ऐसा कहता है। यहाँ जल के दो विशेषण 'अग्रेगुवः' और 'अग्रेपुवः' का प्रयोग किया गया है। इसका हेतु बताते हुए शतपथकार कहते हैं कि वे जल जो समुद्र की ओर जाते हैं इस कारण से अग्रेगुव तथा प्रथमतया पवित्र करने वाले हैं इसलिए अग्रेपुव कहलाते हैं। दूसरा हेतु है कि यह जल राजा सोम का सर्वप्रथम भक्षण करता है, चूँकि सोम को कूटते समय जल मिलाना ही पड़ता है, बिना जल मिलाये सोम रस निष्पीडन सम्भव नहीं, अतः सोम में पहले मिलने के कारण अग्रेगुव तथा सोम से मिलकर सर्वप्रथम पवित्र रस के रूप में परिणत होने के कारण अग्रेपुव कहा गया है।

अब इन दिव्य गुणों से युक्त विशेषणद्वय से स्तुत्य जल से प्रार्थना करता है अध्वर्यु कि–हे जल! तुम आज इस यज्ञ को आगे ले चलो तथा हिरण्यादि उत्तम धातुओं से युक्त यजमान को जो देवताओं का अत्यन्त प्रिय है, उसको आगे ले चलो। इस प्रकार

के यजु का प्रयोग करता हुआ अध्वर्यु जल से कहता है कि हे जल! यजमान को एवं यज्ञ को उत्तम रीति से (भली प्रकार) आगे की ओर ले चलो ऐसा कहता है।।7।।

[अपः प्रार्थनम्]

1.1.3.8. युष्माऽइन्द्रो ऽवृणीत व्वृत्रतूर्यऽ इति। (त्ये) एताऽ उ हीन्द्रो ऽवृणीत व्वृत्रेण स्पर्द्धमानऽ एताभिर्ह्येनमहंस्तस्मादाह युष्माऽ इन्द्रोऽवृणीत व्वृत्रतूर्यऽइति।।8।।

ऋजुपाठः–"युष्माऽइन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये"–(यजु- 1 अ. 13 मं.) इति। एता उ हीन्द्रोऽवृणीत वृत्रेण स्पर्द्धमानः। एताभिर्ह्येनमहन्, तस्मादाह–युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्य इति।।8।।

सा.भा.–युष्मा इन्द्र इति। हे आपः! युष्मान् वृत्रं हन्तुकाम इन्द्रः साहाय्यकरणार्थं प्रार्थयामास। ताश्च यूयं वृत्रशरीरनिरुद्धा विस्रम्भगमनार्थं वृत्रं हन्तुमिन्द्रं प्रार्थितवत्यः। अत ईदृग्विधं परस्परप्रार्थनं युष्मा इन्द्र इत्यादिना मन्त्रभागेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः।।8।।9।।

अन्वयः–युष्मान् इन्द्रो वृत्रतूर्ये अवृणीत इति (जपति)। इन्द्रो वृत्रेण स्पर्द्धमानः एता उ अवृणीत हि एताभिः एनम् अहन् तस्मात् युष्माऽइन्द्रोऽ वृणीत वृत्रतूर्य इति आह।।8।।

पदार्थः–हे जलो! **युष्मान्** = तुम्हें, **इन्द्रो** = इन्द्र ने, **वृत्रतूर्ये** = वृत्र को मारने के लिए, **अवृणीत** = वरण किया था (चुना था), **इति** = यह (यजु. 1.13) मन्त्र जपता है। **इन्द्रः** = इन्द्र, **वृत्रेण** = वृत्रासुर से, **स्पर्द्धमानः** = स्पर्द्धा करता हुआ (युद्ध करता हुआ), **एताः** = इन जलों को, **उ** = ही, **अवृणीत** = चुना, **वृत्रतूर्ये** = वृत्र के वध के लिए, **इति** = ऐसा, **आह** = अध्वर्यु कहता है।।8।।

रेणु-व्याख्या–अब अध्वर्यु जलों की स्तुति का मन्त्र जपता हुआ कहता है कि–हे जलो! देवराज इन्द्र ने वृत्रासुर के वध हेतु तुम्हारा ही चयन किया था। जब इन्द्र वृत्रासुर से युद्ध कर रहे थे तब उस युद्ध को जीतने के लिए जलों का वरण किया था, इन जलों की सहायता से ही पापात्मा वृत्र को नष्ट करने की इच्छा इन्द्र ने की थी इसलिए इन जलों को इन्द्र ने अपना साथी (सहयोगी) बनाया था। यह प्रशंसा वाक्य अध्वर्यु पढ़ता है।।8।।

1.1.3.9. यूयमिन्द्रमवृणीध्वं व्वृत्रतूर्यऽ इति। (त्ये) एताऽ उ हीन्द्रमवृणत व्वृत्रेण स्पर्द्धमानमेताभिर्ह्येनमहंस्त- स्मादाह यूयमिन्द्रमवृणीध्वं व्वृत्रतूर्यऽइति।।9।।

ऋजुपाठः–"यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये" (यजु– 1 अ. 13 मं.) इति। एता उ हीन्द्रमवृणत वृत्रेण स्पर्द्धमानम्। एताभिर्ह्येनमहन्, तस्मादाह– यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्य इति॥9॥

सा.भा.–भाष्यमुपर्युक्तम्।

अन्वयः–वृत्रतूर्ये यूयम् इन्द्रम् अवृणीध्वम् इति। हि वृत्रेण स्पर्द्धमानम् एता उ इन्द्रम् अवृणत हि एताभिः एनम् अहन् तस्मात् यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये इति आह॥9॥

पदार्थः–**यूयम्** = हे जलो! आप लोगों ने भी, **वृत्रतूर्ये** = वृत्र वध के लिए, **इन्द्रम्** = इन्द्र को, **अवृणीध्वम्** = चुना था, **इति** = ऐसा (यजु. 1.13) कहता है। **हि** = क्योंकि, **वृत्रेण** = वृत्र के साथ, **स्पर्द्धमानम्** = स्पर्द्धा (युद्ध) करते हुए, **एताः** = ये जल, **उ** = ही, **इन्द्रम्** = इन्द्र को, **अवृणत** = अपनी सहायता के लिए चुना, **हि** = क्योंकि, **एताभिः** = इन जलों की सहायता से, **एनम्** = इस वृत्र को, **अहन्** = मार सका (इन्द्र), **तस्मात्** = इसलिए, **यूयम्** = आप लोगों ने, **इन्द्रम्** = इन्द्र को, **अवृणीध्वं** = चुना, **वृत्रतूर्ये** = वृत्र वध के लिए, **इति** = ऐसा, **आह** = (अध्वर्यु) कहता है॥9॥

रेणु-व्याख्या–अब अध्वर्यु पुनः जल से कहता है कि–हे जलो! न केवल इन्द्र ने आपको चुना था अपितु आप लोगों ने भी वृत्र से युद्ध के समय उसके वध के लिए इन्द्र का ही वरण किया था। चूँकि वृत्र से युद्ध करते समय आप ने इन्द्र को अपना सहायक बनाया और इन्द्र ने भी इन जलों की सहायता से वृत्र का वध करना चाहा था। फलतः परस्पर इन्द्र एवं जलों के सहयोग से वृत्रवध हो सका था। यह इन्द्र एवं जल की परस्पर प्रार्थना इस मन्त्रभाग द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। इसलिए यहाँ कहा गया है कि–हे जलो! आपने भी इन्द्र को वृत्र के युद्ध में अपना साथी बनाया। इसी बात को गीता में स्पष्ट करते हुए कहा गया है–"परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥" अर्थात् एक दूसरे के सहयोग से श्रेय (कार्यसिद्धि) प्राप्त होती है॥9॥

[प्रोक्षणम्]

1.1.3.10. प्रो॒क्षिताः स्थे॒ति। त॒दे॒ता॒भ्यो नि॒ह्नु॒ते॒ऽथ हविः प्रो॒क्षत्येको वै प्रो॒क्षणस्य ब॒न्धु॒र्मे॒ध्य-मे॒वैत॒त्करोति॥10॥

ऋजुपाठः–"प्रोक्षिताः स्थ"–(1 अ. 13 मं.) इति। तदेताभ्यो निह्नुते। अथ हविः प्रोक्षति। एको वै प्रोक्षणस्य बन्धुः-मेध्यमेवैतत्करोति॥10॥

सा.भा.–तदेताभ्य इति। यद्यपि प्रोक्षणीनामपां स्वातिरिक्तजलेन शुद्ध्यर्थं प्रोक्षणं नास्ति, तथापि "प्रोक्षिताः स्थ"–इति स्वात्मनैव प्रोक्षिता भवतेति मन्त्रेण प्रतिपादनात् प्रोक्षणवत्त्वसिद्धेः 'तत्' तेन मन्त्रपाठेनाप्रोक्षणजनितमपराधम् 'एताभ्यः' प्रोक्षणीभ्यः 'निह्नुते' अपनयति। प्रोक्षणपात्रगतेनैवोदकेन तत्पात्रगतमुदकमनेन मन्त्रेण प्रोक्षितव्यमिति तात्पर्यार्थः। अत एवोक्तं सूत्रकृता कात्यायनेन–"प्रोक्षिताः स्थेति तासां प्रोक्षणम्" (श्रौ.सू. 2.80) इति। तैत्तिरीयकश्रुतिस्तु एतन्मन्त्रपठनमेवासां प्रोक्षणं मेने, यदाह–"प्रोक्षिताः स्थेत्याह तेनापः प्रोक्षिता" इति (तै.सं. 1/1/5/3/, तै.ब्रा. 3/2/5) एवं संस्कृताभिरद्भिर्हविषः प्रोक्षणं विधत्ते–**अथ हविरिति।** वक्ष्यमाणस्य हविःप्रोक्षणविधिशेषार्थवादस्य सर्वप्रोक्षणविधिसाधारण्यमाह–**एको वा** इति। 'बन्धुः' अनुकूलं स्तावकमर्थवादवाक्यम्, सर्वस्यापि प्रोक्षणस्य 'एको वै' एकविधमेव; अतस्तत्सर्वत्र योजनीयमिति भावः। किंपुनस्तदित्याह–**मेध्यमिति**॥10॥

अन्वयः–प्रोक्षिताः स्थ इति (मन्त्रेण) एताभ्यो तत् निह्नुते अथ हविः प्रोक्षति एको वै प्रोक्षणस्य बन्धुः एतत् मेध्यम् एव करोति॥10॥

पदार्थः–प्रोक्षिताः स्थ = आप सब पवित्र हो गये, **इति** = इस (यजु. 1. 13) मंत्र का पाठ करता है, **एताभ्यो** = इनके (प्रोक्षण के) लिए, **तत्** = उस जल को, **निह्नुते** = नीचे की ओर गिराता है, **अथ** = इसके बाद, **हविः** = हवियों का, **प्रोक्षति** = प्रोक्षण करता है, **एको** = एक, **वै** = ही, **प्रोक्षणस्य** = प्रोक्षण का, **बन्धुः** = प्रयोजन है, (इस प्रकार), **एतत्** = इनको, **मेध्यम्** = पवित्र, **एव** = ही, **करोति** = करता है॥10॥

रेणु-व्याख्या–जल एवं इन्द्र के परस्पर प्रार्थना के प्रसंग का स्मरण करने के बाद अध्वर्यु यजुर्वेदोक्त (1.13.) मन्त्रांश का पाठ करता हुआ कहता है कि इस पवित्र जल के प्रोक्षण से 'आप सब पवित्र हो गए' इतना कहकर जल को नीचे की ओर गिराता है। तत्पश्चात् हवियों के ऊपर जल छिड़ककर उसे पवित्र करता है। इस प्रोक्षण का एक मात्र प्रयोजन पवित्रीकरण है। इस प्रकार प्रोक्षण क्रिया के द्वारा समस्त द्रव्यों को यज्ञ के योग्य बनाता है अर्थात् पवित्र करता है॥10॥

1.1.3.11. स प्रोक्षति। (त्य) अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तद्यस्यै देवतायै हविर्भवति तस्यै मेध्यं करोत्येवमेव यथापूर्व्वꣳहवीꣳषि प्रोक्ष्य॥11॥

ऋजुपाठः–स प्रोक्षति–"अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि"–(1 अ. 13 मं.) इति। तद् यस्यै देवतायै हविर्भवति–तस्यै मेध्यं करोति। एवमेव यथापूर्वं हवींषि प्रोक्ष्य।।11।।

सा.भा.–विहितं प्रोक्षणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते–**स प्रोक्षतीति**। **अग्नय** इति मन्त्रे देवतादेशनस्य प्रयोजनमाह–**तद्यस्या** इति। उक्तमन्यत्रादिशति–**एवमिति**। 'एवं' अनेनैव प्रकारेण, यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं भवति, तत्तन्नामचतुर्थ्यन्तेनादिशेदित्यर्थः।।11।।

अन्वयः–सः अग्नये जुष्टं त्वा प्रोक्षामि इति (मन्त्रेण) प्रोक्षति। तत् यस्यै देवतायै हविः भवति एवम् एव यथापूर्वं हवींषि प्रोक्ष्य तस्यै मेध्यं करोति।।11।।

पदार्थः–**सः** = वह (अध्वर्यु), **अग्नये** = अग्नि के लिए, **जुष्टं** = प्रीतिकर, **त्वा** = तुम्हें, **प्रोक्षामि** = पवित्र करता हूँ, **इति** = इस मन्त्र से, **प्रोक्षति** = प्रोक्षण करता है। **तत्** = उस समय, **यस्यै** = जिस, **देवतायै** = देवता के लिए, **हविः** = हवि, **भवति** = होती है, **एवम्** = इस प्रकार, **एव** = ही, **यथापूर्वं** = हवि प्रदान के क्रमानुसार, **हवींषि** = हवियों को, **प्रोक्ष्य** = प्रोक्षणादि विधि से पवित्रकर, **तस्यै** = उन-उन देवताओं के लिए, **मेध्यं** = पवित्र (यज्ञ के योग्य), **करोति** = करता (बनाता) है।।11।।

रेणु-व्याख्या–प्रोक्षण कर्म करता हुआ अध्वर्यु हवियों का प्रोक्षण करता है। हवियों के प्रोक्षण हेतु जिन-जिन देवताओं के निमित्त जो-जो हवि ली गई है, उन देवताओं के क्रमानुसार उन-उन देवताओं के चतुर्थ्यन्त नाम निर्देश पूर्वक हवियों का प्रोक्षण करता है। तदनुसार अग्नि सम्बन्धी हवि का प्रोक्षण करता हुआ यजुर्वेदोक्त (1.13) मन्त्रांश का पाठ करके "हे हवि! अग्नि देव के लिए प्रीतिकर तुम्हें मैं पवित्र करता हूँ" यह कहकर प्रोक्षण करता है। इस प्रकार अन्य हवियों को भी जिन-जिन देवताओं की हवि होती है, उन-उन देवताओं के नाम चतुर्थी विभक्ति घटित लेकर ही ततत् हवियों का यथापूर्व (क्रमानुसार) प्रोक्षण (पवित्रीकरण) करता हुआ उन्हें यज्ञ के योग्य बनाता है।।11।।

[यज्ञपात्रप्रोक्षणम्]

1.1.3.12 (क्ष्या) अथ यज्ञपात्राणि प्रोक्षति। दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायाऽ इति दैव्याय हि कर्मणे शुन्धति देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं व्वस्तच्छुन्धामीति तद्यदेवैषामत्राशुद्धस्तक्षा वान्यो वामेध्यः कश्चित्पराहन्ति तदेवैषामेतदद्भिर्मेध्यं करोति तस्मादाह यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं व्वस्तच्छुन्धामीति।।12।।

इति प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके प्रथमाध्याये वा तृतीयं ब्राह्मणम्।।1।।3।।

ऋजुपाठः–अथ यज्ञपात्राणि प्रोक्षति– **"दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै"** (1 अ. 13 मं.) इति। दैव्याय हि कर्मणे शुन्धति देवयज्यायै– **"यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि"**–(1 अ. 13 मं.) इति। तद्यदेवैषामत्राशुद्धस्तक्षा वा, अन्यो वाऽमेध्यः कश्चित् पराहन्ति–तदेवैषामेतदद्भिर्मेध्यं करोति। तस्मादाह–यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामीति।।12।।1।3।।

सा.भा.–हविःप्रोक्षणानन्तरं यज्ञपात्राणां समन्त्रकं प्रोक्षणं विधत्ते–अथेति। **दैव्यायेति।** देवानामिदं 'दैव्यम्'। "देवाद्यञञौ" (पा.सू. 4/1/83/, 4/1/85. वा. 2) इति प्राग्दीव्यतीयो यञ्। 'शुन्धति' शोधयति। 'शुन्ध–विशुद्धौ' (भ्वा.प. 74) इति धातुः। **देवयज्यायै**–इति। देवयजनरूपाय कर्मणे इत्यर्थः। मन्त्रस्यापरभागमनूद्य व्याचष्टे–**यद्व** इति। 'तक्षा' वर्द्धकिः, 'अन्यः' तद्व्यतिरिक्तो वृषलादिः; स सर्वोऽप्यशुद्धत्वात् 'अमेध्यः'। तत्संस्पर्शकृतं यत् 'तत्' 'एषां' पात्राणां दोषजातम्, 'एतत्' अनेन प्रोक्षणेनैषां निवर्तयन्, 'तत्' सर्वं पात्रं यज्ञार्हं करोति। अत ईदृग्विधस्यार्थस्य प्रत्यायनाय यद्व इति मन्त्रभागः पठितव्य इत्युपसंहरति–**तस्मादिति। पराजघ्नुरिति।** पराहतं दूषितं चक्रुरित्यर्थः।।12।। (1/3)

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे माध्यन्दिनशतपथभाष्ये प्रथमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्।।1।। 3।।

अन्वयः–अथ **दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै** इति (मन्त्रेण) यज्ञपात्राणि प्रोक्षति। हि दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै शुन्धति, वो यद् अशुद्धाः पराजघ्नुः तत् वः शुन्धामीति, तत् यत् एव एषाम् अत्र अशुद्धाः तक्षा वा अन्यो वा कश्चित् अमेध्यः पराहन्ति एवम् तत् एतत् अद्भिः एव मेध्यं करोति, तस्मात् यद् वो अशुद्धाः पराजघ्नुः तत् इदं वः शुन्धामि इति आह।।12।।

पदार्थः–**अथ** = हवियों के प्रोक्षण के बाद, **दैव्याय** = देवताओं से सम्बन्धित, **कर्मणे** = यज्ञानुष्ठानादि कर्म के लिए, **शुन्धध्वम्** = शुद्ध हो जाओ, **देवयज्यायै** = देवताओं के यजन के लिए, **इति** = इस (यजु. 1.13) मन्त्रांश से, **यज्ञपात्राणि** = यज्ञपात्रों का, **प्रोक्षति** = प्रोक्षण (पवित्रीकरण) करता है। **हि** = क्योंकि, **दैव्याय** = देवसम्बन्धी, **कर्मणे** = कर्म के लिए, **देवयज्यायै** = देवताओं के निमित्त याग के लिए, **शुन्धति** = शुद्ध करता है (इसलिए), **वो** = तुम्हें, **यत्** = जो, **अशुद्धाः** = अशुद्धों ने स्पर्शादि के द्वारा, **पराजघ्नुः** = दूषित कर दिया है, **तत्** = उस अशुद्धि से, **वः** = तुम्हें, **शुन्धामि** = मुक्त करता हूँ अर्थात्

पवित्र करता हूँ, **इति** = ऐसा यजुर्वेदोक्त मन्त्र बोलता है। **तत्** = इस प्रकार, **यत्** = जो, **एव** = ही, **एषाम्** = इनकी, **अत्र** = यहाँ, **अशुद्धाः** = अशुद्धता है, **तक्षा** = बढ़ई (काष्ठकार) द्वारा, **वा** =अथवा, **अन्यः** = अन्य, **वा** = अथवा, **कश्चित्** = कोई, **अमेध्यः** = अयज्ञीय तत्त्व, **पराहन्ति** = इसे दूषित करते हैं, **एषाम्** = इसके, **तत्** = उन दोषों को, **एतत्** = इस , **अद्भिः** = जलों से, **एव** = ही, **मेध्यं** = पवित्र, **करोति** = करता है, **तस्मात्** = इसलिए, **यत्** = जो, **वो** = तुम्हारी, **अशुद्धाः** = अशुद्धियाँ, **पराजघ्नुः** = दोषादि हैं, **तत्** = वे, **इदं** = ये, **वः** = तुम्हारी, **शुन्धामि** = शुद्ध करता हूँ, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है।।12।।

रेणु-व्याख्या–अध्वर्यु हवियों का प्रोक्षण यथाविधि करने के बाद यज्ञपात्रों को पवित्र करने के लिए यज्ञपात्रों से मन्त्रोच्चारण पूर्वक प्रार्थना करता है कि "दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै" (यजु...1.13) अर्थात् "हे यज्ञपात्र! देवताओं से सम्बन्धित यज्ञानुष्ठान के लिए तुम शुद्ध हो जाओ।" इस यजु के द्वारा यज्ञपात्रों का प्रोक्षण करता है। क्योंकि देवयजन के लिए देव सम्बन्धी कार्य के लिए, इनका प्रोक्षण करता है इसलिए कहता है, कि–हे यज्ञपात्र! अशुद्धों के छूने से या अन्य दोषों ने जो तुम्हें आक्रान्त किया है, उन दोषों तथा अशुद्धियों से मुक्त करने के लिए यह मैं तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। यज्ञपात्र लकड़ियों से बनते हैं सो अध्वर्यु यह भी कहता है कि बढ़ई (काष्ठकार) ने तुम्हारे निर्माण के समय जो तुम्हें स्पर्श किया काटा, छीला, बनाया उन अशुद्धियों से या अन्य कोई दोष तुम्हारे अन्दर व्याप्त हुआ हो उन समस्त दोषों से मुक्त कर तुम्हें यज्ञ के योग्य बनाने हेतु यह प्रोक्षण मैं करता हूँ। तुम्हारे अन्दर जो भी अयज्ञिय तत्त्वों ने अथवा दोषों ने अपना स्थान बना लिया है, वे सभी इस शुद्ध जल के प्रोक्षण से दूर हो जाएँ तथा तुम यज्ञ के योग्य हो जाओ। इसी हेतु से तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ, ऐसा अध्वर्यु कहता है।।12।।

इस प्रकार माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण के प्रथम अध्याय
के तृतीय ब्राह्मण की रेणु हिन्दी व्याख्या सम्पन्न हुई।।

प्रथमकाण्डे प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

[पुरोडाशकरणार्थं कृष्णाजिनादानविधिः]

1.1.4.1. अथ कृष्णाजिनमादत्ते। यज्ञस्यैव सर्व्वत्वाय यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो भूत्वा चचार तस्य देवाऽअनुविद्य त्वचमेवावच्छायाजहुः॥1॥

ऋजुपाठः–अथ कृष्णाजिनमादत्ते यज्ञस्यैव सर्वत्वाय। यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम, स कृष्णो भूत्वा चचार। तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाऽऽजहुः॥1॥

सा.भा.–अथ निरुप्तव्रीहियवावहननार्थं कृष्णाजिनादानं विधत्ते–**अथेति।** सर्वत्वाय इति। अवयवकार्त्स्न्यायेत्यर्थः। कथं कृष्णाजिनादानेन यज्ञस्य कार्त्स्न्यमित्येतदुपपादयितुं पुरावृत्तमुदाहरति–**यज्ञो हेत्यादिना।** 'कृष्णो भूत्वा–' इति, कृष्णमृगस्य रूपमास्थाय। 'अवच्छाय'–इति, अपच्छिद्येत्यर्थः। "छो छेदने" (दि.प. 40) इत्यस्मात् क्त्वो ल्यप् (पा.सू. 7/1/37)॥1॥

अन्वयः–अथ यज्ञस्य सर्वत्वाय एव कृष्णाजिनम् आदत्ते। यज्ञो ह देवेभ्यः अपचक्राम स कृष्णो भूत्वा चचार, देवा अनुविद्य तस्य त्वचम् अवच्छाय एव आजहुः॥1॥

पदार्थः–**अथ** = इसके (हवि प्रोक्षण के) बाद, **यज्ञस्य** = यज्ञ की, **सर्वत्वाय** = सम्पूर्णता (समग्रता) के लिए, **एव** = ही, **कृष्णाजिनम्** = कृष्ण मृग चर्म, **आदत्ते** = लेता है, **यज्ञो** = यज्ञ, **ह** = निश्चय, **देवेभ्यः** = देवताओं के पास से, **अपचक्राम** = दूर चला गया, **स** = वह (यज्ञ), **कृष्णो** = कालामृग, **भूत्वा** = बनकर, **चचार** = घूमने लगा, **देवा** = देवताओं ने, **अनुविद्य** = उसे खोजकर, **तस्य** = उस (काले मृग) की, **त्वचम्** = त्वचा (चमड़ा) को, **अवच्छाय** = उतारकर (छेदन कर), **एव** = ही, **आजहुः** = ले आये॥1॥

रेणु-व्याख्या–हवि के रूप में निरुप्त व्रीहि यव आदि द्रव्यों के अवहननार्थ कृष्णाजिनादान का विधान कहते हैं–हविग्रहण एवं प्रोक्षण के बाद यज्ञ की सम्पूर्णता अर्थात् साङ्गोपाङ्ग सम्पादन के लिए काले मृग का

चर्म अध्वर्यु लेता है। कृष्णाजिन ग्रहण का हेतु स्पष्ट करने के लिए एक पुरावृत्त (ऐतिहासिक घटना) को उद्धृत करते हुए शतपथकार कहते हैं कि–एक बार यज्ञ देवताओं के पास से निश्चित रूपेण दूर चला गया। वह यज्ञ दूर भाग कर काला मृग का रूप धारण कर यत्र-तत्र घूमने लगा, देवताओं ने यत्नपूर्वक अन्वेषण कर उसे खोज निकाला तथा उसकी त्वचा (चमड़ा) उतारकर ले आये।।1।।

[कृष्णाजिनस्य यज्ञरूपत्वं त्रयीमयत्वञ्च]

1.1.4.2. (स्त) तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि। तान्यृचां च साम्नां च रूपं यानि शुक्लानि तानि साम्ना ꣳ रूपं यानि कृष्णानि तान्यृचां यदि वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि साम्ना ꣳ रूपं यानि शुक्लानि तान्यृचां यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तानि यजुषा ꣳ रूपम्।।2।।

ऋजुपाठः–तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि–तान्यृचां च साम्नां च रूपम्। यानि शुक्लानि तानि साम्नां रूपम्, यानि कृष्णानि तान्यृचाम्। यदि वेतरथा–यान्येव कृष्णानि तानि साम्नां रूपम्, यानि शुक्लानि तान्यृचाम्। यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तानि यजुषां रूपम्।।2।।

सा.भा.–तस्य कृष्णाजिनस्य यज्ञरूपतां वक्तुं त्रयीमयत्वं प्रतिपादयति–**तस्य यानी**त्यादिना। शुक्लकृष्णलोम्नां संग्रहात् ऋक्सामात्मकतामुक्त्वा विभज्यापि दर्शयति–**तस्य यानि शुक्लानीति**। 'यदि वा' इति पक्षान्तरकथनम्। 'इतरथा' उक्तवैपरीत्येनेत्यर्थः। तदेव दर्शयति–**यान्येवेति**। एवं कृष्णाजिनस्य ऋक्सामतामुक्त्वा यजूरूपत्वमप्याह–**यान्येव बभ्रूणीति**। पिङ्गलवर्णानीव यानि लोमानि 'हरीणि' हरितवर्णानि, तानि यजुषां रूपम्।।2।।

अन्वयः–तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि तानि ऋचां च साम्नां च रूपम्, यानि शुक्लानि तानि साम्नां रूपं यानि कृष्णानि तानि ऋचां (रूपम्) वा यदि इतरथा यानि कृष्णानि तानि साम्नां रूपं यानि शुक्लानि तानि ऋचां रूपम् एव, यानि बभ्रूणीव हरीणि तानि यजुषां रूपम्।।2।।

पदार्थः–**तस्य** = उस (मृगचर्म) के, **यानि** = जो, **शुक्लानि** = सफेद, **च** = और, **कृष्णानि** = काले, **च** = और, **लोमानि** = लोम (रोम, बाल) हैं, **तानि** = वे, **ऋचां** = ऋचाओं के, **च** = और, **साम्नां** = सामों के, **च** = और, **रूपम्** =

रूप हैं, **यानि** = जो, **शुक्लानि** = सफेद (श्वेत रंग के) हैं, **तानि** = वे, **साम्नां** = सामों के, **रूपं** = रूप हैं, **यानि** = जो, **कृष्णानि** = काले हैं, **तानि** = वे, **ऋचां** = ऋचाओं के (**रूपम्** = रूप हैं), **वा** = अथवा, **यदि** = यदि, **इतरथा** = इससे भिन्न प्रकार से समझें तो, **यानि** = जो, **कृष्णानि** = काले रूप हैं, **तानि** = वे, **साम्नां** = सामों के, **रूपं** = रूप हैं, **यानि** = जो, **शुक्लानि** = सफेद लोम हैं, **तानि** = वे, **ऋचां** = ऋचाओं के, **रूपं** = रूप हैं, **एव** = ही, **यानि** = जो, **बभ्रूणीव** = भूरे रंग की तरह, **हरीणि** = हरे रंग के हैं, **तानि** = वे, **यजुषां** = यजुओं के, **रूपम्** = रूप हैं।।2।।

रेणु-व्याख्या–कृष्णमृग चर्म में भी तीन या तीन से अधिक रंग के लोम होने की बात उक्त मन्त्र में कही गई है। मुख्य रूप से दो रंग तो होते ही हैं सफेद और कृष्ण, इन दोनों रंगों की सन्धि भाग को स्पर्श कर मन्त्र पाठ करने का विधान किया गया है। वहाँ मन्त्र प्रयुक्त है–"ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः" शुक्लयजुर्वेद संहिता चतुर्थाध्याय (सोमयाग प्रकरण) में। उन दोनों रंगों के विषय में यहाँ कहा जा रहा है कि उस मृगचर्म के जो सफेद और काले लोम (बाल) हैं, वे ऋक् एवं साम के रूप हैं। उसमें जो सफेद हैं वे साम के तथा काले ऋचाओं के रूप हैं। अथवा इसका विपरीत क्रम यह है कि जो काले हैं वे साम के तथा सफेद ऋचाओं के रूप ही हैं। उसमें जो भूरे जैसे रंग के हैं या हरे रंग के लोम हैं , वे यजुओं के रूप हैं। इस प्रकार श्वेत, श्याम, बभ्रु एवं हरित इन चार रंगों की उपस्थिति कृष्णमृगचर्म में दर्शायी गई है।।2।।

[यज्ञस्य त्रैविद्यत्वम्]

1.1.4.3. (ऄ) सैषा त्रयी विद्या यज्ञः। (स्त) तस्या एतच्छिल्पमेष व्वर्णस्तद्यत्कृष्णाजिनं भवति यज्ञस्यैव सर्व्वत्वाय तस्मात्कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते यज्ञस्यैव सर्व्वत्वाय तस्मादध्यवहननमधिपेषणं भवत्यस्कन्नꣳ हविरसदिति तद्यदेवात्र तण्डुलो वा पिष्टं वा स्कन्दात्तद्यज्ञे यज्ञः प्रतितिष्ठादिति तस्मादध्यवहनन-मधिपेषणं भवति।।3।। [अर्धप्रपाठकः।।60।।]

ऋजुपाठः–सैषा त्रयी विद्या यज्ञः। तस्य एतच्छिल्पम्–एष वर्णः। तद्यत् कृष्णाजिनं भवति। यज्ञस्यैव सर्वत्वाय। तस्मात्कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते–यज्ञस्यैव सर्वत्वाय।

तस्मादध्यवहननमधिपेषणं भवति–अस्कन्नं हविरसदिति। तद्यदेवात्र तण्डुलो वा पिष्टं वा स्कन्दात्–तद्यज्ञे यज्ञः प्रतितिष्ठादिति। तस्मादध्यवहननमधिपेषणं भवति॥3॥

सा.भा.–अस्त्वेवमृक्सामयजुरात्मकत्वं कृष्णाजिनस्य, तदादानेन कथं यज्ञस्य कात्स्न्र्यमित्यत आह–**सैषेति।** यैषा ऋग्यजुस्सामात्मिका त्रयी विद्या, सैव यज्ञः तत्साध्यत्वात्। य एष शुक्लकृष्णादिलक्षणो वर्णः, एतत्तस्यास्त्रय्या उक्तरीत्या 'शिल्पम्' चित्रं रूपम्। अत एवोपरिष्टात् सोमप्रकरणे मन्त्र आम्नास्यते–"ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः"–(4 अ. 9 मं.)–इति। एवमपक्रान्तस्य यज्ञरूपस्य कृष्णाजिनस्यादानं यज्ञस्य कात्स्न्र्याय भवतीत्यर्थः। **कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते** इति। यस्मादेवं कृष्णाजिनं त्रयीरूपत्वेन यज्ञरूपम्, 'तस्मात्' सोमाङ्गभूता दीक्षापि कृष्णाजिनस्योपरि क्रियते। कृष्णाजिनादानस्य प्रयोजनान्तरमाह–**तस्मादधीति।** 'अधि' उपर्यर्थः। कृष्णाजिनस्योपर्यवहननं पेषणं च कर्तव्यम्। तथा सति तद्धविः 'अस्कन्नम्' स्कन्नरहितम् 'असद्' भवेदिति बुद्ध्या यदि भूम्यामेवावहननादिकं कुर्यात्, तदा तस्य हविषोऽवश्यं स्कन्नदोष इत्यभिप्रायः। एतदेव विवृणोति–**तद्यदेवेति।** अवहननसमये तण्डुलो वा पेषणसमये पिष्टं वात्र कृष्णाजिने 'यदि' नाम 'स्कन्दात्' स्कन्देत्। लेट्याडागमः। (पा.सू. 3।4।94) 'तत्' तदा यज्ञ एव यज्ञः प्रतितिष्ठेत्; न तु तस्य स्कन्नदोष इत्यर्थः॥3॥

अन्वयः–सा, एषा त्रयी विद्या यज्ञः यत् एतत् कृष्णाजिनं एष वर्णः तत् तस्याः (त्रयी विद्यायाः) शिल्पं भवति, तस्मात् यज्ञस्य सर्वत्वाय एव कृष्णाजिनम् अधिदीक्षन्ते, तस्मात् यज्ञस्य सर्वत्वाय एव (कृष्णाजिनम्) अधि अवहननम् अधिपेषणं भवति, तत् हविः अस्कन्नम् असत् इति, यत् एव अत्र तण्डुलो वा पिष्टं वा स्कन्दात् तत् यज्ञे यज्ञः प्रतितिष्ठात् इति, तस्मात् (कृष्णाजिनम्) अधि–अवहननम् अधिपेषणं भवति॥3॥

पदार्थः–**सा** = वह, **एषा** = यह, **त्रयी** = तीन अवयववाली, **विद्या** = वेदविद्या (ऋक् यजुः साम रूप वाली), **यज्ञः** = यज्ञ सम्बन्धी होने से यज्ञ रूप है, **यत्** = जो, वह, **तस्याः** = उन त्रयी विद्याओं का, **शिल्पं** = प्रतिरूप, **भवति** = होता है, **तस्मात्** = इसलिए, **यज्ञस्य** = यज्ञ की, **सर्वत्वाय** = समग्रता के लिए, **एव** = ही, **कृष्णाजिनम्** = कृष्णमृगचर्म, **अधि** = के ऊपर, **अवहननम्** = हवियों का, कुट्टन, **अधि** = उसी के ऊपर, **पेषणम्** = पीसने का कार्य, **भवति** = होता है, **तत्** = वह, **हविः** = हविर्द्रव्य, **अस्कन्नम्** = (कूटने पीसने के समय) उछलकर बाहर गिरी हुई नहीं, **असत्** = हो, **इति** = इस अभिप्राय से, **यत्** = जो, **एव** = ही, **अत्र** = यहाँ, **तण्डुलो** = चावल, **वा** = अथवा, **पिष्टं** = आटा, **वा** = अथवा, **स्कन्दात्** = उछले, **तत्** = वह, **यज्ञे** = यज्ञ में, **यज्ञः**

= यज्ञरूप, **प्रतितिष्ठात्** = प्रतिष्ठित रहे, **इति** = इस अभिप्राय से ऐसा किया जाता है, **तस्मात्** = इसलिए, **अधि** = कृष्णाजिन के ऊपर, **अवहननम्** = कूटने, **अधि** = उसी पर, **पेषणं** = पीसने का कार्य भी, **भवति** = होता है।।3।।

रेणु-व्याख्या–कृष्ण मृग चर्म की स्तुति करने के उपरान्त उसके उपयोग का हेतु बताते हुए शतपथकार कहते हैं कि यह जो उस काले मृग चर्म में तीन अवयवों वाले ऋग्-यजु-सामात्मक वेदविद्या की उपस्थिति के रूप में तीनों रंगों का वर्णन किया गया है, वह कृष्ण मृगचर्म का यज्ञ से सम्बन्ध स्थापित करने किंवा उसे यज्ञरूप बताने के लिए ही हुआ है। इसलिए मन्त्र में यह कहा गया है कि उसमें जो तीन रंग हैं वे वेदत्रयी अथवा त्रयीविद्या रूप वेदविद्या के प्रतिरूप हैं। उस काले मृगचर्म का प्रयोग यज्ञ में यजमान की दीक्षा के समय भी किया जाता है तथा यहाँ हवियों के कूटने एवं पीसने के समय भी उसका उपयोग विहित किया गया है। यह यज्ञ की समग्रता के लिए अनिवार्य है। क्योंकि हवियों के कूटने एवं पीसने के समय ऊखल से तथा शिला से चावल के दानों का उछलकर बाहर जाना भी एक स्वाभाविक क्रिया है, वह उछला हुआ दाना यदि भूमि पर गिरेगा तो उसका यज्ञत्व नष्ट हो जाएगा, इसलिए अवहनन पेषण के समय कृष्ण मृगचर्म पर ऊखल तथा दृषद् (शिला) को रखकर हवियों के कूटने एवं पीसने का कार्य किया जाता है ताकि जो भी हवि का अंश वहाँ से उछलकर बाहर निकले वह यज्ञ के प्रतिरूप मृगचर्म पर गिरे जिससे हवि की शुद्धता यथावत् बनी रहेगी। इसी अभिप्राय से अवहनन (कूटने) पेषण (पीसने) के समय कृष्ण मृगचर्म को उपयोग में लाया जाता है। इससे यज्ञ की समग्रता (सर्वांगपूर्णता) यथावत् बनी रहती है।।3।।

[अवधूननम्]

1.1.4.4. (त्य) अथ कृष्णाजिनमादत्ते। शर्मासीति चर्म वाऽ एतत्कृष्णस्य तदस्य तन्मानुष ॐ शर्म देवत्रा तस्मादाह शर्मासीति तदुवधूनोत्यवधूत ॐ रक्षोऽवधूताऽअरातयऽइति तन्नाष्ट्र एवैतद्रक्षाॐस्यतोऽपहन्त्यतिनत्येव पात्राण्यवधूनोति यद्ध्यस्यामेध्यमभूत्तद्ध्यस्यैतदवधूनोति।।4।।

ऋजुपाठः–अथ कृष्णाजिनमादत्ते–"शर्मासि"–(1 अ. 14 मं.) इति। चर्म्म वा एतत्कृष्णस्य, तदस्य तन्मानुषम्, शर्म्म देवत्रा। तस्मादाह–शर्म्मासीति। तदवधूनोति–"अवधूतँ रक्षोऽवधूता अरातयः"–(1 अ. 14 मं.) इति। तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्ति।

अतिनत्येव पात्राण्यवधूनोति। यद्ध्यस्यामेध्यमभूत्– तद्ध्यस्यैतदवधूनोति।।4।।

सा.भा.–उक्तमादानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते–अथेति। मन्त्रगत 'शर्म' शब्दस्य तात्पर्यमाह–**चर्म वा** इति। यत् 'एतत्' कृष्णस्य 'चर्म' अजिनम्, 'अस्य' यज्ञस्यैतदजिनं 'तत्' लोकप्रसिद्धचर्मशब्दाभिधेयं सत् 'मानुषम्' मनुष्यसम्बन्धि रूपं भवति। एतदेव 'देवत्रा' देवेषु, सुखकरत्वात् शर्मेत्युच्यते। अतो वैदिके कर्मणि 'शर्मासीति' तत्स्तुतिरुपपन्ना। देवत्रेति "देवमनुष्य" (पा.सू. 5.4.56) इत्यादिना वा–प्रत्ययः। उपात्तस्य कृष्णाजिनस्यावधूननं विधत्ते–**तदवधूनोतीति। तन्नाष्ट्र** इति। 'तत्' तेन समन्त्रकावधूननेन। गतमन्यत्। कृष्णाजिनवत् प्रसक्तमवधूननं पात्राणां निषेधति–**अतिनत्येवेति।** न केवलमवधूननस्य रक्षोपहननमेव प्रयोजनं तु अयज्ञियविक्षेपोऽपीत्याह–**यद्ध्यस्येति।** रक्षःप्रकृतिसंपर्कात् यत् खलु 'अस्य' कृष्णाजिनस्य 'अमेध्यम्' मेधानर्हमयज्ञियरूपमभूत्, तदेवास्यैतेन मन्त्रेण 'अवधूनोति' निरस्यति।।4।।

अन्वयः–अथ 'शर्मासीति' (अनेन मन्त्रेण) कृष्णाजिनमादत्ते, एतत् कृष्णस्य चर्म वा तत् मानुषम् अस्य (नाम) तत् (एव) देवत्रा (देवेषु) शर्म (नाम प्रसिद्धम्), तस्मात् शर्मासीति आह। तत् 'अवधूतं रक्षः अवधूता अरातय' इति (मन्त्रांशेन) अवधूनोति, तत् नाष्ट्रा एव अतो रक्षांसि अपहन्ति, एतत् पात्राणि अतिनत्य एव अवधूनोति, हि यत् अस्य अमेध्यम् अभूत्, तत् हि (एव) अस्य एतत् अवधूनोति।।4।।

पदार्थः–**अथ** = इसके बाद, **शर्मासि** = तुम शर्म हो, **इति** = इस मन्त्रांश से, **कृष्णाजिनम्** = काले मृग का चर्म, **आदत्ते** = (अध्वर्यु) लेता है, **एतत्** = यह, **कृष्णस्य** = काले मृग का, **चर्म** = चमड़ा (त्वचा), **वै** = निश्चित रूप से है, **तत्** = वह, **अस्य** = इसका, **मानुषं** = मानुषी (नाम) है। **तत्** = उसका (ही), **देवत्रा** = दैवी (नाम), **शर्म** = शर्म (यह प्रसिद्ध) है, **तस्मात्** = इसलिए, **शर्मासि** = तुम शर्म हो, **इति** = ऐसा (मन्त्र में), **आह** = कहता है। **तत्** = उस (कृष्णाजिन) को, **अवधूतं** = झाड़ दिया गया, **रक्षः** = राक्षस, **अवधूता** = झाड़ दिये गये (भगा दिये गये), **अरातयः** = शत्रुगण, **इति** = इस (मन्त्रांश) से, **अवधूनोति** = (कृष्णाजिन को) झाड़ता है, **तत्** = इसके द्वारा, **नाष्ट्रा** = नाशकारी, **एव** = ही, **अतो** = यहाँ से, **रक्षांसि** = राक्षसगण, **अपहन्ति** = दूर होते हैं, **एतत्** = इसे, **पात्राणि** = यज्ञ पात्रों से, **अतिनत्य** = दूर हटाकर झुककर, **एव** = ही, **अवधूनोति** = झाड़ता है, **हि** = क्योंकि, **यत्** = जो, **अस्य** = इसका, **अमेध्यं** = अयज्ञीय (अपवित्र), **अभूत्** = (अंश) था, **तत्** = वह, **हि** = ही, **अस्य** = इसका, **एतत्** = इस तरह, **अवधूनोति** = झाड़कर हटाता है (दूर करता है)।।4।।

रेणु-व्याख्या–काले मृग चर्म के उपयोग का हेतु कहने के बाद अध्वर्यु 'शर्मासि' इस (यजु. 1.14) मन्त्रांश को पढ़कर कृष्णाजिन लेता है और कहता है कि–हे कृष्णमृगचर्म! तुम शर्म हो अर्थात् सर्वविध कल्याणकारक हो। पुनः यह स्पष्ट करता है कि इसका मानुषी (लोकप्रसिद्ध) नाम तो चर्म है परन्तु दैवी (देवप्रसिद्ध) नाम शर्म है। चूँकि वेदमन्त्र ईश्वरीय सम्पदा है, इसलिए वेदमन्त्र में दैवी वाणी का ही प्रयोग प्राप्त होता है। इसलिए वैदिक भाषा में तू शर्म है यह कहा गया है। तत्पश्चात् उसी मन्त्र का अग्रिम अंश 'अवधूतं रक्षः अवधूता अरातयः' (यजु-1.14) यह जप कर दायें हाथ में लिए हुए मृगचर्म को झटककर झाड़ता है। उक्त मन्त्रांश का तात्पर्य है कि इस क्रिया द्वारा मृगचर्म में स्थित राक्षस झाड़ दिये गए तथा शत्रुगण भी भगा दिये गये। ऐसा करके राक्षस तथा शत्रुओं के प्रभाव को मृगचर्म से दूर करता है। यह अवधूनन क्रिया यज्ञीय पात्रों से हटकर किया जाता है, क्योंकि जो कुछ उसमें अपवित्रता है उसको दूर करने के लिए यह अवधूनन किया जाता है, यदि पात्रों के पास करेगा तो कृष्णमृगचर्म से निकलकर पात्रों में अपवित्रता प्रवेश कर जाएगा। इसी कारण से उसे यज्ञपात्रों से दूर हटाकर झाड़ता है, ताकि उसमें जो अमेध्यत्व है वह दूर हो जाए और अन्य पात्र भी सुरक्षित रहें। अतः लक्ष्य सिध्यर्थ मात्र ऐसा करता है।।4।।

[कृष्णाजिनास्तरणम्]

1.1.4.5. तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति। (त्य) अदित्यास्त्वगसि प्रतित्वादितिर्व्वेत्त्विती‌यं वै पृथिव्यदितिस्तस्याऽअस्यै त्वग्यदिदमस्यामधि किं च तस्मादाहादित्यास्त्वगसीति प्रतित्वादितिर्व्वेत्त्विति प्रति हि स्वः संजानीते तत्सञ्ज्ञामेवैतत्कृष्णाजिनाय च व्वदति नेदन्योन्य ꣳ हिनसात ऽइत्यभिनिहितम्मेव सव्व्येन पाणिना भवति।।5।।

ऋजुपाठः–तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति–"अदित्यास्त्वगसि प्रतित्वादितिर्वेत्तु"–(1 अ. 14 मं.) इति। इयं वै पृथिव्यदितिः। तस्या अस्यै त्वग्–यदिदमस्यामधि किञ्च। तस्मादाह–अदित्यास्त्वगसीति। प्रतित्वादितिर्वेत्त्विति। प्रति हि स्वः सञ्जानीते। तत्संज्ञामेवैतत्कृष्णाजिनाय च वदति। नेदन्योन्यं हिनसात इति। अभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति।।5।।

सा.भा.–तस्य समन्त्रकं प्रकारविशिष्टं स्तरणं विधत्ते–**तदिति।** 'प्रतीचीना' प्रत्यग्दिशि स्थिता ग्रीवा यथा भवति तथा। **इयं** वा इत्यादि। 'दितिः' खण्डनं न विद्यतेऽस्या इति व्युत्पत्त्या अत्र मन्त्रगतादितिशब्देनेयमेव पृथिवी विवक्षिता। कथमन्यदीया त्वगन्यस्य त्वग्भवतीत्याशंक्याह–**तस्या** इति। 'अस्याम्' भूम्यां 'अधि' उपरिभागे 'यदिदं किं च' किमपि वस्त्ववस्थितम् 'तस्यै-अस्यै' पृथिव्यै, सा 'त्वक्' कृष्णाजिनमप्युपर्यवस्थानात् तस्या एव त्वगिति स्तुतिः। मन्त्रस्य द्वितीयं भागमनूद्य व्याचष्टे–**प्रतीति**। 'स्वः' स्वकीयो जन आत्मीयं जनं प्रति 'संजानीते' परस्परानुकूल्यं प्रकटयितुं संज्ञां करोति। 'तत्' तथा कृष्णाजिनभूम्योः समानज्ञानतामेवायं मन्त्रभागो वदति। संज्ञानस्य प्रयोजनमाह–**नेदिति**। परस्परानुकूल्यज्ञानाभावे ह्यन्यमन्यो हिंस्यात्। नैव तादृश्यन्योऽन्यहिंसा भवत्वित्यनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः।। उलूखलनिधानपर्यन्तं कृष्णाजिनस्यानुत्सर्जनं विधत्ते–**अभिनिहितमिति**।।5।।

अन्वयः–अदित्याः त्वक् असि प्रति त्वा अदितिः वेत्तु इति (मन्त्रेण) प्रतीचीनग्रीवं तत् उपस्तृणाति, इयं पृथिवी वै अदितिः अस्यै इदं त्वक् यत् किंच अस्याम् अधि तस्या (एव), तस्मात् अदित्याः त्वक् असि इति आह। अदितिः त्वा प्रतिवेत्तु, हि स्वः प्रति संजानीते तत् एवं सञ्ज्ञाम् एतत् कृष्णाजिनाय च वदति। इत् अन्योन्यं न हिनसात इति सव्येन पाणिना अभिनिहितमेव भवति।।5।।

पदार्थः–**अदित्याः** = अदिति की, **त्वक्** = त्वचा (चर्म), **असि** = हो, **प्रति** = अच्छी तरह, **त्वा** = तुम्हें, **अदितिः** = अदिति देवमाता, **वेत्तु** = जाने, **इति** = इस मन्त्र से, **प्रतीचीनग्रीवं** = मृगचर्म का ग्रीवावाला भाग पश्चिम की ओर करके, **तत्** = उसे, **उपस्तृणाति** = बिछाता है। **इयं** = यह, **पृथिवी** = पृथिवी, **वै** = ही, **अदितिः** = अदिति है, **अस्यै** = इस (पृथिवी) के लिए, **इयं** = यह, **त्वक्** = त्वचा है, **यत्** = जो, **किञ्च** = कुछ भी (वस्तु), **अस्याम्** = इसके, **अधि** = ऊपर (अवस्थित है वह सब), **अस्या** = उस पृथिवी का ही है, **तस्मात्** = इसलिए, **अदित्याः** = अदिति की, **त्वक्** = त्वचा, **असि** = हो, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है। **अदितिः** = अदिति नाम से प्रसिद्ध पृथिवी, **त्वा** = तुझे, **प्रति** = अच्छी तरह, **वेत्तु** = जाने, **हि** = क्योंकि, **स्वः** = अपना, **प्रति** = अपने को भली भाँति, **संजानीते** = सम्यक्तया जानता है (स्वीकार करता है), **तत्** = वह, **एव** = ही, **सञ्ज्ञाम्** = पहचान, **एतत्** = इस, **कृष्णाजिनाय** = कृष्ण मृगचर्म के लिए, **वदति** = स्पष्ट करता हुआ कहता है। **इत्** = इस सम्बन्ध स्थापन द्वारा, **अन्योन्यं** = एक दूसरे को, **न** = नहीं, **हिनसात** = क्षतिग्रस्त करें (हिंसित करें), **इति** = इस विचार से, **सव्येन** = वायें, **पाणिना** = हाथ से, **अभिनिहितम्** =

मृगचर्म को स्पर्श किया हुआ (वायाँ हाथ चर्म पर टिका कर), **एव** = ही, **भवति** = रहता है।।5।।

रेणु-व्याख्या–कृष्णाजिन लेने के बाद हवियों के कुट्टनार्थ अध्वर्यु उसे पृथिवी पर बिछाता है। इस समय हे कृष्णमृगचर्म! तुम अदिति (पृथिवी) की त्वचा हो, अदिति तुम्हें अच्छी तरह जाने यह (यजु. 1.14) बोलकर पश्चिम की ओर उसका ग्रीवा (गर्दन) वाला भाग करके बिछाता है। यह जो पृथिवी है वही देवमाता अदिति है, पृथिवी के साथ कृष्णमृगचर्म का सम्बन्ध स्थापित करते हुए अध्वर्यु कहता है कि इस पृथिवी पर जो कुछ भी वस्तु है वह सब इस अदिति के ऊपर ही है इसलिए तुम अदिति की त्वचा हो, यह कहता है। अदिति नाम से प्रसिद्ध पृथिवी तुझे स्वीकार करे क्योंकि अपना अपने को भलीभाँति जानता है, इस प्रकार अदिति एवं कृष्णाजिन के मध्य वह सम्बन्ध स्थापित करते हुए दोनों की परस्पर पहचान कराता है। इस पहचान के द्वारा दोनों एक दूसरे की हिंसा नहीं करेंगे इस विचार से अध्वर्यु कृष्णमृगचर्म पृथिवी पर बिछाकर बायें हाथ से पकड़ा रहता है और अग्रिम मन्त्र वाक्य द्वारा दायें हाथ से उस चर्म पर उलूखल रखेगा इसका हेतु यह है कि जब तक उलूखल न रख दिया जाए तब तक रिक्त चर्म पर असुर राक्षसादि आकर बैठ सकते हैं, इस कारण वायें हाथ से पकड़ा रहता ही है।

वस्तुतः जब हवियों को ऊखल में डालकर मुसल के प्रहार से उसका कुट्टन किया जाएगा तो स्वाभाविक रूप से पृथिवी के ऊपरी भाग (चर्म) को चोट पहुँचेगी। उससे पृथिवी क्षतिग्रस्त न हो इसलिए पृथिवी के चर्मरूप कृष्णमृगचर्म को बिछाता है यह क्रम पार्थिव शिवलिंग पूजन में भी देखा जाता है कि प्राण-प्रतिष्ठा होने के बाद अक्षतपुष्पादि से पूजन करने तक वायें हाथ से, शिवलिङ्ग को ढँककर रखते हैं। लोक में ऐसी मान्यता है कि यदि ढँककर पूजा नहीं करेंगे तो असुर उनका पूजन कर लेगा। ऐसा भाव यहीं से लोक में प्रचलित (प्रसृत) हुआ है, जो अध्वर्यु वायें हाथ से काले मृगचर्म को पकड़े रहता है।।5।।

[उलूखलनिधानम्]

1.1.4.6. (त्य) अथ दक्षिणेनोलूखलमाहरति। नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्याविशानिति ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति।।6।।

ऋजुपाठः—अथ दक्षिणेनोलूखलमाहरति। नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षांस्याविशानिति। ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता, तस्मादभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति॥6॥

सा.भा.—सव्येन स्पृशतोऽभिप्रायमाह—**नेदिति**। यदि ह्युलूखलनिधानात् प्रागेव कृष्णाजिनस्पर्शमुत्सृजेत् 'तत्' तदा 'इह' अस्मिन् कृष्णाजिने राक्षसादिकं प्रविशेत्, तन्नैव भवत्विति। 'विशान्'—इति विशतेर्लेटि बहुवचने आडागमः (पा.सू. 3।4।94) झेरन्तादेशे (पा.सू. 7।1।3) "इतश्च लोपः" (पा.सू. 3.4.97)—इतीकारलोपः। ननु स्पर्शेऽपि उलूखलनिधानात् पुरा कुतो रक्षांसि न प्रविशन्ति तत्राह-**ब्राह्मण** इति। 'हि' यस्माद् ब्राह्मणो रक्षसामपहन्ता मन्त्रप्रभावेण, तस्मात् तेन स्पृश्यमानं राक्षसादिर्न प्रवेष्टुं शक्नोतीति भावः॥6॥

अन्वयः—अथ दक्षिणेन (पाणिना) उलूखलम् आहरति। इह पुरा नाष्ट्रा रक्षांसि नेत् आविशानि इति, हि ब्राह्मणो रक्षसाम् अपहन्ता तस्मात् सव्येन पाणिना अभिनिहितमेव भवति॥6॥

पदार्थः—**अथ** = इसके बाद, **दक्षिणेन** = दायें हाथ से, **उलूखलं** = ऊखल को, **आहरति** = लाता है, **इह** = यहाँ, **पुरा** = पहले, **नाष्ट्रा** = नाशकारी, **रक्षांसि** = राक्षसगण, **नेत्** = कहीं न, **आविशानि** = घुसें, **इति** = ऐसा विचार कर, **हि** = क्योंकि, **ब्राह्मणः** = ब्राह्मण ही, **रक्षसां** = राक्षसों का (दुष्टस्वभावों का), **अपहन्ता** = घातक होता है, **तस्मात्** = इसलिए, **सव्येन** = वायें, **पाणिना** = हाथ से, **अभिनिहितमेव** = कृष्णमृग चर्म को पकड़े ही, **भवति** = रहता है॥6॥

रेणु-व्याख्या—कृष्ण मृगचर्म को बिछाकर उसपर वायां हाथ रखा हुआ ही अध्वर्यु दाहिने हाथ से ऊखल रखता है। यह इसलिए ऐसा करता है कि कहीं ऐसा न हो कि मृगचर्म बिछाकर जब तक मैं ऊखल लाने जाऊँ तब तक कोई नाशकारी राक्षस इस पर आकर बैठ जाये। अतः स्थान को रिक्त नहीं रहने देने के कारण वायें हाथ से कृष्णमृगचर्म को पकड़ा हुआ ही दाहिने हाथ से ऊखल लाता है। क्योंकि ब्राह्मण ही राक्षसों का घातक कहा गया है। इसलिए ब्राह्मण रूप अध्वर्यु उस मृगचर्म को अपने वायें हाथ से पकड़ा रहता है॥6॥

1.1.4.7. (त्यु) अथोलूखलं निदधाति। (त्यु) अद्रिरसि व्वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नऽइति वा तद्ध्यैवादः सोम ँ राजानं ग्रावभिरभिषुण्वन्त्येवमेवैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्या ँ हविर्यज्ञमभिषुणोत्यद्रयऽ इति

वै तेषामेकं नाम तस्मादाहाद्रिरसीति व्वानस्पत्यऽ इति व्वानस्पत्योह्येष ग्रावासि पृथुबुध्नऽ इति ग्रावा ह्येष पृथुबुध्नो ह्येष प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति तत्संज्ञामेवैतत्कृष्णाजिनाय च व्वदति नेदन्योन्य ꣳ हिनसातऽ इति॥7॥

ऋजुपाठः–अथोलूखलं निदधाति–"अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः" (यजु- 1 अ. 14 मं.) इति वा। तद्यथैवादः सोमं राजानं ग्रावभिरभिषुण्वन्ति,–एवमेवैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञमभिषुणोति। अद्रय इति वै तेषामेकं नाम तस्मादाह–अद्रिरसीति। वानस्पत्य इति। वानस्पत्यो ह्येषः। ग्रावासि पृथुबुध्न इति। ग्रावा ह्येषः, पृथुबुध्नो ह्येषः। "प्रति त्वादित्यास्त्वग् वेत्तु" (1 अ. 14 मं.) इति। तत्संज्ञामेवैतत्कृष्णाजिनाय च वदति–नेदन्योन्यं हिनसात इति॥7॥

सा.भा.–अथ समन्त्रकमुलूखलस्य निधानं विधत्ते–**अथेति**। ग्रावासीति वैकल्पिको मन्त्रः। अत एव सूत्रकृतोक्तम्–"सव्याशून्ये निदधात्युलूखलमद्रिरसि ग्रावासीति वा" (श्रौ.सू. 2.88) इति। तत्राद्यमन्त्रस्याभिप्रायमाह–**तद्यथेति**। 'अदः'–शब्दो लुप्तविभक्तिकः, अमुत्र सोमयागे यथा यागसाधनस्य सोमस्य ग्रावभिरभिषवः, एवमेवोलूखलादिभिर्हविर्यज्ञसाधनं व्रीह्यादिकम् 'अभिषुणोति' वितुषीकरणादिभिः संस्करोति। कुत एतदित्याह–**अद्रय इतीति**। 'तेषां' सोमाभिषवहेतूनां ग्राव्णाम्, पुरोडाशनिष्पत्तिहेतूनामुलूखलादीनां च अद्रय इत्येतत् साधारणं नाम; अतो नामसाम्यात् उलूखलादिसाध्यमवहननादिकं ग्रावसाध्येन सोमाभिषवेण तुल्यमित्यर्थः। एवं च हे उलूखल! त्वम् 'अद्रिरसि' सोमाभिषवहेतुः। ग्रावासीति ग्रावत्वारोपणं मन्त्रेण विवक्षितमिति व्याख्यातं भवति। वनस्पतिविकारत्वं प्रसिद्धमिति वानस्पत्यपदतात्पर्यमाह–**वानस्पत्यो हीति**। वैकल्पिकं मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे–**ग्रावासीति। पृथुबुध्नो** हीति। उलूखलस्य विस्तीर्णमूलत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः। प्रतित्वेत्यादिकं मन्त्रद्वयपक्षमनूद्य व्याचष्टे–**तदिति**। कृष्णाजिनोलूखलयोरन्योऽन्यं हिंसा मा भूदिति पृथिवीकृष्णाजिनयोरैकमत्यप्रार्थनं वदतीत्यर्थः॥7॥

अन्वयः–अथ "अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्न" इति (मन्त्रेण) उलूखलं निदधाति। तत् यथा एव अदः ग्रावभिः सोमं राजानम् अभिषुण्वन्ति एवम् एव उलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यां वा हविर्यज्ञम् अभिषुणोति, तेषां वै एकं नाम 'अद्रय' इति, तस्मात् 'अद्रिरसि वानस्पत्यः' इति आह। हि एष वानस्पत्यः पृथुबुध्नः ग्रावा असि, हि एष ग्रावा हि एष पृथुबुध्नः त्वा अदित्याः त्वक् प्रति वेत्तु इति तत् एतत् कृष्णाजिनाय संज्ञाम् एव च वदति इत् न अन्योऽन्यं हिनसात इति॥7॥

पदार्थः–**अथ** = कृष्णाजिन को झाड़कर बिछाने के बाद, **अद्रिरसि** = तुम अद्रि हो, **वानस्पत्यः** = वनस्पति से सम्बन्धित, **ग्रावा** = पत्थर, **असि** = हो, **पृथुबुध्नः** = विस्तृत मूलवाले हो, **इति** = इस (यजु-1.14) मन्त्रांश से, **उलूखलं** = मृगचर्म पर ऊखल को, **निदधाति** = रखता है। **तत्** = वह स्थापन, **यथा** = जिस प्रकार, **एव** = ही, **अदः** = वहाँ सोमयाग में, **ग्रावभिः** = पत्थरों से, **सोमं** = सोम, **राजानं** = राजा को, **अभिषुण्वन्ति** = कूटकर उसका रस निकालते हैं, **एवमेव** = उसी प्रकार, **उलूखलमुसलाभ्यां** = ऊखल एवं मुसल दोनों से, **दृषदुपलाभ्यां** = सिल एवं बट्टे से, **वा** = अथवा, **हविर्यज्ञम्** = हवि निर्माण रूप यज्ञ में, **अभिषुणोति** = (हवियों का) निष्पादन करता है, **तेषां** = उनका, **वै** = निश्चितरूप से, **एकं** = एक ही, **नाम** = नाम है, **अद्रय** = अद्रि (पत्थर), **इति** = यह, **तस्मात्** = इसलिए, **अद्रिरसि** = तुम पत्थर हो, **वानस्पत्यः** = वनस्पति सम्बन्धित हो, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है। **हि** = क्योंकि, **एष** = यह, **वानस्पत्यः** = वनस्पति से सम्बन्धित, **पृथुबुध्नः** = विस्तृत मूल, **ग्रावा** = पत्थर, **असि** = तुम हो, **हि** = क्योंकि, **एष** = यह, **ग्रावा** = पत्थर, **हि** = क्योंकि, **एष** = यह, **पृथुबुध्नः** = विस्तृत मूल है (इसलिए), **त्वा** = तुझे, **अदित्याः** = अदिति के त्वचा रूप कृष्णाजिन, **प्रति** = अच्छी प्रकार से, **वेत्तु** = जाने, **इति** = ऐसा (कहता है), **तत्** = वह, **एतत्** = यह, **कृष्णाजिनाय** = कृष्णमृगचर्म के लिए, **संज्ञाम्** = पहचान, **एव** = ही, **च** = पुनः, **वदति** = कहता है, **इत** = इसके बाद से, **न** = नहीं, **अन्योऽन्यं** = एक दूसरे की, **हिनसात** = हिंसा करे, **इति** = इसी कारण से कहता है॥7॥

रेणु-व्याख्या–अध्वर्यु हविकुट्टनार्थ कृष्णमृगचर्म बिछाने के बाद उस पर ऊखल रखता हुआ ऊखल से कहता है–"हे ऊखल! तुम विस्तृत मूल वाले वनस्पति से सम्बन्धित पत्थर सदृश ठोस शरीरवाले हो। जिस प्रकार अग्निष्टोमादि सोमयागों में सोम राजा को पत्थर से कूटकर उसका रस निकाला जाता है, उसी प्रकार यहाँ हविर्यागों की प्रकृति दर्शपूर्णमास याग में सोम रूप हवियों का कुट्टन उलूखल मुसल एवं दृषद् (सिला) तथा उपल (बट्टा) से किया जाता है। अतः पत्थर एवं इन ऊखल मुसल तथा सिलबट्टे का एक नाम अद्रि यह प्रसिद्ध है, क्योंकि इन्हीं यज्ञायुधों की सहायता से हवि निर्माण कार्य सम्पन्न होता है। इसलिए तुम पत्थर हो, वनस्पति से सम्बन्धित हो। ऐसा कहता है। चूँकि पत्थर विस्तृत मूल होता है उदाहरणार्थ पर्वत का मूलभाग विस्तृत एवं चोटी (शिखर) संकुचित होता है, वही आकृति इस ऊखल की भी है, अतः इसे भी पत्थर,

पृथुमूल एवं वनस्पति सम्बन्धित इत्यादि विशेषणों से विभूषित कर पुनः यह कहता है कि हे ऊखल! तुम्हें पृथिवी की त्वचा रूप मृगचर्म पर रखता हूँ, तुम इसे अच्छी प्रकार से जानो। तुम एक दूसरे की हिंसा न करो इसलिए यह परिचय कराता हूँ। अपरिचितों का आपस में वैमनस्य होना एक स्वाभाविक क्रिया है, उससे बचने तथा बचाने के लिए ही ऐसा कहता है। यज्ञ अहिंसा का स्थल तथा अहिंसित कार्य का द्योतक है, यहाँ कोई किसी की हिंसा न करे अत एव ऐसा कहना उचित है।।7।।

[उलूखले हविरावपनम्]

1.1.4.8. (त्य) अथ हविरावपति। (त्य) अग्नेस्तनूरसि व्वाचो व्विसर्जनमिति यज्ञो हि तेनाग्नेस्तनूर्व्वाचो व्विसर्जनमिति यां वा ऽअमूᳬं हविर्ग्रहीष्यन्वाचं यच्छत्यत्र वै तां व्विसृजते तद्यदेतामत्र व्वाचं व्विसृजतऽ एष हि यज्ञऽ उलूखले प्रत्यष्ठादेष हि प्रासारि तस्मादाह व्वाचो व्विसर्जनमिति।।8।।

ऋजुपाठः–अथ हविरावपति–"अग्नेस्तनूरसि व्वाचो विसर्जनम्" (1 अ. 15 मं.) इति। यज्ञो हि। तेनाग्नेस्तनूः। वाचो विसर्जनमिति। यां वा अमूं हविर्ग्रहीष्यन् वाचं विसृजते–एष हि यज्ञ उलूखले प्रत्यष्ठात्। एष हि प्रासारि। तस्मादाह वाचो विसर्जनमिति।।8।।

सा.भा.–उलूखले हविषः प्रक्षेपणं समन्त्रकं विधत्ते–**अथेति**। **यज्ञो हीति**। यस्माद् 'यज्ञः' यज्ञसाधनं हविः, अतोऽग्नेः शरीरमेव तदित्यर्थः। **यां वा** इत्यादि। हविर्ग्रहणार्थम्, "अथ वाचं यच्छति" इति 'या वाग् नियमिता' 'अत्र' अस्मिन्समये तामेवानेन मन्त्रभागेन 'विसृजते'। अतो विसृज्यते अनेनेति 'विसर्जनम्' हविरिति मन्त्रपाठस्यार्थः। एतद्वाग्विसर्जनमुपपादयति–**तद्यदिति**। 'एतां वाचमत्र विसृजते' इति यत्, तद्युक्तम्; 'हि' यस्मादेषः 'यज्ञः' यज्ञसाधनं हविः, उलूखले 'प्रत्यष्ठात्' प्रतिष्ठितमभूत्, यस्माच्च 'एषः' यज्ञः 'प्रासारि' प्रसारितो विस्तारितोऽभूत्; अतो हेतोर्वाग्यमनस्य प्रयोजनं नास्तीति तद्विसर्जनमेव युक्तमित्यभिप्रायः।।8।।

अन्वयः–अथ अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनमिति (मन्त्रेण) हविः आवपति। हि यज्ञः अग्नेः तनूः तेन वाचो विसर्जनमिति (यद्वदति तत्) याम् अमूं हविः वै ग्रहीष्यन् वाचं यच्छति, तां वै (वाचम्) अत्र विसृजते हि यत् एतां वाचं विसृजते तत् यज्ञः उलूखले प्रत्यष्ठात्, एष हि प्रासारि तस्मा वाचो विसर्जनम् इत्याह।।8।।

पदार्थः—**अथ** = इसके बाद, **अग्नेः** = अग्नि का, **तनूः** = शरीर, **असि** = हो, **वाचो** = वाणी को, **विसर्जनम्** = मुक्त करने वाले (हो), **इति** = ऐसा (यजु. 1.15) मन्त्र बोलकर, **हविः** = हविष्यान्न को, **आवपति** = ऊखल में डालता है, **हि** = क्योंकि, **यज्ञः** = यज्ञरूप हविष्यान्न, **अग्नेः** = अग्नि का, **तनूः** = शरीर है, **तेन** = इस कारण से (ऐसा कहता है), **वाचो** = वाणी को, **विसर्जनम्** = मुक्त करने वाले हो, **इति** = ऐसा (जो बोलता है, वह), **यां** = जिस, **अमूं** = उस, **हविः** = हविष्यान्न को, **ग्रहीष्यन्** = ग्रहण करते हुए, **वाचं** = वाणी को, **यच्छति** = नियन्त्रित करता है (मौन धारण करता है), **तां** = उसे, **वै** = ही, **अत्र** = यहाँ, **विसृजते** = मुक्त करता है, **हि** = क्योंकि, **यत्** = जो, **एतां** = इस, **वाचं** = वाणी को, **विसृजते** = बोलने के लिए मुक्त करता है, **तत्** = उससे, **यज्ञः** = यज्ञ रूप हविष्यान्न, **उलूखले** = ऊखल में, **प्रत्यष्ठात्** = प्रतिष्ठित हो गया। **एष** = उसका, **हि** = ही, **प्रासारि** = प्रसार (विस्तार) हो गया, **तस्मात्** = इसलिए, **वाचो** = वाणी का, **विसर्जनम्** = उद्घाटन (मोचन) हो गया, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है।।8।।

रेणु-व्याख्या—इस प्रकार उलूखल की प्रशंसात्मक स्तुति करता हुआ अध्वर्यु उलूखल निधान के बाद ऊखल में हविष्यान्न को कूटने के लिए डालता हुआ कहता है—हे हवि! तुम अग्नि का शरीर हो तथा वाणी को मुक्त करने वाले हो। क्योंकि यज्ञरूप हवि ही अग्नि का शरीर है, शरीर की रक्षा के लिए भक्षण आवश्यक है, भक्षण के योग्य पदार्थ अन्न कहलाता है। अतएव हवि रूप अन्न अग्नि का शरीर है ऐसा इसी कारण से अध्वर्यु कहता है। यह हवि वाणी को मुक्त करनेवाला है। वस्तुतः अध्वर्यु जब हविग्रहण करने के लिए गया था तब वाणी को संयमित (वाग्यमन) किया था, अब इस (हविरावपन के) समय वाणी को मुक्त करता है, मौन का त्याग करता है। इस प्रकार संयमित वाणी को ही यहाँ मुक्त करता है यह स्पष्ट होता है। वाणी विसर्जन रूप इस क्रिया से यज्ञ रूप हवि उलूखल में प्रतिष्ठित हो गया उसका विस्तार हो गया, इस प्रकार वाणी का भी विस्तार हो गया ऐसा कहता है।।8।।

[हविरावपनात्पूर्वं लौकिकवाग्व्यवहारे प्रायश्चित्तम्]

1.1.4.9. स यदि पुरा मानुषीं व्वाचं व्याहरेत्। (त्त) तत्रो व्वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेद्यज्ञो वै व्विष्णुस्तद्यज्ञं पुनरारभते तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिर्द्देववीतये त्वा गृह्णामीति देवानवदित्यु हि हविर्गृह्यते।।9।।

ऋजुपाठः—स यदि पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत्—तत्रो व्वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेत्। यज्ञो वै विष्णुः। तद्यज्ञं पुनरारभते। तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः—"देववीतये त्वा गृह्णामि"—(1 अ. 15 मं.) इति। देवानवदित्यु हि हविर्गृह्यते।।9।।

सा.भा.—हविरावपनात् पूर्वं लौकिकवाग्व्यवहारे प्रायश्चित्तमाह—**स यदीति**। 'वैष्णवीमृचम्' इति, "इदं विष्णुर्विचक्रमे" (वा. सं. 5 अ. 15 मं.) इत्यादिकाम्। यजुरपि वैष्णवमेव जप्यम्। 'देववीतये' इति मन्त्रशेषस्याभिप्रायमाह—देवानवदितीति। यष्टव्यान् देवान् 'अवत्' अवतु तर्पयत्विति। अनेनैवाभिप्रायेण हि हविर्गृह्यते, अतः 'देववीतये' देवानां तृप्तये इति मन्त्रपदाभिप्रायः।।9।।

अन्वयः—स यदि पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत् तत्र इदं वैष्णवीम् ऋचं वा यजुर्वा उ जपेत्। यज्ञो वै विष्णुः तत् यज्ञं पुनः आरभते तस्य ह एषा प्रायश्चित्तिः उ, हे देववीतये त्वां गृह्णामि इति उ देवान् अवत् इति हविः गृह्यते।।9।।

पदार्थः—**स** = वह (अध्वर्यु), **यदि** = यदि, **पुरा** = पहले (मौन के समय), **मानुषीं** = लौकिक, **वाचं** = वाणी को, **व्याहरेत्** = बोले तो, **तत्र** = वहाँ (वाग्विसर्जन के समय), **इदं** = यह, **वैष्णवीं** = विष्णु देवता सम्बन्धी, **ऋचं** = ऋचा को, **वा** = अथवा, **यजुर्वा** = यजुर्वेदीय मन्त्र को ही, **उ** = निश्चितरूप से, **जपेत्** = जपे (पढ़े), क्योंकि, **यज्ञो** = यज्ञ, **वै** = ही निश्चितरूप से, **विष्णुः** = विष्णु है, **तत्** = इस प्रकार, **यज्ञं** = यज्ञ को, **पुनः** = फिर से, **आरभते** = आरम्भ करता है, **तस्य** = उसका, **ह** = निश्चय, **एषा** = यह, **प्रायश्चित्तिः** = प्रायश्चित्त है, **उ** = ही है, **हि** = क्योंकि, **देववीतये** = देवों की तृप्ति के लिए, **त्वा** = तुझे, **गृह्णामि** = ग्रहण करता हूँ, **इति** = ऐसा यजु बोलकर वह, **उ** = निश्चय, **देवान्** = देवताओं को, **अवत्** = प्रसन्न करता है, **इति** = इसी भाव से, **हविः** = हवि का, **गृह्यते** = ग्रहण किया जाता है।।9।।

रेणु-व्याख्या—अध्वर्यु मौन धारण के समय यदि मुख से किसी लौकिक शब्द का उच्चारण किया हो तो वहाँ मौन त्याग रूप वाग्विसर्जन के समय इस विष्णुदेवता सम्बन्धी ऋचा या यजुर्वेद के मन्त्र का जप कर ले, ऐसा करने से मौनभङ्ग रूप यज्ञविच्छित्ति का प्रायश्चित्त भी हो जाएगा, और यज्ञ भी अविच्छिन्न रहेगा। वस्तुतः यज्ञ ही विष्णु है, इस प्रकार वैष्णवी ऋचा के पाठ द्वारा अध्वर्यु मौनभङ्ग के कारण टूटे हुए यज्ञ की धारा को पुनः आरम्भ करता है, इसलिए निश्चय ही यह मन्त्र जप उसका प्रायश्चित्त है। क्योंकि हविग्रहण के समय 'देववीतये त्वा गृह्णामि (यजु-1.15)अर्थात् 'देवताओं की तृप्ति के लिए तुझे

ग्रहण करता हूँ' ऐसा यजु बोलकर अवश्य वह देवताओं को प्रसन्न करता है, इसी भाव से हविग्रहण कर्म किया जाता है।।9।।

[समन्त्रकं मुसलादानम्]

1.1.4.10. (तेऽथ) अथ मुसलमादत्ते। बृहद्ग्रावासि व्वानस्पत्यऽ इति बृहद्ग्रावाह्येष व्वानस्पत्यो ह्येष तदवदधाति सऽ इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्वेति सऽ इदं देवेभ्यो हविः सꣳस्कुरु साधु सꣳस्कृत ꣳ सꣳस्कुर्विवत्येवैतदाह।।10।।

ऋजुपाठः—अथ मुसलमादत्ते—"बृहद्ग्रावासि वानस्पत्यः"—(1 अ. 15 मं) इति। बृहद्ग्रावा ह्येषः। वानस्पत्यो ह्येषः। तदवदधाति—"स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व"—(1 अ. 15 मं) इति। स इदं देवेभ्यो हविः संस्कुरु, साधु संस्कृतं संस्कुरु—इत्येवैतदाह।।10।।

सा.भा.—समन्त्रकं मुसलादानं विधत्ते—**अथ मुसलमादत्त** इति। **बृहद्ग्रावासीति**। सोमसंस्कारकग्राववत् मुसलस्यापि हविस्संकारकत्वसाम्याद्ग्रावत्वम्, दीर्घत्वाच्च बृहत्त्वमिति 'बृहद्ग्राव'—शब्दाभिधेयता मुसलस्य प्रसिद्धेत्यर्थः। तस्य मुसलस्योलूखले प्रक्षेपणं समन्त्रकं विधत्ते—**तदवदधातीति**। 'शमीष्व'—इति पदस्यार्थमाह—**हविः संस्कुरु**—इति। 'शमीष्व' शमय; दोषोपशमनेन हविः संस्कुर्वित्यभिप्रायः। सुशमि शमीष्वेति मन्त्रस्याभिप्रायमाह—**साधु संस्कृतमिति**।।10।।

अन्वयः—अथ बृहद्ग्रावासि वानस्पत्यः इति (मन्त्रेण) मुसलम् आदत्ते। हि एष बृहद्ग्रावा, हि एष वानस्पत्यः, तत् अवदधाति। सः (वदति) इदं हविः देवेभ्यः शमीष्व, सुशमि शमीष्व, सः (अध्वर्युः) देवेभ्यः इदं हविः संस्कुरु साधु संस्कृतं संस्कुरु इति एतत् एव आह।।10।।

पदार्थः—**अथ** = इसके बाद, **बृहद्ग्रावासि** = तुम दीर्घ एवं पत्थर के समान दृढ़ हो, **वानस्पत्यः** = वनस्पति से सम्बन्धित हो, **इति** = इस (यजु= 1.15) मन्त्र से, **मुसलम्** = मुसल को, **आदत्ते** = लेता है। **हि** = क्योंकि, **एष** = यह (मुसल), **बृहद्ग्रावा** = बड़ा तथा पत्थर के समान दृढ़ है, **हि** = क्योंकि, **एष** = यह, **वानस्पत्यः** = वनस्पति से निर्मित है, **तत्** = इसलिए, **अवदधाति** = (ऊखल में) रखता है, **सः** = वह (अध्वर्यु कहता है कि), **इदं** = इस, **हविः** = हवि को, **देवेभ्यः** = देवताओं के लिए, **शमीष्व** = दोषों से मुक्त कर, **सुशमि** = हे दोषापहा (मुसल), **शमीष्व** = हवि के दोषों को शान्त कर, **सः** = वह (अध्वर्यु), **देवेभ्यः** = देवों के

लिए, **इदं** = इस, **हविः** = हवि को, **संस्कुरु** = संस्कृत कर, **साधु** = अच्छी तरह, **संस्कृतम्** = संस्कार (तुष निरसनादि द्वारा) से युक्त करने द्वारा, **संस्कुरु** = शुद्ध कर, **इति** = ऐसा, **एतत्** = यह वाक्य, **आह** = कहता है।।10।।

रेणु-व्याख्या–उलूखल निधान के बाद अध्वर्यु यजुर्वेदीय मन्त्र (1.15) के मन्त्रांश द्वारा हे मुसल! तुम दीर्घ हो पत्थर के समान मजबूत (दृढ़) हो, वनस्पति से निर्मित हो, यह कहकर हाथ में मुसल लेता है। इस प्रकार के मन्त्रांश को इसलिए पढ़ता है क्योंकि मुसल लम्बा, दृढ़ एवं वनस्पति से सम्बन्धित है। उस मुसल को उलूखल में रखता हुआ कहता है कि हे मुसल! इस हवि को देवताओं के लिए निर्दुष्ट (दोष रहित) करो। मुसल दोषापहारक है, हवियों के संस्कार में इसकी मुख्य भूमिका होती है इसलिए कहता है कि हे मुसल! हवियों के छिलके निकाल कर उसका संस्कार करो ताकि संस्कृत (शुद्ध) हवि से हम याग कर सकें। इस प्रकार देवताओं के लिए हवि को संस्कृत कर यज्ञ योग्य बनाने के लिए ही ऐसा कहता है।।10।।

[हविष्कृदाह्वानम्]

1.1.4.11. (हा) अथ हविष्कृतमुद्वादयति। हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीति व्वाग्वै हविष्कृद्वाचमेवैतद्विसृजते व्वागु वै यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतत्पुनरुपह्वयते।।11।।

ऋजुपाठः–अथ हविष्कृतमुद्वादयति–"**हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि**"–(1. अ. 15 मं.) इति। वाग् वै हविष्कृत्। वाचमेवैतद् विसृजते। वागु वै यज्ञः–तद्यज्ञमेवैतत्पुनरुपह्वयते।।11।।

सा.भा.–हविष्कृत आह्वानं विधत्ते–**अथ हविष्कृतमिति**। 'उद्वादयति' उच्चैराह्वयतीत्यर्थः। हविष्कृदेहीति मन्त्रस्य द्विः पाठो मन्त्रकाण्डे द्विराम्नानात्। हविष्कृच्छब्दार्थमाह–**वाग्वै हविष्कृदिति**। निर्वापादौ मन्त्ररूपाया वाचो हविष्करणसाधनत्वाद् वागेव हविष्कृत्; अतस्तामनेनैव मन्त्रेणाह्वयन् हविर्ग्रहणकाले नियमितां वाचं विसृजेत्। अत एव कात्यायनेन "अग्नेस्तनूरसि" इति मन्त्रेण, "हविष्कृदेहि" इति मन्त्रेण वा वाग्विसर्जनं कर्तव्यमिति विकल्पेन सूत्रितम्।–"अग्नेस्तनूरिति–वाचं विसृजते" (श्रौ.सू. 2.91) "यजमानश्च" (श्रौ.सू. 2.92) "हविष्कृता वा–" (श्रौ.सू. 2.93) इति। **वागु वा** इति। या वाग् हविष्कृत् सैव खलु यज्ञः, तस्य तन्निर्वर्त्यत्वात्। 'तत्' तथा सति 'एतत्' एतेन वागात्मिकाया हविष्कृत आह्वानेन यज्ञमेव पुनराह्वयते।।11।।

अन्वयः–अथ हविष्कृत् एहि हविष्कृत् एहि इति (मन्त्रेण) हविष्कृतम् उद्वादयति। वाग्वै हविष्कृत् एतत् वाचम् एव विसृजते वाक् उ वै यज्ञः तत् एतत् यज्ञम् एव पुनः उपह्वयते॥11॥

पदार्थः–**अथ** = उसके बाद, **हविष्कृत्** = हे हवि तैयार करने वाले! **एहि** = आओ, **हविष्कृत्** = हे हवि तैयार करने वाले! **एहि** = आओ, **इति** = इस मन्त्रांश द्वारा, **हविष्कृतम्** = हवि तैयार करने वाले को, **उद्वादयति** = बुलाता है, **वाक्** = वाणी, **वै** = ही, **हविष्कृत्** = हवि तैयार करने वाली है, **एतत्** = इस प्रकार से, **वाचम्** = वाणी, **एव** = ही, **विसृजते** = मुक्त करता है, **वाक्** = वाणी, **उ** = ही, **वै** = निश्चितरूप से, **यज्ञः** = यज्ञ है, **तत्** = इस प्रकार, **एतत्** = इस वाणी द्वारा, **यज्ञम्** = यज्ञ को, **एव** = ही, **पुनः** = फिर से, **उपह्वयते** = पुकारता है॥11॥

रेणु-व्याख्या–ऊखल में मुसल रखने के बाद अध्वर्यु हवि के कुट्टनार्थ हवि तैयार करने वाले ऋत्विक् को बुलाने के लिए यजुर्वेद के (1.15) मन्त्रांश का पाठ करता हुआ कहता है कि हे हवि तैयार करने वाले! आओ, यह शब्द मन्त्र में दो बार आया है, आह्वान को दृढीकरणार्थ इसे पुनरुक्ति नहीं कहा जा सकता। आह्वान के समय इस मन्त्रांश का पाठ अध्वर्यु उच्च स्वर से करता है। अब हविष्कृत् शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–जो यह वाणी है वही हविष्कृत् है। चूँकि हविग्रहण के साथ वाणी को नियमित (रोककर मौन धारण) किया था, इसलिए यहाँ वाणी को मुक्त करता है। यह वाणी ही वस्तुतः यज्ञ है। इस प्रकार वाग्विसर्जन रूप क्रिया द्वारा यज्ञ को ही फिर से बुलाता है। अत एव अध्वर्यु दो बार उच्च स्वर से हविष्कृत् का आह्वान करता है॥11॥

[वाक्स्वरूपोपपादनम्]

1.1.4.12. तानि वाऽ एतानि। चत्वारि व्वाच एहीति ब्राह्मणस्यागह्याद्रवेति व्वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्चाधावेति शूद्रस्य स यदेव ब्राह्मणस्य तदाहैतद्धि यज्ञियतममेतदु ह वै व्वाचः शान्ततमं यदेहीति तस्मादेहीत्येव ब्रूयात्॥12॥

ऋजुपाठः–तानि वा एतानि चत्वारि वाचः। एहीति–ब्राह्मणस्य। आगह्याद्रवेति–वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्च। आधावेति–शूद्रस्य। स यदेव

ब्राह्मणस्य-तदाह, एतद्धि यज्ञियतमम्। एतदु ह वै वाचः शान्ततमम्-यदेहीति। तस्मादेहीत्येव ब्रूयात्।।12।।

सा.भा.-ब्रह्मक्षत्रादिवर्णभेदोपजीवनेन हविष्कृदाह्वानमन्त्रे विशेषमाह-**तानि वा एतानि चत्वारीति।** 'वाचः' सम्बन्धीनि 'चत्वारि' रूपाणि। कानि पुनस्तानीत्याह-**एहीत्यादि।** 'वैश्यस्य' हविष्कृदागहीति मन्त्रः। 'राजन्यबन्धोः' क्षत्रियजातेः "हविष्कृदाद्रवेति। आपस्तम्बस्तु राजन्यवैश्योर्वैपरीत्येनासूत्रयत्-"हविष्कृदेहीति ब्राह्मणस्य, हविष्कृदागहीति राजन्यस्य, हविष्कृदाद्रव इति वैश्यस्य, हविष्कृदाधावेति शूद्रस्य" (आ.श्रौ.सू. 1.19.9)-इति।

एवं पूर्वपक्षतया ब्राह्मणक्षत्रादिवर्णप्रयुक्तं विशेषमुपन्यस्य स्वमतं निगमयति-**स यदेव ब्राह्मणस्येति। एतद्धीति।** 'एहीति' एतत् खलु 'यज्ञियतमम्' अतिशयेन यज्ञार्हम्; "इड एह्यदित एहि"-(3 अ. 27 मं.) इत्यादावन्यत्रापि यज्ञे प्रयोगात्। "शान्ततमम्" इति, आगह्याद्रवेत्यादेः सकाशादेहीत्येतदेवातिशयेन शान्तम्; प्रार्थनावाक्येष्वेहीत्येव सर्वत्र प्रयोगादागह्यादीनां च निकृष्टप्रेषणरूपत्वाच्चेत्यर्थः।।12।।

अन्वयः-तानि वा एतानि चत्वारि वाचः (रूपाणि), एहि इति ब्राह्मणस्य, आगहि राजन्यबन्धो आद्रव इति वैश्यस्य, आधाव इति शूद्रस्य च। स (अध्वर्युः) यत् ब्राह्मणस्य तत् एव आह हि एतत् यज्ञियतमम्, एतत् उ ह वै वाचः शान्ततमं यत् एहि इति तस्मात् एहि इत्येव ब्रूयात्।।12।।

पदार्थः-**तानि** = वे, **वा** = निश्चय ही, **एतानि** = ये, **चत्वारि** = चार, **वाचः** = वाणी के, (**रूपाणि** = रूप हैं), **एहि** = आइये, **इति** = ऐसा, **ब्राह्मणस्य** = ब्राह्मण वाणी का रूप है, **आगहि** = आओ, **राजन्यबन्धोः** = क्षत्रिय बन्धु के वाणी का रूप है, **आद्रव** = आजा, **इति** = ऐसा, **वैश्यस्य** =वैश्य का, **आधाव** = दौड़कर आओ, **इति** = ऐसा, **शूद्रस्य** = शूद्र का, **च** = और। **स** = वह (अध्वर्यु), **यत्** = जो, **ब्राह्मणस्य** = ब्राह्मण वाणी का रूप है, **तत्** = वह, **एव** = ही, **आह** = कहता है, **हि** = क्योंकि, **एतत्** = यह वाणी का रूप, **यज्ञियतमम्** = यज्ञ के लिए उपयुक्ततम है, **एतत्** = यह, **उ** = ही, **ह** = प्रसिद्ध, **वै** = निश्चयरूप से, **वाचः** = वाणी का, **शान्ततमं** = सबसे अधिक शान्त रूप है, **यत्** = जो, **एहि** = आइये, **इति** = ऐसा कहा जाता है, **तस्मात्** = इसलिए, **एहि** = आइए, **इति** = ऐसा, **एव** = ही, **ब्रूयात्** = बोले (अध्वर्यु)।।12।।

रेणु-व्याख्या-हवियों को तैयार करने वाले 'हविष्कृत्' को बुलाने के लिए जो वाणी प्रयुक्त होती है उसके चार रूप बताये गये हैं। शतपथब्राह्मण के प्रसिद्ध भाष्यकार पद-वाक्य-प्रमाण-पारावार पारीण आचार्य सायण ने 'एहि' पद ब्राह्मण

का, 'आद्रव' पद क्षत्रिय का, 'आगहि' पद वैश्य का तथा 'आधाव' पद शूद्र का स्वीकार किया है; किन्तु महर्षि आपस्तम्ब ने अपने श्रौतसूत्र में राजन्यवैश्य के वाणी के रूप को सायण से विपरीत कहा है–"हविष्कृदेहीति ब्राह्मणस्य, हविष्कृदागहीति राजन्यस्य, हविष्कृदाद्रव इति वैश्यस्य, हविष्कृदाधावेति शूद्रस्य।" (आप.श्रौ.सू. 1.19-9)

शतपथब्राह्मण के मूल में भी "आगह्याद्रवेति वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्च" यह पद प्रयुक्त है। यहाँ 'वैश्य' पद का प्रथम प्रयोग 'आगहि' पद के लिए ही किया गया है या क्षत्रिय के लिए? ऐसा कहने में एक विचार उत्पन्न होता है कि 'अल्पाच्तरम्' (पा.सू. 2.2.34) सूत्र द्वारा आचार्य पाणिनि ने यह बताया है कि द्वन्द्व समास में अत्यन्त अल्प अच् जिसमें हो उसका पूर्व निपात होता है। उदाहरणार्थ 'पिता माता' (पा.सू. 1.2-70) सूत्र द्वारा 'मातापितरौ' प्रस्तुत किया है उसी प्रकार यहाँ भी 'वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्च' इस द्वन्द्वसामासिक प्रयोग में 'राजन्यवैश्ययो:' यह ग्रहण करना उचित होगा। ऐसा मेरा मानना है। शास्त्रों में वर्णक्रम जो प्राप्त होता है वह भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इसी क्रम में है। इस प्रकार का वर्णक्रम कात्यायन श्रौतसूत्र में 'ब्राह्मणराजन्यवैश्यानां श्रुते:' (का.श्रौ.सू. 1/1/6) तथा "चत्वारो वै वर्णा:। ब्राह्मणो राजन्यो वैश्य: शूद्र:।" (श.प.ब्रा. 5-5-4-9) शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है। इसके अनुसार भी ब्राह्मण के बाद राजन्य तत्पश्चात् वैश्य का क्रम होना चाहिए। इन साक्ष्यों के आधार पर राजन्य का द्वितीय स्थान पर आना सिद्ध होता है। शतपथकार छन्द की बाध्यता के कारण अथवा अल्पाच्तरत्व के कारण इस प्रकार का प्रयोग किये होंगे ऐसा मेरा मत है।

आपस्तम्ब आचार्य सायण के पूर्ववर्ती हैं, उन्होंने इस पदार्थ को सायण से विपरीत स्वीकार किया है जो उक्त विचार से साम्य रखता है। अत: एहि (आइये) यह ब्राह्मण वाणी का रूप 'आगहि' आओ यह क्षत्रियवाणी का रूप 'आद्रव' आ जा यह वैश्य वाणी का रूप तथा 'आधाव' दौड़कर आओ यह शूद्रवाणी का रूप मानना उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार वह अध्वर्यु जो ब्राह्मण वाणी का रूप 'एहि' है उसी का प्रयोग करता है, क्योंकि वाणी का यह रूप यज्ञ के लिए उपयुक्ततम है, यह प्रसिद्ध वाणी का रूप ही निश्चय सबसे अधिक शान्त है ऐसा माना जाता है। इसलिए 'एहि' आइए ऐसी वाणी का ही प्रयोग अध्वर्यु करे ऐसा शतपथकार ने निर्देश दिया है। 'इड एह्यदित एहि' (शु.य.सं. 3.27) में भी एहि पद का प्रयोग यह दर्शाता है कि 'एहि' पद आदरार्थक एवं यज्ञार्ह है। अत: उसका ही प्रयोग करे।।12।।

[हविष्कृन्निरूपणम्]

1.1.4.13. (त्त) तद्ध स्मैतत्पुरा। जायैव हविष्कृदुपोत्तिष्ठति तदिदमप्येतर्हि य एव कश्चोपोत्तिष्ठति स यत्रैष हविष्कृतमुद्वादयति तदेको दृषदुपले समाहन्ति तद्यदेतामत्र व्वाचं प्रत्युद्वादयन्ति॥13॥

ऋजुपाठः—तद्ध स्मैतत्पुरा जायैव हविष्कृदुपोत्तिष्ठति। तदिदमप्येतर्हि य एव कश्चोपोत्तिष्ठति। स यत्रैष हविष्कृतमुद्वादयति—तदेको दृषदुपले समाहन्ति। तद्यदेतामत्र वाचं प्रत्युद्वादयन्ति॥13॥

सा.भा.—कोऽसौ हविष्कृदिति तं दर्शयति—**तद्धेति**। पुरा खल्वेतदाह्वानानन्तरं 'जायैव हविष्कृदुपोत्तिष्ठति' अतस्तदानीं जायैव हविष्कृदभूत्। 'तत्' तस्मादिदानीमप्येदाह्वानानन्तरं जाया वा, अन्यः 'कोऽपि' ऋत्विग्वोपोत्तिष्ठति, स एव हविष्कृदित्यर्थः। तदप्युक्तं सूत्रकृता—"हविष्कृदेहीति त्रिराह्वयति; अतः पत्न्यवहन्त्यन्यो वा" (श्रौ. सू. 2.97-98) इति। हविष्कृदाह्वानसमये दृषदुपलयोः शम्यया समाहननं विधत्ते-**"स यत्रैष हविष्कृतमुद्वादयति"** इति। समाहननजनितां वाचं प्रशंसितुमनुवदति—**तद्यदिति**॥13॥

अन्वयः—तत् ह पुरा एतत् जाया एव हविष्कृत् उपोत्तिष्ठति स्म। तत् इदं य एव कः च एतर्हि उपोत्तिष्ठति स यत्र एष हविष्कृतम् उद्वादयति तत् एको दृषत् उपले समाहन्ति, एतां वाचम् अत्र यत् प्रत्युद्वादयन्ति तत्॥13॥

पदार्थः—**तत्** = उसके लिए, **ह** = निश्चितरूप से, **पुरा** = पहले, **एतत्** = यह, **जाया** = पत्नी, **एव** = ही, **हविष्कृत्** = हविष्कृत्, रूप में, **उपोत्तिष्ठति** = उठती, **स्म** = थी, **तत्** = इसलिए, **इदं** = यह, **यः** = जो, **एव** = ही, **कः** = कोई, **ऋत्विक् च** = ऋत्विक् और, **एतर्हि** = आजकल (इसके लिए), **उपोत्तिष्ठति** = उठता है, **स** = वह, **यत्र** = जहाँ, **एष** = इस, **हविष्कृतम्** = हविष्कृत् को, **उद्वादयति** = पुकारता है, **तत्** = तब (उस समय वहाँ), **एको** = कोई एक ऋत्विक्, **दृषत्** = सिल, **उपले** = बट्टे, दोनों को, **समाहन्ति** = आघात करता है, **एतां** = इस, **वाचं** = वाणी को, **अत्र** = यहाँ, **यत्** = जो, **प्रत्युद्वादयति** = बुलाने पर उत्पन्न करते हैं, **तत्** = उस विषय में आगे कहते हैं॥13॥

रेणु-व्याख्या—इस प्रकार अध्वर्यु द्वारा तीन बार हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि, हविष्कृदेहि[1] हवियों के कुट्टनार्थं बुलाये जाने पर पहले (याज्ञवल्क्य से पहले) यह प्रथा थी कि इस आह्वान पर यजमान की पत्नी ही उठकर हविष्कृत् बनकर सिल-बट्टे पर शम्या से समाहनन द्वारा कुक्कुटवाणी उत्पन्न करती थी। किन्तु आजकल ऋत्विजों में से कोई एक उठकर यह क्रिया सम्पन्न करता है। इसलिए हविष्कृत् के आह्वान होने पर पत्नी या कोई ऋत्विक् उठकर आता है। यद्यपि उस समय जाया (पत्नी) ही हविष्कृत् हुआ करती थी। परन्तु अब जब अध्वर्यु हविष्कृत् को बुलाता है तो उस समय कोई एक ऋत्विक् सिल-बट्टे के ऊपर शम्या का प्रहार कर वाणी को उत्पन्न करता है।

अब यहाँ पुनः विचार किया जाता है कि वह एक कोई ऋत्विक् कौन आवे? तो इस पर देवयाज्ञिक कहते हैं कि—"यस्मिन् कालेऽध्वर्युर्हविष्कृदेहीत्याह्वयति तस्मिन्नेव काले सहैवाग्नीध्रः कुक्कुटोऽसीति (शु.य.सं. 1-16) मन्त्रेण शम्यया द्विर्दृषदं कुट्टयति।" मन्त्रावृत्तिः। उपलां शम्यया एकवारं कुट्टयति अनेनैव मन्त्रेण। (दे.या.प. पृ. 34) अर्थात् पत्नी हविष्कृत् बनकर आवे अथवा आग्नीध्र नामक ऋत्विक् हविष्कृत् रूप में उठकर आवे और कुक्कुटोऽसि इस यजुर्वेदीय मन्त्र को दो बार पढ़कर दो बार सिला पर तथा पुनः एकबार उसी मन्त्र की आवृत्ति कर बट्टा के ऊपर शम्या से आघात कर दिव्य वाणी को उत्पन्न करता है। यहाँ ऐसी ध्वनि क्यों करते हैं? इस विषय को अगले मन्त्र द्वारा स्पष्ट करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—।।13।।

[असुरघ्नीवागुत्पत्तिविषयकमितिहासकथनम्]

1.1.4.14. मनोर्ह वाऽ ऋषभऽआस। तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी व्वाक्प्रविष्टा स तस्य ह स्म श्वसथाद्रवथादसुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति ते हासुराः समूदिरे पापं बत नोऽयमृषभः सचते कथं न्विमं दभ्नुयामेति किलाताकुलीऽ इति हासुरब्रह्मावासतुः।।14।।

ऋजुपाठः—मनोर्ह वा ऋषभ आस। तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक् प्रविष्टा स तस्य ह स्म श्वसथाद् रवथाद् असुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति। ते हासुराः समूदिरे—पापं बत नोऽयमृषभः सचते, कथं न्विमं दभ्नुयामेति। किलाताकुली—इति हासुरब्रह्मावासतुः।।14।।

---

1. हविष्कृदेहीति त्रिराह्वयति। का.श्रौ. 2.4.13।

सा.भा.–अथ यज्ञायुधध्वनेर्यज्ञविघातकासुरराक्षसादिनिवृत्तिहेतुतामुपपादयितु-मितिहासमुदाहरति–**मनोर्ह वा** इति। पुरा किल मनोः सबन्धिन ऋषभस्य प्रश्वासाद् रवाच्च यज्ञविघातिनोऽसुरराक्षसादयो बाध्यमाना गताः। ते च परस्परं संवादं कृतवन्तः। 'ह'–इति खेदे। 'अयम्' ऋषभः 'नः' अस्माकम् 'पापम्' निकर्ष पराजयम् 'सचते' प्रापयति, कथं खल्विमं हिंस्यामेति। एवं संवादे कृते 'किलातश्चाऽऽकुलिश्च' द्वावसुरपुरोहितौ बभूवतुः॥14॥

अन्वयः–मनोः ह वा ऋषभ आस, तस्मिन् असुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक् प्रविष्टा आस, तस्य ह श्वसथात् रवथात् असुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति स्म, ते ह असुराः समूदिरे अयं ऋषभः नः पापं बत सचते, कथं नु इमं दभ्नुयाम इति, किलाताकुली इति ह असुरब्रह्मौ आसतुः॥14॥

पदार्थः–**मनोः** = मनु का, **ह** = प्रसिद्ध, **वा** = ही, **ऋषभः** = एक बैल, **आस** = था, **तस्मिन्** = उस (बैल) में, **असुरघ्नी** = असुरों को मारनेवाली, **सपत्नघ्नी** = शत्रुघातक, **वाक्** = वाणी, **प्रविष्टा** = प्रविष्ट, **आस** = थी, **तस्य** = उसके, **ह** = ही, **श्वसथात्** = फुंकार से, **रवथात्** = नाद (रँभाने) से, **असुररक्षसानि** = यज्ञविघातक असुर राक्षसादि, **मृद्यमानानि** = मृत्यु को, **यन्ति** = प्राप्त हो जाते, **स्म** = थे, **ते** = वे, **ह** = ही, **असुराः** = असुरों ने, **समूदिरे** = परस्पर संवाद के उपरान्त मिलकर बोले, **अयं** = यह, **ऋषभः** = बैल, **नः** = हमें, **पापं** = व्यथा, **बतः** = अधिक मात्रा में, **सचते** = पहुँचाता है, **कथं** = किस प्रकार, **नु** = शीघ्र, **इमम्** = इसको, **दभ्नुयाम** = मारें, **इति** = ऐसा, **किलाताकुली** = किलात एवं आकुली, **इति** = ऐसे नाम वाले, **ह** = प्रसिद्ध, **असुरब्रह्मौ** = असुरों के दो ब्रह्मा (पुरोहित), **आसतुः** = थे॥14॥

रेणु–व्याख्या–बहुत पहले मनुष्यों के आदि पुरुष 'मनु' के पास एक प्रसिद्ध बैल था, उस बैल के मुख में असुरों को मारने वाली शत्रुघातक वाणी प्रविष्ट थी, उस बैल के फुँकार तथा नाद (रँभाने) से जो ध्वनि निकलती थी उस ध्वनि के श्रवणमात्र से यज्ञ के बाधक असुर राक्षसादि मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे। इस समस्या के निवारणार्थ सभी असुरों ने मिलकर एक गोष्ठी की, गोष्ठी में परस्पर संवाद करते हुए सबों ने मिलकर यह निर्णय लिया कि यह मनु का बैल हमें पर्याप्त मात्रा में दुःख पहुँचाता है, हम कैसे इस बैल को शीघ्र नष्ट कर दें अर्थात् मारें ऐसा विचार विमर्श करते समय असुरों के प्रसिद्ध दो ब्रह्मा (पुरोहित) जो किलात एवं आकुली जाम से जाने जाते थे वे भी उस गोष्ठी में उपस्थित थे। उन दोनों ने जो अपना विचार प्रकार किया वो अगले मन्त्र में देखें॥14॥

1.1.4.15. (स्तौ) तौ होचतुः। श्रद्धादेवो वै मनुरावं नु व्वेदावेति तौ हागत्योचतुर्मनो याजयाव त्वेति केनेत्यनेनर्षभेणेति तथेति तस्यालब्धस्य सा व्वागपचक्राम॥15॥

ऋजुपाठः—तौ होचतुः—श्रद्धादेवो वै मनुः,—आवं नु वेदावेति। तौ हागत्योचतुः—मनो! याजयाव त्वेति। केनेति—अनेनर्षभेणेति। तथेति। तस्यालब्धस्य सा वागपचक्राम॥15॥

सा.भा.—तयोर्व्यापारमाह—**तौ होचतुरिति**। श्रद्धैव देवो यस्य सः 'श्रद्धादेवः' श्रद्धालुरित्यर्थः। **आवं नु वेदाव** इति। आवामस्य मनोरभिप्रायं जानावहै इत्यर्थः। "प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्" (पा.सू. 7.2.88.) इति भाषायामेवात्व-विधानादावमिति ह्रस्वोच्चारणम्। "विद् ज्ञाने" (अ.प. 54) इत्यस्माल्लोट्युत्तमद्विवचने वेदावेति रूपम्। **मनो याजयावेत्यादि**। हे मनो! त्वामनेन-ऋषभेण याजयावेति। श्रद्धालुं मनुं विप्रलभ्य तमृषभमवधिष्टामिति तात्पर्यार्थः॥15॥

अन्वयः—तौ ह ऊचतुः। श्रद्धादेवो वै मनुः 'आवं नु वेदाव' इति, तौ ह आगत्य ऊचतुः—मनो! त्वा याजयाव इति, केन? इति, अनेन ऋषभेण इति, तथा इति, तस्य आलब्धस्य सा वाक् अपचक्राम॥15॥

पदार्थः—**तौ** = वे दोनों, किलात एवं आकुली नाम से, **ह** = प्रसिद्ध असुर पुरोहित, **ऊचतुः** = बोले, **श्रद्धादेवो** = अधिक श्रद्धालु, **वै** = निश्चित रूप से, **मनुः** = मनु है, **आवं** = हम दोनों, **नु** = इस बात को शीघ्र, **वेदाव** = जान सकते हैं, **इति** = ऐसा विचारकर (वे मनु के पास आये), **तौ** = वे दोनों, **ह** = ही, **आगत्य** = आकर, **ऊचतुः** = बोले, **मनो!** = हे मनु, **त्वा** = तुम्हें, **याजयाव** = हम दोनों याग कराते हैं, **इति** = ऐसा, **केन** = (मनु ने पूछा) किस द्रव्य से याग करोगे? **इति** = ऐसा, **अनेन** = इस, **ऋषभेण** = बैल से, **इति** = ऐसा (असुर पुरोहितों ने) कहा, **तथा** = ठीक है, **इति** = ऐसा (मनु ने) कहा, **तस्य** = उस बैल की, **आलब्धस्य** = यज्ञ हेतु पकड़े हुए की, **सा** = वह, **वाक्** = असुरघ्नी वाणी, **अपचक्राम** = निकल गई॥15॥

रेणु-व्याख्या—किलात एवं आकुलि नाम से विख्यात दोनों असुर पुरोहितों ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा कि—सुनते हैं कि मनु अत्यन्त दयालु हैं, हमें इसकी जाँच अवश्य करनी चाहिए। ऐसा विचार कर वे दोनों मनु के पास गए, वहाँ जाकर मनु से बोले कि—हे मनु! हम दोनों आपको यज्ञ कराना चाहते हैं? मनु ने पूछा, किस द्रव्य से? तो उन दोनों ने कहा कि इस बैल से, तब मनु ने

कहा–तथास्तु ठीक है। जब यज्ञ के लिए उस बैल का आलभन किया तो वह असुरघ्नी वाणी जो बैल में प्रविष्ट थी, वह बैल में से निकल कर भाग गई। यहाँ 'डुलभष् प्राप्तौ' (पा.धा. 1.1130) धातु से आलभन शब्द को असुर पक्ष में हिंसार्थक एवं यज्ञपक्ष में पकड़ने के अर्थ में प्रयुक्त समझना चाहिए।।15।।

1.1.4.16. सा मनोरेव जायां मनावीं प्रविवेश। तस्यै ह स्म यत्र व्वदन्त्यै शृण्वन्ति ततो ह स्मैवासुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति ते हासुराः समूदिरऽ इतो वै नः पापीयः सचते भूयो हि मानुषी व्वाग्वदतीति किलाताकुली हैवोचतुः श्रद्धादेवो वै मनुरावं न्वेव व्वेदावेति तौ हागत्योचतुर्मनो याजयाव त्वेति केनेत्यनयैव जाययेति तथेति तस्याऽआलब्धायै सा व्वागपचक्राम।।16।।

ऋजुपाठः–सा मनोरेव जायां मनावीं प्रविवेश। तस्यै ह स्म यत्र वदन्त्यै शृण्वन्ति, ततो ह स्मैवासुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति। ते हासुराः समूदिरे–इतो वै नः पापीयः सचते, भूयो हि मानुषी वाग् वदतीति। किलाताकुली हैवोचतुः–श्रद्धादेवो वै मनुः आवं न्वेव वेदावेति। तौ हागत्योचतुः–मनो! याजयाव त्वेति। केनेति। अनयैव जाययेति। तथेति। तस्या आलब्धायै सा वागपचक्राम।।16।।

सा.भा.–सा मनोरेव जायां मनावीं प्रविवेश–इति। मनोर्भार्या मनावी। "मनोरौ वा" (पा.सू. 4.1-39.) इत्यौत्वम्। पुंयोगलक्षणे ङीप्। (पा.सू. 4.2.48.)। **तस्यै ह स्म यत्र वदन्त्यै शृण्वन्ति**–इति। 'तस्यै' षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (पा.सू. 2.3.62. अ. वा. 1) 'यत्र' यस्मिन् देशे वदन्त्यास्तस्याः शब्दं शृण्वन्ति 'ततः' तस्मात् स्थानादसुरादयो बाधिताः पलायन्त इत्यर्थः। **पापीयः सचत** इति। तिर्यग्जातेर्ऋषभस्य ध्वनेः श्रवणात् प्रागस्माकं निकर्षमात्रं प्राप्तम्, इदानीं तु मनुष्यशरीरान्निर्गतवाचः श्रवणादस्माकं 'पापीयः' अतिशयितं पापम्, पराजयं प्राप्नोति। इममेवातिशयमुपपादयति–**भूयो हि मानुषी वाग् वदतीति**। तिर्यग्वाचः सकाशात् 'भूयः' बहुतरं हि मानुषी वाग्वदति वर्णपदवाक्यात्मना कस्यचिदर्थस्य प्रतिपादकत्वात्। एतदाकर्ण्य तावेव पुरोहितावस्यापि प्रतिक्रियां चक्रतुरित्याह–**किलाताकुली हैवोचतुरिति**।।16।।

अन्वयः–सा (वाक्) मनोः जायां मनावीम् एव प्रविवेश। तस्यै ह वदन्त्यै यत्र शृण्वन्ति स ततो ह एव असुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति स्म, ते ह असुरा समूदिरे

इतो वै नः पापीयः सचते, हि भूयो मानुषी वाग् वदति इति किलाताकुली ह एव ऊचतुः श्रद्धादेवो वै मनुः आवं न्वेव वेदाव इति तौ ह आगत्य ऊचतुः मनो त्वा यावयाव इति, केन? इति, अनया एव जायया इति, तथा इति, तस्या आलब्धायै सा वाग् अपचक्राम।।16।।

पदार्थः–**सा** = वह, (वाक्-वाणी), **मनोः** = मनु की, **जायां** = पत्नी में, **मनावीं** = मनावी में, **एव** = हि, **प्रविवेश** = प्रविष्ट हो गई, **तस्यै** = उसके, **ह** = निश्चितरूप से, **वदन्त्यै** = बोलती हुई को, **यत्र** = जहाँ, **शृण्वन्ति** = सुनते, **स्म** = थे, **ततो** = वहीं से, **ह** = निश्चय, **एव** = ही, **असुररक्षसानि** = असुर एवं राक्षसादि, **मृद्यमानानि** = मृत्यु को, **यन्ति** = प्राप्त हो जाते, **स्म** = थे, **ते** = वे, **ह** = प्रसिद्ध, **असुराः** = असुरगण, **समूदिरे** = पुनः परस्पर संवाद कर बोले, **इतो** = इस वाणी से, **वै** = ही, **नः** = हमें, **पापीयः** = दुःख, **सचते** = प्राप्त हो रहा है, **हि** = क्योंकि, **भूयो** = बहुत अधिक, **मानुषी** = मनुष्य सम्बन्धी, **वाक्** = वाणी, **वदति** = बोली जाती है, **इति** = ऐसा विचारकर, **किलाताकुली** = किलात एवं आकुली, **ह** = प्रसिद्ध असुर पुरोहितों ने, **एव** = ही, **ऊचतुः** = बोले, **श्रद्धादेवो** = महान् दयालु, **वै** = निश्चितरूप से, **मनुः** = मनु हैं, **आवं** = हम दोनों, **नु एव** = शीघ्र ही, **वेदाव** = यह जानने का प्रयत्न करते हैं, **इति** = यह सोचकर, **तौ** = वे दोनों, **ह** = निश्चय, **आगत्य** = मनु के पास आकर, **ऊचतुः** = बोले, **मनो** = हे मनु! **त्वा** = तुम्हें, **याजयाव** = यजन कराते हैं, **इति** = ऐसा, **केन** = किस द्रव्य से? **इति** = ऐसा मनु ने कहा, **अनया** = इस, **एव** = ही, **जायया** = आपकी पत्नी मनावी से, **इति** = ऐसा असुरों ने कहा, **तथा** = मनु ने कहा ठीक है, **इति** = ऐसा करने पर, **तस्या** = उस पत्नी की, यज्ञार्थ गृहीत मनावी की, **आलब्धायै** = यज्ञ हेतु ग्रहण की गई की, **सा** = वह, **वाक्** = वाणी, **अपचक्राम** = निकल कर भाग गई।।16।।

रेणु-व्याख्या–बैल में से निकली हुई वह वाणी मनु की पत्नी मनावी में प्रविष्ट हो गई। उस मनावी के बोलने पर उसकी आवाज जहाँ असुर सुनते थे वहीं मरने लगते थे, पुनः वे असुरगण संघटित होकर विचार विमर्श करने लगे कि यह तो और भी बुरा हो गया पहले तिर्यक् योनि में उत्पन्न बैल की ध्वनि से हम मरते थे अब मनुष्य की वाणी से मरने लगे हैं, मनुष्य बैल की अपेक्षा अधिक बोलता है फलतः हमारी अधिक हानि हो रही है। इस परस्पर संवाद के उपरान्त पुनः असुर पुरोहितों ने कहा कि सुनते हैं मनु बहुत दयालु हैं उनकी

परीक्षा लेनी चाहिए। यह विचार कर वे दोनों मनु के पास जाकर बोले कि हे मनु! हम आपको यजन कराना चाहते हैं मनु ने पूछा किस द्रव्य से? तो वे बोले आपकी इस पत्नी से, मनु ने कहा ठीक है। तत्पश्चात् असुर पुरोहितों ने याग के लिए मनावी का आलभन किया किंवा (पकड़ा) मनावी के आलभन किए जाने पर वह असुरघ्नी वाक् मनावी में से भी निकल कर भाग गई।।।16।।

1.1.4.17. सा यज्ञमेव यज्ञपात्राणि प्रविवेश। ततो हैनां न शेकतुर्निहन्तु ᳫ सैषासुरघ्नी सपत्नघ्नी व्वागुद्वदति स यस्य हैवंविदुषऽएतामत्र व्वाचं प्रत्युद्वादयन्ति पापीया ᳫ सो हैवास्य सपत्ना भवन्ति।।17।।

ऋजुपाठः–सा यज्ञमेव यज्ञपात्राणि प्रविवेश। ततो हैनां न शेकतुर्निहन्तुम्। सैषासुरघ्नी सपत्नघ्नी वागुद्वदति। स यस्य हैवं विदुष एतामत्र वाचं प्रत्युद्वादयन्ति, पापीयांसो हैवास्य सपत्ना भवन्ति।।17।।

सा.भा.–सा यज्ञमेवेति। असुरघ्नी या वाक्, क्रमेण मनोर्ऋषभे जायायां चासीत्, 'सा' तयोर्हननान्निराश्रया सती यज्ञमेवाश्रयितुम् 'यज्ञपात्राणि प्रविवेश।' 'ततः' तेभ्यो यज्ञपात्रेभ्यः सकाशात् 'एनाम्' वाचम् 'नि(र्ह)हन्तुम्' निर्गमयितुं न शेकतुरसुरपुरोहितौ। 'सैषा' यज्ञपात्रगताऽसुरघ्नी वाक् शम्यया समाहननादुद्गच्छति। एवं यज्ञपात्रध्वनेरसुरराक्षसादिनिवृत्तिहेतुतां प्रतिपादितामुपसंहरति–**स यस्येति**।।17।।

अन्वयः–सा यज्ञम् (आश्रयितुम्) यज्ञपात्राणि एव प्रविवेश। ततो ह एनां निहन्तुं न शेकतुः, सा एषा असुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक् स एवं ह विदुष यस्य एतां वाचमत्र प्रत्युद्वादयन्ति अस्य सपत्ना ह एव पापीयांसो भवन्ति।।17।।

पदार्थः–सा = वह (असुरघ्नी वाक्), **यज्ञम्** = यज्ञरूप वाणी, **यज्ञपात्राणि** = यज्ञपात्रों में, **एव** = ही, **प्रविवेश** = प्रविष्ट हो गई, **ततो** = वहाँ से, **ह** = निश्चय, **एनां** = इसको, **निहन्तुं** = निकालने में, **न** = नहीं, **शेकतुः** = समर्थ हुए। **सा** = वह, **एषा** = यह, **असुरघ्नी** = असुरों को, मारने वाली, **सपत्नघ्नी** = शत्रुओं का नाश करने वाली, **वाक्** = वाणी, **उद्वदति** = समाहनन क्रिया द्वारा पत्थरों से निकलती है, **स** = वह ऋत्विक्, **एवं** = इस प्रकार, **विदुष** = जानता हुआ, **यस्य** = जिस यजमान के यज्ञ में, **एतां** = इस, **वाचं** = वाणी को, **अत्र** = यज्ञ स्थल में, **प्रत्युद्वादयन्ति** = ऋत्विक्गण प्रतिध्वनित करते हैं, **अस्य** = उसके, **सपत्ना** = शत्रु, **ह** = निश्चय, **एव** = ही, **पापीयांसः** = दुःख से युक्त, **भवन्ति** = होते हैं।।17।।

रेणु-व्याख्या–किलात एवं आकुली इन दोनों असुर पुरोहितों ने यज्ञ के द्वारा मनु की पत्नी मनावी में से जब उस असुरघ्नी वाक् को निकाला तो वह वाणी यज्ञरूप थी इसलिए यज्ञ का आश्रय लेने हेतु यज्ञपात्रों में प्रविष्ट हो गईं। फिर वहाँ से उस वाणी को हटाने में वे असमर्थ हो गए। इसलिए यज्ञों में शत्रुनाशिनी एवं असुरघातिनी वाणी यज्ञपात्रों से निकलती है। इस प्रकार इस रहस्य को जानकर जो ऋत्विक् जिस यजमान के यज्ञ में इस वाणी को निकालते हैं ऐसा करने से उस यजमान के शत्रु निश्चित रूप से ही दुःखों से युक्त होते हैं। इस प्रकार शम्या समाहनन का हेतु बतलाकर समाहनन की आवश्यकता को सिद्ध किया गया है। आजकल जो हम लोग मन्दिरों में घण्टाघोष एवं शंखनाद आदि करते हैं वह इस श्रौती परम्परा का ही द्योतक है। अब इसकी प्रक्रिया को बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं–॥17॥

[समाहननविधिः]

1.1.4.18. स समाहन्ति। कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व ऽइति मधुजिह्वो वै स देवेभ्य ऽआसीद्विषजिह्वोऽसुरेभ्यः स यो देवेभ्यऽआसीः स नऽएधीत्येवैतदाहेषमूर्जमा व्वद त्वया व्वय थ्ं सङ्घात थ्ं सङ्घातं जेष्मेति नात्र तिरोहितमिवास्ति॥18॥

ऋजुपाठः–स समाहन्ति–"कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वः"–(1 अ. 16 मं.) इति। मधुजिह्वो वै स देवेभ्य आसीद्, विषजिह्वोऽसुरेभ्यः। स यो देवेभ्य आसीः स न एधीत्येवैतदाह–"इषमूर्जमा वद त्वया वयꣳसङ्घातꣳसङ्घातं जेष्म"–(1 अ. 16 मं.) इति। नात्र तिरोहितमिवास्ति॥18॥

सा.भा.–विहितं समाहननमनूद्य मन्त्रं विधत्ते–**स समाहन्ति कुक्कुटोऽसीति।** 'मधुजिह्व' इति विशेषणस्याभिप्रायमाह–**स यो देवेभ्य** इति। 'स' खलु–ऋषभो देवानां 'मधुजिह्वः' मधुरवागासीत्, जयहेतुत्वात्। असुरेभ्यस्तु 'विषजिह्वः' विषवागासीत्, पराजयहेतुत्वात्। एवं च मधुजिह्व इति विशेषणस्यायमभिप्रायः, देवानां यादृश आसीः अतोऽस्माकं तादृशो भवेति। इषमूर्जमावदेत्यादिमन्त्रशेषस्य स्पष्टार्थतामाह–**नात्रेति।** 'अत्र' अस्मिन् मन्त्रे किमपि तिरोहितं नैवास्ति, अतो न व्याख्यायत इत्यर्थः॥18॥

अन्वयः–स कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इति (मन्त्रेण) समाहन्ति। स वै देवेभ्य मधुजिह्वः असुरेभ्यो विषजिह्व आसीत्, स यो देवेभ्य आसीः स नः एधि इति एव एतद् आह-इषम् ऊर्जम् आ वद त्वया वयं सङ्घातं सङ्घातं जेष्म इति अत्र तिरोहितम् इव नास्ति॥18॥

पदार्थः—**सः** = वह (आग्नीध्र), **मधुजिह्वः** = मधुरवाणी को बोलने वाली जिह्वा से युक्त, **कुक्कुटोऽसि** = कुक्कुट हो, **इति** = इस (मन्त्र से), **समाहन्ति** = दृषदुपल पर शम्या से समाहनन करता है। **सः** = वह (बैल) **वै** = निश्चितरूप से, **देवेभ्यः** = देवताओं के लिए, **मधुजिह्व** = मधुरवाणी बोलने वाला तथा, **असुरेभ्य** = असुरों के लिए, **विषजिह्वः** = विषयुक्त वाणी बोलने वाला, **आसीत्** = था, **सः** = वह (बैल), **यो** = जो, **देवेभ्य** = देवताओं के लिए, **आसीः** = था, **सः** = वह, वैसा, **नः** = हमारे लिए, **एधि** = होवे, **इति** = ऐसा, **एव** = ही, **एतत्** = इस मन्त्रांश द्वारा, **आह** = कहता है। पुनः कहता है कि—**इषम्** = अन्न (रस), **ऊर्जं** = बल (प्राणशक्ति), **आ वद** = का सम्यक् उपदेश कर अर्थात् हमें दो, **वयं** = हम, **सङ्घातं सङ्घातं** = प्रत्येक युद्ध को, **जेष्म** = जीतें, **इति** = ऐसा यजु बोलता है, **अत्र** = यहाँ, **तिरोहितम्** = गोपनीय, **इव** = के जैसा, **नास्ति** = कुछ नहीं है।।18।।

रेणु-व्याख्या—इस प्रकार समाहनन का हेतु कहने के उपरान्त अब समाहनन की समन्त्रक विधि प्रस्तुत करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—हविष्कृदुद्वादनार्थ आग्नीध्र नामक ऋत्विक् **कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व** (यजु. 1.16) इस मन्त्रांश को पढ़कर सिलबट्टे (दृषदुपल) के ऊपर शम्या से प्रहार करता है अर्थात् सिलबट्टे पर शम्या को पटककर चोट करता है। मन्त्रवाक्य द्वारा शम्या समाहनन से उत्पन्न वाणी को कहा गया है कि हे असुरघ्नी वाक् तुम मधुर वाणी बोलने वाले कुक्कुट (मुर्गा) हो। इस मन्त्रांश की व्याख्या करते हुए आचार्य महीधर ने अपने भाष्य में लिखा है कि **"असुराः क्व क्व इति तान् हन्तुमिच्छन् योऽटति सर्वत्र सञ्चरति स कुक्कुटः। यद्वा कुकं कुत्सितशब्दं कुटति तनोतीति कुक्कुटः। यद्वा कुक्कुटाख्यपक्षिवत् ध्वनिविशेषमसुरभीत्यर्थं तनोतीति कुक्कुट इत्युपचर्यते।"** अर्थात् असुर कहाँ हैं, असुर कहाँ हैं? इस प्रकार शब्दोच्चारण करता हुआ जो सब जगह घूमता है वह कुक्कुट है। कुक् ऐसा निन्दित शब्द निकालता है इसलिए वह कुक्कुट कहा जाता है। अथवा मुर्गा (पक्षी) के समान असुरों को भयभीत करने के लिए ध्वनि विशेष को फैलाता है इसलिए वह कुक्कुट कहलाता है। उस कुक्कुटवाणी का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ऋषि कहते हैं कि वस्तुतः यह वाणी मनु के बैल में थी, वह बैल देवों के लिए मधुर एवं असुरों के लिए विषयुक्त वाणी निकालने वाला था। इसलिए बैल के बोलने से असुर मरते थे। इस प्रकार यहाँ आग्नीध्र कहता है कि हे कुक्कुटवाणी जैसा स्वरूप तुम्हारा देवों के लिए था वैसा ही हमारे लिए भी हो। अगले मन्त्रांश द्वारा यह कहता है कि तुम हमें इष-अन्नादि रस एवं ऊर्ज=बल शक्ति प्रदान करो तथा तुम्हारी इस

सहायता से युक्त होकर हम प्रत्येक संग्राम (युद्ध) को जीतने में समर्थ हों अर्थात् जीवन में आने वाली हरेक कठिनाईयों को पार कर सकें ऐसा हमें बना दो। यहाँ मन्त्र में कुछ छुपा हुआ नहीं है अर्थात् सब कुछ स्पष्ट ही है।।18।।

[शूर्पादानम्]

1.1.4.19. (स्त्य) अथ शूर्पमादत्ते। व्वर्षवृद्धमसीति व्वर्षवृद्ध ꣳ ह्येतद्यदि नडानां यदि व्वेणूनां यदीषीकाणां व्वर्षमु ह्येवैता व्वर्द्धयति।।19।।

ऋजुपाठः–अथ शूर्पमादत्ते–"वर्षवृद्धमसि"–(1 अ. 16 मं.) इति। वर्षवृद्धं ह्येतत्। यदि नडानां यदि वेणूनां यदीषीकाणाम्। वर्षमु ह्येवैता वर्द्धयति।।19।।

सा.भा.–अथ समन्त्रकं शूर्पादानं विधत्ते–अथेति। शूर्पस्य वर्षवृद्धत्वमुपपादयति–**यदि नडानां यदि वेणूनां यदीषीकाणामिति।** जलप्रान्ते वर्तमानास्तृणविशेषा नडाः। नलादीनि द्रव्याणि शूर्पस्योपादानभूतानि। 'वर्षम्' उदकवृष्टिरेव हि 'एताः' नडाद्या ओषधीर्वर्द्धयति, अतो वर्षवृद्धत्वाच्छूर्पस्य 'वर्षवृद्धमसि'–इति व्यपदेशः।।19।।

अन्वयः–अथ वर्षवृद्धमसि इति (मन्त्रेण) शूर्पमादत्ते। हि वर्षवृद्धम् एतत् हि यदि नडानां यदि वेणूनां यदि इषीकाणां वर्षम् उ एता वर्द्धयति।।19।।

पदार्थः–**अथ** = इसके बाद, **वर्षवृद्धमसि** = वर्षा में बढ़े हुए हो, **इति** = यह मन्त्र पढ़कर, **शूर्पम्** = सूप को, **आदत्ते** = लेता है। **हि** = क्योंकि, **वर्षवृद्धम्** = वर्षा में बढ़ा हुआ, **एतत्** = यह है, **हि** = क्योंकि, **यदि** = चाहे यह सूप, **नडानां** = जल के किनारे उत्पन्न होने वाले तृण विशेष से, **यदि** = चाहे, **वेणूनां** = बाँस से, **यदि** = चाहे, **इषीकाणां** = नरकुल सदृश सीकों से (बना होता है), **वर्षम्** = वर्षा, **उ** = से ही, **एता** = ये सभी नड, बाँस या सीक, **वर्द्धयति** = वृद्धि प्राप्त करते हैं।।19।।

रेणु-व्याख्या–अब ऊखल मुसल से कूटे हुए हवि को संस्कृत करने के लिए अध्वर्यु हाथ में सूप लेता हुआ यह मन्त्र **वर्षवृद्धमसि** (यजु–1.16) पढ़ता है। क्योंकि सूप किसी न किसी वनस्पति का ही बनता है, चाहे बाँस का बना हो, चाहे जल के किनारे होने वाले तृण विशेष जिसे नड कहते हैं उससे बना हो, चाहे सिरकी (सीके) से बना हो, ये सभी वनस्पतियाँ वर्षा में ही वृद्धि प्राप्त करती हैं। अतएव वर्षवृद्धम् इस मन्त्र वाक्य का प्रयोग किया गया है। 'वर्षवृद्ध' इन सभी वनस्पतियों का विशेषण है।।19।।

[शूर्पे हविर्निर्वापः]

1.1.4.20. (त्य) अथ हविर्निर्व्वपति। प्रति त्वाव्वर्षवृद्धं वेत्त्विति व्वर्षवृद्धा उ ह्येवैते यदि व्व्रीहयो यदि यवा व्वर्षमु ह्येवैतान्वर्द्धयति तत्सञ्ज्ञामेवैतच्छूर्पाय च व्वदति नेदन्योऽन्य थं हिनसातऽ इति।।20।।

ऋजुपाठः–अथ हविर्निर्वपति–**"प्रतित्वा वर्षवृद्धं वेत्तु"**–(1 अ. 16 मं.) इति। वर्षवृद्धा उ ह्येवैते यदि व्रीहयो यदि यवाः। वर्षमु ह्येवैतान् वर्द्धयति तत्संज्ञामेवैतच्छूर्पाय च वदति–नेदन्योन्यं हिनसात इति।।20।।

सा.भा.–तस्मिन् शूर्पेऽवहतानां व्रीहीणां प्रक्षेपं विधत्ते–**अथ हविर्निर्वपतीति।** 'निर्वपति' उलूखलान्निष्कृष्य अवहतान् व्रीहीन् प्रक्षिपतीत्यर्थः। हे हविः! वर्षवृद्धं त्वां शूर्पं प्रति 'वेत्तु' आत्मन उपर्यवस्थानं जानात्विति मन्त्रार्थः। हविषो वर्षवृद्धत्वमुपपादयति–वर्षवृद्धा उ हीति। व्रीहियवयोरन्यतरो हि हविष उपादानम्; **"व्रीहिभिर्यजेत"** **"यवैर्यजेत"**–इति विकल्पेन यागसाधनत्वश्रवणात्। व्रीहियवाद्योषधयश्च वृष्ट्या वर्द्धन्त इति प्रसिद्धमित्यर्थः। "प्रतित्वा"–इत्यस्याभिप्रायमाह–**तत्सञ्ज्ञामेवैतच्छूर्पायेति।** शूर्पहविषोरन्योन्यं हिंसा मा भवेदिति। 'शूर्पाय च' इति चशब्दाद्धविषे च। 'संज्ञा' संज्ञानम्। समानज्ञानत्वमेव मन्त्रो वदतीत्यर्थः।।20।।

अन्वयः–अथ प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु इति हविः निर्वपति। हि वर्षवृद्धा उ एव एते, यदि व्रीहयो यदि यवा एतान् हि वर्षम् उ वर्द्धयति (तस्मात्) तदेव सञ्ज्ञाम् एतत् शूर्पाय च वदति। इतः अन्योन्यं न हिनसात इति।।20।।

पदार्थः–**अथ** = हविष्कृदुद्वादन के बाद, **प्रति** = भली भाँति, **त्वा** = तुझे, **वर्षवृद्धम्** = वर्षा से बढ़े हुए को, **वेत्तु** = जाने, **इति** = ऐसा मन्त्र बोलकर, **हविः** = हवि को, **निर्वपति** = शूर्प में रखता है। **हि** = क्योंकि, **वर्षवृद्ध** = वर्षा से बढ़े हुए, **उ** = निश्चय, **एव** = ही, **एते** = ये हैं, **यदि** = चाहे, **व्रीहयो** = धान हो, **यदि** = चाहे, **यवा** = जौ हों, **एतान्** = इनको, **हि** = क्योंकि, **वर्षम्** = वर्षा के जल, **उ** = निश्चय, **वर्द्धयति** = बढ़ाते हैं, इसलिए, **तदेव** = वही, **संज्ञाम्** = नाम, **एतत्** = इस, **शूर्पाय** = शूर्प (छाज) के लिए, **च** = और हवि के लिए, **वदति** = कहता है, **इतः** = इस पहचान के बाद से, **अन्योऽन्यं** = ये परस्पर एक दूसरे को, **न** = नहीं, **हिनसात** = हिंसा करें, **इति** = इस भाव से यह पहचान कराता है।।20।।

रेणु-व्याख्या–हविष्कृदुद्वादन द्वारा यज्ञविघातक तत्त्व असुरों एवं शत्रुओं की शान्ति कर निर्विघ्नतया कार्य सम्पादनार्थ अध्वर्यु प्रवृत्त होता है। कार्यारम्भ करता हुआ सर्वप्रथम ऊखल में पूर्व प्रक्षिप्त हवि को मुसल से कूटकर हविर्द्रव्य को संस्कृत करने हेतु (भूसी निकालने हेतु) ऊखल में से हवि निकालकर सूप में रखता हुआ **'प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु'** (यजु. 2/16) इस मन्त्र का पाठ करता है। इस का तात्पर्य है कि वर्षा में बढ़ा हुआ यह बाँस का बना सूप तुझे पहचाने एवं स्वीकार करे। चूँकि यह हवि भी वर्षा में बढ़ी हुई होती है, सूप भी वर्षा में बढ़े हुए बाँस से बना है, इस प्रकार हवि एवं सूप इन दोनों की समान प्रकृति है। ये दोनों समानधर्मी एक दूसरे को पहचान कर अपनावें। क्योंकि चाहे धान हो या जौ हो ये सब वर्षा के जलों से वृद्धि को प्राप्त करते हैं तथा सुपुष्ट होते हैं। अतएव धान, जौ रूप हवि एवं सूप समान धर्मावलम्बी हैं। इस प्रकार मन्त्र द्वारा परस्पर परिचय हो जाने के बाद ये दोनों एक दूसरे को किसी प्रकार कष्ट न दें, एक दूसरे की हिंसा न करें, एक दूसरे के कार्य में अवरोध उत्पन्न न करें, इसी हेतु से अध्वर्यु इस मन्त्र का प्रयोग करता है।।20।।

[तुषाणामपनयनम्]

1.1.4.21. (त्य॒) अ॒थ नि॒ष्पुनाति। प॒रापूत ᳫ॑ र॒क्षः प॒रापूताऽ अ॒रातयऽ इत्य॒थ तु॒षान्प्र॒हन्त्य॒पहत ᳫ॑ र॒क्षऽ इ॒ति त॒न्नाष्ट्रा॒ऽ ए॒वैतद्र॒क्षाᳬस्यतो॒ऽपहन्ति।।21।।

ऋजुपाठः–अथ निष्पुनाति–"परापूत ᳫ रक्षः परापूता अरातयः"–(1 अ. 16 मं.) इति। अथ तुषान् प्रहन्ति–"अपहत ᳫरक्षः"–(1 अ. 16 मं.) इति। तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्ति।।21।।

सा.भा.–तुषाणामपनयनं समन्त्रकं विधत्ते–**अथ निष्पुनातीति**। तुषाणां राक्षसभागत्वात् तैस्तन्निरसनं विधत्ते–**अथ तुषान्-प्रहन्त्यपहतमिति।** 'प्रहन्ति' प्रक्षिपन्ति। एतन्मन्त्रद्वयस्य प्रयोजनमाह–**तन्नाष्ट्रा एवैतदिति**।।21।।

अन्वयः–अथ परापूतं रक्षः परापूता अरातय इति निष्पुनाति। अथ अपहतं रक्ष इति तुषान् प्रहन्ति तत् एतत् नाष्ट्रा रक्षांसि एव अतो अपहन्ति।।21।।

पदार्थः– **अथ** = हवि को सूप में लेने के बाद, **परापूतं** = उड़ा दिया, **रक्षः** = राक्षस को, **परापूताः** = उड़ा दिये गये, **अरातय** = शत्रु, **इति** = ऐसा मन्त्र पढ़कर, **निष्पुनाति** = हवि को फटकता (पिछोड़ता) है। **अथ** = इसके बाद,

अपहतं = मारकर फेंक दिये गये, **रक्षः** = राक्षसादि, **इति** = यह कहकर, **तुषान्** = भूसी (छिलकों) को, **प्रहन्ति** = दूर फेंकता है, **तत्** = ऐसा करने से, **एतत्** = ये, **नाष्ट्रा** = नाशकारी, **रक्षांसि** = राक्षसों को, **एव** = ही, **अतो** = यहाँ से, **अपहन्ति** = दूर करते हैं।।21।।

रेणु-व्याख्या—हवि को सूप में लेकर हवि के भूसी को हटाने हेतु उसे फटकता (पिछोड़ता) है। सूप से फटककर भूसी पृथक्करणरूप हवि संस्कार करता हुआ अध्वर्यु **परापूतं रक्षः परापूता अरातयः** (यजु. 1/16) इस मन्त्रांश को पढ़ता है। इसका तात्पर्य है कि अध्वर्यु यज्ञ का नेता है। नेता एक प्रकार का गुरु है और गुरु का स्वरूप महात्माओं ने कहा है—**सार सार को गहि रहे थोथा देत उड़ाए** अर्थात् व्रीहि या जौ में जो सार भाग तण्डुल है, उसे रखकर भूसी जो अपद्रव्य है उसे उड़ा देता है। यहाँ अपद्रव्यरूप भूसी असुर, राक्षस, नाशकारी कहे गये हैं। इस क्रिया के द्वारा नाशकारी राक्षसों को यहाँ वे भगाता है ऐसा दृष्ट प्रयोजन है।।21।।

[व्रीहितण्डुलयोः पृथक्करणम्]

1.1.4.22. (न्त्य) अथापविनक्ति। व्वायुर्व्वो व्विविनक्त्वित्ययं वै व्वायुर्योऽयं पवतऽ एष वाऽ इद ँ सर्व्वं व्विविनक्ति यदिदं किञ्च व्विविच्यते तदेनानेषऽ एवैतद्विविनक्ति स यदैतऽ एतत्प्राप्नुवन्ति यत्रैनानध्यपविनक्ति।।22।।

ऋजुपाठः—अथापविनक्ति—"**वायुर्वो विविनक्तु**"—(1 अ. 16 मं.) इति। अयं वै वायुः—योऽयं पवते। एष वा इदं सर्वं विविनक्ति—यदिदं किञ्च विविच्यते। तदेनानेष एवैतद्विविनक्ति। स यदैत एतत्प्राप्नुवन्ति यत्रैनानध्यपविनक्ति।।22।।

सा.भा.—वितुषीकृतानां तण्डुलानां व्रीहीणां च पृथक्करणं विधत्ते—**अथापविनक्तीति।** मन्त्रगतवायुशब्दस्यार्थमाह—अयं वै वायुर्योऽयं पवत इति। तस्य विवेचनसामर्थ्यमुपपादयति—**एष वा इद ँ सर्वं विविनक्ति इति।** 'तत्' तस्मात् सर्वस्यास्य विवेचकत्वात् 'एष एव' वायुः 'एनान्' व्रीहींस्तण्डुलांश्च 'विविनक्ति' पृथक् करोति, अतस्तत्प्रार्थनं युक्तमित्यर्थः **स यदैत** इति। 'यदा' यस्मिन् काले 'एते' व्रीहितण्डुलाः 'एतद्' विवेचनं प्राप्नुवन्ति, तस्मिन् समये 'यत्र' यस्यां पात्र्याम् 'अधि' उपर्येतानपविनक्ति।।22।।

अन्वयः—अथ वायुर्वो विविनक्तु इति अपविनक्ति। यो अयं पवते अयं वै वायुः एष वा इदं सर्वं विविनक्ति यत् इदं किञ्च विविच्यते तद् एनान् एष एव एतद् विविनक्ति, स यदा एते प्राप्नुवन्ति यत्र एतत् एनान् अधयपविनक्ति।।22।।

पदार्थः–**अथ** = इसके बाद, **वायुः** = वायु देवता, **वः** = तुम्हें, **विविनक्तु** = अलग-अलग करें, **इति** = ऐसा मन्त्र पढ़कर, **अपविनक्ति** = कूटे एवं बिना कूटे चावलों को अलग-अलग करता है। **यः** = जो, **अयम्** = यह, **पवते** = पवित्र करता है, **अयम्** = यह, **वै** = ही, **वायुः** = वायु है, **एष** = यह, **वा** = ही निश्चय, **इदं** = इस, **सर्वं** = समस्त संसार में जो कुछ है उसे वायु ही, **अपविनक्ति** = अलग करता है, **यत्** = जो, **इदं** = यह, **किञ्च** = कुछ भी, **विविच्यते** = पवित्र किया जाता है, **तत्** = उस, **एनान्** = इनको, **एष** = यह, **एव** = ही, **एतत्** = यह (वायु), **विविनक्ति** = पृथक्-पृथक् करता है, **सः** = वह, **यदा** = जब, **एते** = ये, **प्राप्नुवन्ति** = प्राप्त करते हैं, **यत्र** = जहाँ, **एतत्** = यह, **एनान्** = इनको, **अध्यपविनक्ति** = अलग-अलग करता है।।22।।

रेणु-व्याख्या–अब सूप में लिए हुए हवि को फटकते हुए कुटे, एवं बिना कुटे चावलों को अलग करने के लिए अध्वर्यु "वायुर्वो विविनक्तु" इस (यजु. 1.16) मन्त्रांश का पाठ कर कुटे एवं बेकुटे चावलों को अलग करता है। जिस धान का छिलका नहीं हटा उन्हें अलग करता है, चूँकि जब उन चावलों को पीसा जाएगा तो छिलका वाले धान या जौ के छिलके आटा में मिल जाएँगे, आटा को सूप से फटकना संभव नहीं होगा। अतएव जिनका छिलका उतर चुका है उन्हें अलग रखेगा तथा छिलका को पुनः कूटकर उनका छिलका उतारकर सूप से फटककर हवि को यज्ञ के योग्य बनाया जाएगा। छिलकों को अलग करने में वायुदेव ही सहायक होते हैं। क्योंकि इस संसार में जो कुछ भी वस्तु है उसको वायु देव पवित्र करने में समर्थ हैं इसलिए वायु का एक नाम 'पवन' है। पूञ्-पवने धातु पवित्र के अर्थ का बोधक है। यह वायु पवित्रकारक है, इसलिए इसे पवन कहा जाता है। इस प्रकार जब कभी तुषापनयन कार्य करते हैं तो उन्हें फटकते हैं। इसी भाव से यह अध्वर्यु भी उन व्रीहि जौ आदि हवियों को सूप में लेकर इन्हें फटककर भूसी से अलग एवं कुटे तथा बेकुटे हवियों को भी अलग करता है।।22।।

1.1.4.23. (क्त्य) अथा॒नुमन्त्रयते–देवो॒ वः सविता हि॒रण्यपाणिः प्र॒तिगृभ्णात्व॒च्छिद्रेण पाणि॒ना सु॒प्रतिगृहीता ऽअसन्नित्यु॒थ त्रि॒ः फली॒करोति त्रिवृद्धि॒ यज्ञः।।23।।

ऋजुपाठः–अथानुमन्त्रयते–"**देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना**"–(1 अ० 16 मं.)। सुप्रतिगृहीता असन्निति। अथ त्रिः फलीकरोति–त्रिवृद्धि यज्ञः।।23।।

सा.भा.–तत्पात्रीगतस्य हविषः समन्त्रकमनुमन्त्रणं विधत्ते–**अथानुमन्त्रयते**–इति। यथा चैते तण्डुलाः 'अच्छिद्रेण' छिद्ररहितेन पाणिना 'सुप्रतिगृहीताः' शोभनं प्रतिगृहीता भवेयुः, तथा प्रतिगृह्णात्विति मन्त्रार्थः। फलीकरणं विधत्ते-**अथेति।** तस्य त्रित्वं प्रशंसति–**त्रिवृद्धि यज्ञः** इति। सवनत्रयादिरूपेण त्रिरावृत्तो हि यज्ञः, अतस्तदनुसारेण फलीकरणमपि त्रिः कर्त्तव्यमित्यर्थः।।23।।

अन्वयः–अथ वः सविता देवः हिरण्यपाणिः अच्छिद्रेण पाणिना प्रतिगृभ्णातु सुप्रतिगृहीता असन् इति अनुमन्त्रयते। अथ त्रिः फलीकरोति हि त्रिवृद् यज्ञः।।23।।

पदार्थः–**अथ** = इसके बाद, **वः** = तुम्हें, **हिरण्यपाणिः** = सुवर्ण के समान रमणीय हाथों वाले, **सविता** = सबके प्रेरक, **देवः** = देवता, **अच्छिद्रेण** = छिद्ररहित, **पाणिना** = हाथ से, **प्रतिगृभ्णातु** = प्रीतिपूर्वक ग्रहण करे, **सुप्रतिगृहीता** = अच्छी प्रकार प्रीतिपूर्वक ग्रहण किए हुए, **असन्** = हों, **इति** = ऐसा मन्त्र बोलकर, **अनुमन्त्रयते** = प्रार्थना करता है; **अथ** = तत्पश्चात्, **त्रिः** = तीन बार, **फलीकरोति** = फटकता है, **हि** = क्योंकि, **त्रिवृत्** = तीन वर्तनिकाओं वाला (तिहरा), **यज्ञः** = यज्ञ है।।23।।

रेणु-व्याख्या–सूप में लिए हुए हवि को सम्बोधित कर '**देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना**' इस (यजु. 1.16) मन्त्रांश से हे हवि! सुवर्ण के समान रमणीय हाथों वाले सबके प्रेरक देव सविता तुम्हें छिद्ररहित हाथ से प्रीतिपूर्वक ग्रहण करें यह कहकर हवि की प्रार्थना करता है। उसके बाद तीन बार फटकता (पिछोड़ता) है। क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् (तीन तहों वाला, तिहरा) है। इसलिए तीन बार सूप से फटकता है।।23।।

[फलीकरणे शाखान्तरीयं मतम्]

1.1.4.24. (स्त) तद्धैके देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्वमिति फलीकुर्वन्ति। तदु तथा न कुर्यादादिष्टं वाऽ एतद्देवतायै हविर्भवत्यथैतद्वैश्वदेवं करोति यदाह देवेभ्यः शुन्धध्वमिति तत्समदं करोति तस्मादु तूष्णीमेव फलीकुर्यात्।।24।।4।।

इति प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके प्रथमाध्याये वा चतुर्थं ब्राह्मणम्।।1।।4।।

प्रथमोऽध्यायश्च समाप्तः।।1।।

ऋजुपाठः–तद्धैके–"देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्व" मिति फलीकुर्वन्ति। तदु तथा न कुर्यात्। आदिष्टं वा एतद्देवतायै हविर्भवति। अथैतद्वैश्वदेवं करोति यदाह-देवेभ्यः शुन्धध्वमिति। तत्समदं करोति। तस्मादु तूष्णीमेव फलीकुर्यात्।।24।।

सा.भा.—तस्मिन् फलीकरणे शाखान्तरीयं मन्त्रविधिमनुवदति—**तद्धैके देवेभ्य** इति। तं निषेधति—**तदु तथा न कुर्यादिति।** एतदुपपादयति—**आदिष्टं वा एतद्दे- वतायै**—इति। "अग्नये जुष्टं गृह्णामि" इत्येवमग्न्यादिदेवतायै—आदिष्टमेवैतद्धविर्भवति। अत्र तु "देवेभ्यः शुन्धध्वम्"—इत्यनेन मन्त्रेण 'एतद्' हविः 'वैश्वदेवम्' विश्वदेवसम्बन्धि करोति। अतो देवानामेतन्मन्त्रप्रयोगे 'समदं' परस्परं कलहं करोति। अतो वैश्वदेवत्वापादकं मन्त्रं परित्यज्य तूष्णीमेव फलीकर्त्तव्यमिति निगमयति तस्मादु तूष्णीमेव फलीकुर्यादिति।।24।।4।।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन्। पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः।।

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तकश्रीवीरहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्। प्रथमाध्यायश्च समाप्तः।।1।।

अन्वयः—तत् एके ह 'देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्वम्' इति फलीकुर्वन्ति। तत् उ तथा न कुर्यात् एतद् वा हविः देवतायै आदिष्टं भवति, यत् आह—देवेभ्यः शुन्धध्वम् इति अथ एतत् वैश्वदेवं करोति, तत्समदं करोति, तस्मात् उ तूष्णीम् एव फलीकुर्यात्।।24।।

पदार्थः—**तत्** = उस फलीकरण के सम्बन्ध में, **एके** = कुछ आचार्य (विद्वान्) शाखाध्यायी, **ह** = निश्चयरूपेण, **देवेभ्यः** = देवों के लिए, **शुन्धध्वम्** = शुद्ध करो, **देवेभ्यः** = देवों के लिए, **शुन्धध्वम्** = शुद्ध करो, **इति** = ऐसा मन्त्र बोलकर, **फलीकुर्वन्ति** = फटकने के कार्य द्वारा हवि को शुद्ध करते हैं **तत्** = उस विषय में याज्ञवल्क्य, **उ** = यह निश्चय करते हैं कि, **तथा** = ऐसा **न** = नहीं, **कुर्यात्** = करे, क्योंकि, **एतत्** = यह, **वा** = निश्चयरूपेण, **हविः** = हवि, **देवेभ्यः** = अग्नि आदि देवता विशेष के निमित्त, **आदिष्टं** = निर्दिष्ट कर (ग्रहण की हुई), **भवति** = होती है, **यत्** = जो यह, **आह** = कहता है, **देवेभ्यः** = देवों के लिए, **शुन्धध्वम्** = शुद्ध करो, **एतत्** = ऐसा कथन (उस हवि को), **वैश्वदेवं** = विश्वेदेव (सभी देवताओं) से सम्बन्धित, **करोति** = करता है, **तत्** = वह, **समदं** = कलह, **करोति** = उत्पन्न करता है, **तस्मात्** = इसलिए, **उ** = निश्चय, **तूष्णीम्** = चुपचाप, **एव** = ही, **फलीकुर्यात्** = हवि का शोधन कार्य करे।।24।।

रेणु-व्याख्या—फलीकरण के सम्बन्ध में अन्य शाखाओं में प्रयुक्त मन्त्रविधि पर विचार करते हुए यज्ञ एवं देवता तत्त्व के परम वैज्ञानिक योगीश्वर याज्ञवल्क्य अपना विचार उपस्थापित करते हुए कहते हैं कि कुछ शाखा के विद्वान् 'देवेभ्यः शुन्धध्वम्' देवों के लिए शुद्ध करो ऐसा मन्त्र पढ़कर हवि को फटकते (पिछोड़ते) हैं, सो ऐसा नहीं करना चाहिए। क्योंकि जब हवि ग्रहण करते हैं तब 'अग्नये त्वा जुष्टं गृहणामि' अर्थात् अग्नि के लिए प्रीतिकर तुम्हें ग्रहण करता हूँ इस प्रकार के मन्त्रवाक्य द्वारा तत्तद् देवता के निमित्त

नामनिर्देश पूर्वक हवि ग्रहण किया जाता है। परन्तु शोधन के समय यदि देवेभ्यः शुन्धध्वम् अर्थात् देवों के लिए शुद्ध करो ऐसा कहा जाएगा तो वह हवि सभी देवों के लिए घोषित हो जाएगी। ऐसा होने से देवताओं में परस्पर कलह संभावित हो जाएगा जो यज्ञकर्म के विरुद्ध होगा। अतः देवों में वैषम्य न हो इसलिए इस तरह के वाक्य का प्रयोग न कर चुपचाप ही फलीकरण (हवि का शोधन) कर्म करे, ऐसा विचार प्रस्तुत करते हैं।।24।।

इस प्रकार माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के प्रथम अध्याय के

चतुर्थ ब्राह्मण की रेणु हिन्दी व्याख्या सम्पन्न हुई।।

।।प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ।।1।।

प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्।

[पेषणोपधाने]

1.2.1.1. स वै कपालान्येवान्यतर ऽउपदधाति। दृषदुपले ऽअन्यतरस्तद्वा ऽएतदुभयꣳसह क्रियते तद्यदेतदुभयꣳसह क्रियते।।1।।

ऋजुपाठः–स वै कपालान्येवान्यतर उपदधाति, दृषदुपले अन्यतरः। तद्वा एतदुभयं सह क्रियते। तद्यदेतदुभयं सह क्रियते।।1।।

सा.भा.– यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे, तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्।।1

एवं प्रथमाध्याये व्रतोपायनादि तण्डुलकरणान्तं प्रयोगजातमुक्तम्, अथ द्वितीये कपालोपधानादिरभिधीयते। तत्र कपालोपधानपेषणयोर्युगपदनुष्ठानं विधत्ते–(का.श्रौ. सू. 12/108) **स वै कपालानीति**। 'अन्यतरः' ऋत्विजां मध्ये एक आग्नीध्रः 'सः' कपालानामुपधाता। 'अन्यतरः' अध्वर्युः, 'सः' पेषणार्थं दृषदुपले उपदध्यात्। उक्तं कर्त्तृभेदमुपपादयति–**तद्वा एतदुभयꣳसह क्रियते**–इति। एककर्तृकत्वे हि पर्यायेणानुष्ठानं स्यात्, एतच्चोभयं सहानुष्ठेयम्; अतो विभिन्नावेव कर्त्तारौ युगपत् कुर्य्यातामित्यर्थः। एतत्सहानुष्ठानमुपपादयितुमनुवदति–**तद्यदिति**।।1।।

अन्वयः–सः अन्यतरः (आग्नीध्रः) वै कपालानि एव उपदधाति। अन्यतरो वा (अध्वर्युः) दृषदुपले (उपदधाति), तत् एतत् उभयं सह क्रियते। तद् यत् एतत् उभयं सह क्रियते (तस्य हेतुरुच्यते)।।1।।

पदार्थः–**सः** = वह, **अन्यतरः** = ऋत्विजों में से कोई एक (आग्नीध्र), **वै** = निश्चय, **कपालानि** = कपालों को, **एव** = ही, **उपदधाति** = रखता है (गार्हपत्य या आवनीय में)। **अन्यतरः** = ऋत्विजों में से कोई एक (अध्वर्यु), **वा** = निश्चितरूप से, **दृषदुपले** = दृषत् एवं उपल (सिलबट्टे) को, **उदपदधाति** = रखता है, **तत्** = वह, **एतत्** = यह, **उभयं** = दोनों कार्य, **सह**

= एक साथ, **क्रियते** = किया जाता है। **तत्** = वह, **यत्** = जो, **एतत्** = यह, **उभयं** = दोनों कार्य, **सह** = एक साथ, **क्रियते** = किया जाता है, (तस्य = उसका, **हेतुरुच्यते** = हेतु कहा जाता है)॥1॥

रेणु-व्याख्या–प्रथमाध्याय में व्रतोपायन से लेकर तण्डुलकरण तक के प्रयोग का वर्णन किया गया अब दूसरे अध्याय के आरम्भ में कपालोपधान एवं तण्डुलपेषण का प्रयोग बताया जा रहा है।

इस सम्बन्ध में महर्षि कात्यायन अपने श्रौतसूत्र में "पेषणोपधाने युगपत्" (का. श्रौ. सू. 2/4/24) सूत्र द्वारा तण्डुल को पीसकर आटा तैयार करने का कार्य एवं पुरोडाश पकाने हेतु कपालों का अग्नि में स्थापन करने का कार्य एक साथ होना चाहिए ऐसा स्पष्ट कहते हैं। वस्तुतः श्रौतसूत्रों का प्रणयन मन्त्र एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर ही हुआ है। अतः शतपथकार का यह कथन "एतद् उभयं सह क्रियते" प्रमाण ही है। अब यहाँ यह समस्या उत्पन्न हुई कि ये दोनों कार्य एक ऋत्विक् एक समय में कैसे कर पायेगा? तो शतपथकार स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ऋत्विजों में से कोई एक कपालों का स्थापन करे तथा कोई एक ऋत्विक् दृषत् एवं उपल (सिल एवं बट्टे) को रखे।

अब पुनः यह जिज्ञासा होती है कि कौन-कौन इन दोनों कार्यों को करे? चूँकि दर्शपूर्णमास याग इष्टि है। इष्टि का लक्षण **तत्रेष्टिः आज्यपुरोडाशादिद्रव्यैर्ऋत्विक्चतुष्टयसम्पाद्यसपत्नीकयजमानकर्तृकं कर्मेति।** अर्थात् आज्य पुरोडाशादि द्रव्यों द्वारा चार ऋत्विजों से सम्पादित सपत्नीक यजमान कर्तृक कर्म इष्टि कहलाता है। तदनुसार ब्रह्मा होता अध्वर्यु एवं आग्नीध्र ये चार ऋत्विक् मिलकर इस यज्ञ को सम्पन्न करते हैं। उन चारों में से कौन दो इन दोनों कार्यों को करे? तो कहते हैं कि ब्रह्मा कृताऽकृतावेक्षण रूप कर्म करने वाला ऋत्विक् है। होता देवताओं का आह्वाता है। ये दोनों इन कार्यों को करेंगे नहीं तो बचे अध्वर्यु एवं आग्नीध्र। अध्वर्यु ही यजमान के समस्त कार्यों को सम्पादित करता है तथा आग्नीध्र अध्वर्यु का सहायक है। अतः अध्वर्यु एवं आग्नीध्र ये दोनों मिलकर इस कार्य को करेंगे। क्योंकि कोई एक ऋत्विक् ये दोनों कार्य एक कालावच्छेदेन नहीं कर सकते।

जैसाकि गोस्वामीजी ने कहा भी है–**"दुइ कि होइ एक समय भुआला। हँसब ठठाइ फुलायब गाला।"** (श्रीरामचरितमानस अयोध्याकाण्ड, दोहा, 35, चौ. 5) जिस प्रकार एक समय में एक व्यक्ति हँसना एवं रोना ये दोनों कार्य

नहीं कर सकता उसी तरह अध्वर्यु अकेला पेषण एवं कपालों के उपधान दोनों कार्य नहीं कर सकता। इसका स्पष्टीकरण करते हुए ही याज्ञवल्क्य ने दो ऋत्विजों को अलग-अलग दोनों कार्य सम्पादित करने का निर्देश किया है।

अब पुनः यह विचार आता है कि अध्वर्यु एवं आग्नीध्र इन दोनों में से कौन पेषण करे तथा कौन कपालोपधान करे? तो पद्धतिकार देवयाज्ञिक ने कहा है कि–**"तत्र विरोधादध्वर्युः पेषणं करोति, अग्नीच्च कपालोपधानम्।"** (दे.या. प. पृ. 36) इन दोनों कार्यों में विरोध होने के कारण अध्वर्यु तण्डुल को पीसे तथा आग्नीध्र कपालों को अग्नि में स्थापित करे। इस प्रकार इन दोनों कार्यों को एक साथ ही सम्पादित करे। अब इन दोनों कार्यों के साथ-साथ सम्पादित करने का हेतु स्पष्ट करते हुए याज्ञवल्क्य अग्रिम मन्त्र प्रस्तुत करते हुए कहते हैं–

[पुरोडाशस्य यज्ञशिरत्वोपपादनम्]

1.2.1.2. शिरो ह वा ऽएतद्यज्ञस्य यत्पुरोडाशः। स यान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालान्येतान्येवास्य कपालानि मस्तिष्क ऽएव पिष्टानि तद्वा ऽएतदेकमङ्गमेक ꣳ सह करवाव समानं करवावेति तस्माद्वा एतदुभयꣳ सह क्रियते।।2।।

ऋजुपाठः–शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य–यत्पुरोडाशः। स यान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालानि–एतान्येवास्य कपालानि, मस्तिष्क एव पिष्टानि। तद्वा एतदेकमङ्गम् एकं सह करवाव, समानं करवावेति। तस्माद्वा एतदुभयं सह क्रियते।।2।।

सा.भा.–उपपादयति–**शिरो ह वा एतद् यज्ञस्य यत् पुरोडाश** इति। पुरोडाशस्य प्रतिज्ञातं यज्ञशिरस्त्वं संपादयति–**स यान्येवेमानीति। मस्तिष्क एवेति।** शिरःकपालान्तर्गतं मांसम् 'मस्तिष्कः'। **तद्वा एतदिति।** 'तत्' एतत् कपालं मस्तिष्करूपं मिलितं सच्छिरःसंज्ञकमेकमङ्गं प्रसिद्धं लोके। तथात्रापि शिरःकपालमस्तिष्कसंस्तुयोः कपालपिष्टयोः सह प्रयोगात्पुरोडाशात्मकस्य यज्ञशिरस एकीकरणं सेत्स्यतीत्यभिप्रायः।।2।।

अन्वयः–यत् एतत् पुरोडाशः (तत्) यज्ञस्य ह शिरः वा। स (आग्नीध्रः) यानि एव इमानि कपालानि (उपदधाति), एतानि एव अस्य शीर्ष्णः कपालानि, मस्तिष्क एव पिष्टानि, तत् एतत् एकम् अङ्गम् एकं सह वा करवाव, समानं करवाव इति। तस्मात् वा एतत् उभयं सह क्रियते।।2।।

पदार्थः–**यत्** = जो, **एतत्** = यह, **पुरोडाशः** = पुरोडाश है, (**तत्** = वह), **यज्ञस्य** = यज्ञ का, **ह** = प्रसिद्ध, **शिरः** = सिर, **वा** = निश्चितरूप से, **सः** = वह (आग्नीध्र), **यानि** = जिन, **एव** = ही, **इमानि** = इन, **कपालानि** = कपालों को, (**उपदधाति** = रखता है), **एतानि** = ये, **एव** = ही, **अस्य** = हमारे इस, **शीर्ष्णः** = सिर की, **कपालानि** = खोपड़ी (हड्डियाँ) हैं, **मस्तिष्क** = खोपड़ी के अन्दर जो मस्तिष्क है, **एव** = वही, **पिष्टानि** = ये चावल के आटे से बनी पिट्ठियाँ, **तत्** = इस प्रकार, **एतत्** = ये दोनों परस्पर, **एकम्** = एक, **अङ्गं** = अङ्ग हैं, **एकं** = एक दूसरे अंग, **सह** = के साथ, **वा** = निश्चितरूप से, **करवाव** = करना चाहिए, **समानं** = दोनों अंगों को मिलाकर, **करवाव** = रखना चाहिए, **तस्मात्** = इसलिए, **वा** = ही, **एतत्** = इन, **उभयं** = इन दोनों कार्यों को, **सह** = साथ-साथ, **क्रियते** = किया जाता है।।2।।

रेणु-व्याख्या–तण्डुल पेषण एवं कपाल स्थापन इन दोनों कार्यों को एक समय एक साथ क्यों करें? इसका हेतु बताते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह जो पुरोडाश है वही यज्ञ का सिर है। सिर में दो तरह के तत्त्व होते हैं एक खोपड़ी और दूसरा मस्तिष्क। जो हड्डी का बना कड़ाही सदृश पात्र विशेष है वह खोपड़ी है तथा उस खोपड़ी के अंदर माँस एवं नाड़ियों के मिश्रण से निर्मित जो पिट्ठी है वह मस्तिष्क है। इस प्रकार यह जो आग्नीध्र कपाल का उपधान करता है, ये कपाल ही पुरोडाश रूप यज्ञ के सिर की खोपड़ी है तथा चावल के आटे से जो पिष्ट अध्वर्यु द्वारा तैयार कर उस खोपड़ी पर रखकर पकाया जाएगा वह पिष्ट ही मस्तिष्क है। ये दोनों एक दूसरे के साथ मिलकर ही सिर रूप होते हैं।

इसलिए इन दोनों को एक साथ ही तैयार करना चाहिए। चूँकि इन दोनों अंगों को मिलाकर रखने से ही इसकी सम्पूर्णता बनी रहती है। इसलिए ये दोनों कार्य एक साथ करने का विधान किया गया है।।2।।

[कपालोपधानम्]

1.2.1.3. स यः कपालान्युपदधाति। स ऽउपवेषमादत्ते धृष्टिरसीति स यदेनेनाग्निं धृष्णिववोपचरति तेन धृष्टिरथ यदेनेन यज्ञ ऽउपालभत ऽउपेव वा ऽएनेनैतद्वेवेष्टि तस्मादुपवेषो नाम।।3।।

ऋजुपाठः—स यः कपालान्युपदाधाति, स उपवेषमादत्ते—"**धृष्टिरसि**"—(1 अ. 17 मं) इति। स यदेनाग्निं धृष्णिववोपचरति, तेन धृष्टिः। अथ यदेनेन यज्ञ उपालभते, उपेव वा एनेनैतद्वेवेष्टि। तस्मादुपवेषो नाम॥3॥

सा.भा.—तत्र कपालान्युपदधतः कृत्यमाह—'**स उपवेषमादत्ते धृष्टिरसीति। अङ्गारविभजनार्थं काष्ठमुपवेषः।**' धृष्टिशब्दं निर्वक्ति-**स यदेनेनेति।** स 'धृष्णिवव—इति क्रियाविशेषणम्। "ञिधृषा प्रागल्भ्ये" (स्वा.प. 23) इत्यस्माद् धृष्णोत्यनेनेति धृष्टिरिति करणे क्तिन्नित्यर्थः। अथ एवैतदुपवेषस्य संज्ञान्तरम्। तथा चान्यत्र श्रूयते—"धृष्टिरुपवेष" इति। अथेत्याद्युपवेषस्य निर्वचनम्। अथ यज्ञे 'एतेन' काष्ठेन यत् अङ्गारादिकम् 'उपालभते' प्राप्नोति। 'तत्' एतत् 'एतेन' उपवेषेण वेवेष्टीव।' "विष्लृ व्याप्तौ" (जु.उ. 13) इत्यस्मात् करणसाधनो घञन्त उपवेषशब्दः॥3॥

अन्वयः—सः यः कपालानि उपदधाति सः धृष्टिः असि इति (अनेन मन्त्रेण) उपवेषम् आदत्ते। स यत् एनेन धृष्णु इव अग्निम् वा उपचरति तेन धृष्णिः अथ यत् एनेन यज्ञे उपालभते एनेन उप इव वा एतत् वेवेष्टि (करोति) तस्मात् उपवेषो नाम॥3॥

पदार्थः—**सः** = वह (आग्नीध्र), **यः** = जो, **कपालानि** = कपालों को, **उपदधाति** = रखता है, **सः** = वह, **धृष्टिः** = (ढीठ) साहसी, **असि** = हो (तुम), **इति** = इस मन्त्रांश से, **उपवेषम्** = उपवेष नामक यज्ञपात्र को, **आदत्ते** = लेता है, **सः** = वह, **यत्** = जो, **एनेन** = इस (उपवेष) से, **धृष्णु** = निडर (निर्भय), **इव** = की तरह, **वा** = ही निश्चय रूप से, **उपचरति** = अग्नि में व्यवहार करता है, **तेन** = इस कारण से, **धृष्णिः** = यह उपवेष धृष्टि (कहलाता) है, **अथ** = इसके पश्चात्, **यत्** = जो, **एनेन** = इससे, **यज्ञे** = यज्ञ में अङ्गारादिकों को, **उपालभते** = प्राप्त करता है, **एनेन** = इससे, **उप** = समीप, **इव** = की तरह, **वा** = ही, **एतत्** = यह, **वेवेष्टि** = व्याप्त करता है, **तस्मात्** = इसलिए, **उपवेषो** = यह उपवेष, **नाम** = नाम वाला यज्ञपात्र विशेष कहलाता है॥3॥

रेणु-व्याख्या—आग्नीध्र जब कपालों को अग्नि में स्थापना करने के लिए जाता है तो कपालों को रखने हेतु अग्नि के मध्य स्थान बनाने की इच्छा से वह "धृष्टिरसि" (यजु. 1.17) इस मन्त्रांश को पढ़कर पहले हाथ में उपवेष नामक पात्र को लेता है। हाथ की आकृति वाला खैर की लकड़ी से बना यह पात्र धृष्टि

एवं उपवेष इन दो नामों से प्रसिद्ध है। दोनों नामों का रहस्य स्पष्ट करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह ढीठ बनकर निःशंक निर्भयतापूर्वक अग्नि में आवागमन करता है इसलिए इसे धृष्ट कहते हैं। तथा साहसपूर्ण कर्म करता हुआ अग्नि को उलटा पलटाकर यज्ञ को व्याप्त सा कर लेता है इसलिए यह 'उपवेष' कहलाता है।

आचार्य सायण ने अपने भाष्य में **अङ्गारविभजनार्थं काष्ठमुपवेषः** ऐसा कहा है। **पलाशशाखाया मूलदेशे छिन्नः काष्ठभाग उपवेष इति** ऐसा **आचार्य महीधर** ने कहा है। आचार्य कर्क ने भी **'उपवेषोऽङ्गारापोहनार्थसमर्थं काष्ठम्'** ऐसा कहा है। **"उपवेषोऽरत्निमात्रो हस्ताकारस्तु खादिरः"** ऐसा शतपथ ब्राह्मण (नाग प्रकाशन 1990) की भूमिका में कात्यायन सम्मत यज्ञपात्र का लक्षण देते हुए कहा गया है। **"उपवेषोऽरत्निमात्रः प्रादेशमात्रो वा हस्ताकृतिः"** ऐसा देवयाज्ञिक पद्धति पृ. 7 में कहा गया है। कात्यायन ने अपने सूत्र में यह कहा है कि जिन पात्रों से होम होता है वे पात्र विकङ्कत के तथा जिनसे होम नहीं होता वे पात्र वारण काष्ठ से बनेंगे। **"वारणान्यहोमसंयुक्तानि"** (का.श्रौ.सू. 1.3.36)

इस प्रकार यह 'उपवेष' एवं 'धृष्टि' इन दो नामों से प्रसिद्ध यज्ञपात्र अग्नि में साहसपूर्ण कार्य करता हुआ यज्ञ में अंगारादिकों को प्राप्त करता है तथा यज्ञ को समीप में व्याप्त करता है इसलिए इसका नाम उपवेष है।।3।।

[अग्निगताशुद्ध्यंशनिरसनम्]

1.2.1.4. तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहति। (त्य) अपाग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्याद ँ सेधेत्ययं वाऽआमाद्येनेदं मनुष्याः पक्त्वाश्नन्त्यथ येन पुरुषं दहन्ति स क्रव्यादेतावेवैतदुभावतोऽपहन्ति।।4।।

ऋजुपाठः—तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहति—"अपाग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्याद ँसेध" (1 अ. 17 मं.) इति। अयं वा आमाद्—येनेदं मनुष्याः पक्त्वा अश्नन्ति। अथ येन पुरुषं दहन्ति, स क्रव्यात्। एतावेवैतदुभावतोऽपहन्ति।।4।।

सा.भा.—अग्निगताशुद्ध्यंशस्य निरसनं विधत्ते—तेनेति। 'प्राचः'—इत विधेयविशेषणम्। प्रागुदिग्गतानित्यर्थः। मन्त्रगतयोरामात्क्रव्याच्छब्दयोर्विवक्षितम- र्थमाह—**अयं वा** इति। आममपक्वमत्तीति 'आमात्', मनुष्याणामोदनपाकादिहेतुरग्निः। क्रव्यं पललमत्तीति 'क्रव्यात्' (इति) शवदहनोऽग्निः।।4।।

अन्वयः–तेन (उपवेषेण) 'अग्ने अग्निम् अप जहि निष्क्रव्यादं सेध' इति (मन्त्रेण) अंगारान् प्राचो उदूहति। अयं वा आमात् येन इदं पक्त्वा मनुष्या अश्नन्ति, अथ येन पुरुषं दहन्ति स क्रव्याद् एतौ उभौ एव एतत् अतो अपहन्ति।।4।।

पदार्थः–तेन = उस (उपवेष) से, **अग्ने** = हे अग्नि, **अग्निम्** = अग्नि को, **आमादं** = आमात् संज्ञकों को, **अपजहि** = दूर कर दो (मारकर भगा दो), **क्रव्यादं** = क्रव्याद अग्नि को, **निः सेध** = निश्चित रूप से हटा दो, **इति** = इस मन्त्र वाक्य द्वारा, **अङ्गारान्** = दोनों (**आमात्** = कच्चा अन्न खाने वाले एवं **क्रव्याद** = शव खाने वाले) अग्नियों को, **प्राचो** = पूर्व दिशा के अग्नि को पश्चिम की ओर, **उदूहति** = हटाता है। **अयं** = यह, **वा** = ही, **आमात्** = आमात् अग्नि है, **येन** = जिस अग्नि की सहायता से, **इदं पक्त्वा** = अन्नों को पकाकर, **मनुष्याः** = मनुष्य लोग, **अश्नन्ति** = खाते हैं, **अथ** = और, **येन** = जिससे, **पुरुषं** = पार्थिव शरीर को, **दहन्ति** = जलाते हैं, **स** = वह, **क्रव्याद** = शव खाने वाला अग्नि है, **एतौ** = इन दोनों को, **उभौ** = दोनों प्रकार के अग्नियों को, **एव** = ही, **एतत्** = यह उपवेष, **अतो** = यहाँ से, **अपहन्ति** = मार भगाता है।।4।।

रेणु-व्याख्या–पुरोडाश पकाने के लिए आग्नीध्र कपाल रखने हेतु उपवेष की सहायता से खर के अग्नि को थोड़ा पश्चिम की ओर हटाकर स्थान बनाता है। इसलिए हाथ में उपवेष लेकर अग्निदेव से प्रार्थना करता है कि–'हे अग्निदेव! जिस अग्नि में मनुष्य कच्चा अन्न पकाकर खाते हैं उस आम अर्थात् कच्चा अन्न आद् = खाने वाले को दूर करो तथा क्रव्याद = मृत शरीर (शव) को जलाने वाला अर्थात् खाने वाले अग्नि को निषेध करो, रोको। **'अपाग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादं सेध'** इस (यजु. 1.17) मन्त्रांश को पढ़कर पूर्व भाग के अग्नियों को पश्चिम की ओर हटाता है। जिस अग्नि में मनुष्य कच्चा अन्न पकाकर खाते हैं वह आमात् है तथा जिसमें शव को जलाते हैं वह क्रव्याद अग्नि है। यहाँ यज्ञ में इन दोनों अग्नियों की आवश्यकता नहीं है, यहाँ तो यज्ञाग्नि चाहिए इस हेतु से इन दोनों प्रकार के अग्नियों को यहाँ से हटाकर पृथक् करता है।।4।।

[पुरोडाशश्रपणार्थं शुद्धाग्नेराहरणम्]

1.2.1.5. (न्त्य) अथाङ्गारमास्कौति। (त्या) आ देवयजं वहेति यो देवयाट् तस्मिन्हवीꣳषि श्रपयाम तस्मिन्यज्ञं तनवामहा ऽइति तस्माद्वा ऽआस्कौति।।5।।

ऋजुपाठः–अथाङ्गारमास्कौति–**"आ देवयजं वह"**–(1 अ. 17 मं.) इति। यो देवयाट्, तस्मिन् हवींषि श्रपयाम; तस्मिन् यज्ञं तनवामहा–इति। तस्माद्वा आस्कौति॥6॥

सा.भा.–एवमयज्ञियमग्निं मन्त्रेण निर्हत्य शुद्धादग्नेः पुरोडाशश्रपणार्थमङ्गाराहरणं विधत्ते–**अथेति।** 'आस्कौति' विभजतीत्यर्थः। "स्कुञ् आप्रवणे" (क्र्या.उ. 6) इति धातुः। इत्थं कुर्वतामभिप्रायमाह–य इति। देवान् यजतीति 'देवयाट्' 'यः' अग्निः तस्मिन् हविःश्रपणादिकं करवामहै–इत्यनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः॥5॥

अन्वयः–अथ 'आ देवयजं वह' इति (मन्त्रेण) अङ्गारम् आस्कौति। यो देवयाट् तस्मिन् हवींषि श्रपयाम तस्मिन् यज्ञं तनवामहे इति तस्मात् वा आस्कौति॥5॥

पदार्थः–**अथ** = इसके बाद, **देवयजं** = देवताओं के यज्ञ के योग्य अग्नि को, **आ वह** = भली भाँति लाओ, **इति** = इस मन्त्रांश से, **अंगारम्** = देवयाट् अग्नि को, **आस्कौति** = अलग उठाकर एकत्रित करता है, **यो** = जो, **देवयाट्** = देवों का यजनकर्ता अग्नि है, **तस्मिन्** = उसमें, **हवींषि** = हवियाँ, **श्रययाम** = पकावें, **तस्मिन्** = उसमें, **यज्ञम्** = यज्ञ को, **तनवामहे** = विस्तृत करें, **इति** = इस भाव से, **तस्मात्** = इसलिए, **वा** = ही, **आस्कौति** = अंगार रखता है॥5॥

रेणु-व्याख्या–आमात् एवं क्रव्यात् अग्नि को दूर करने के उपरान्त 'आ देवयजं वह' देवताओं के यज्ञ सम्पादित करने योग्य अग्नि को लाओ इस (यजु. 1.17) मन्त्रांश को पढ़कर देवयजन के योग्य अग्नि को अपनी ओर खींचता है। अग्नि को उपवेष से अपनी ओर लाते हुए यह कहता है कि जो देवयाट् अर्थात् देवों का यजन करने वाला अग्नि है, उसमें हवियों को पकाऊँ तथा उसी अग्नि से यज्ञ करूँ, उसी अग्नि से यज्ञ का विस्तार करूँ इस भाव से यज्ञ के योग्य देवयाट् अग्नि को अलग करके अपनी ओर खींचता है॥5॥

[अंगारे मध्यमकपालस्योपधानम्]

1.2.1.6. तं मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति। देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्तेऽसुररक्षसेभ्यऽआसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुर्नेन्नोऽधस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्युपोत्तिष्ठानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मादेवमुपदधाति तद्वदेषऽ एव भवति नान्यऽएष हि युजुष्कृतो मेध्यस्तस्मान्मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति॥6॥

ऋजुपाठः–तं मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति। देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्ते असुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुः, नेन्नोऽधस्तान्नाष्ट्रा रक्षांस्युपोत्तिष्ठानिति। अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता। तस्मादेवमुपदधाति। तद्यदेष एव भवति, नान्यः। एष हि यजुष्कृतो मेध्यः। तस्मान्मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति॥6॥

सा.भा.–तस्मिन्नङ्गारे मध्यमकपालस्योपधानं विधत्ते–**तमिति।** अंगारस्योपरि विहितं कपालोपधानं प्रशंसति देवा ह वा इति। नेन्न इति। 'नः' अस्माकं हविषो भागेनैव राक्षसादय उपोत्तिष्ठेयुरित्यनेनाभिप्रायेणाङ्गारस्योपरि कपालोपधानं कृतवन्त इत्यर्थः। एवं सत्युक्तभयनिवृत्तिमाह–**अग्निर्हीति।** "आ देवयजम्" इति मन्त्रेण स्थापितस्यैवाङ्गारस्योपरि कपालोपधानं प्रशंसति–**तद्यदिति।** यजुषा मन्त्रेण संस्कृतत्वादेष एव हि कपालोपधाने मुख्यो नान्य इत्यर्थः॥6॥

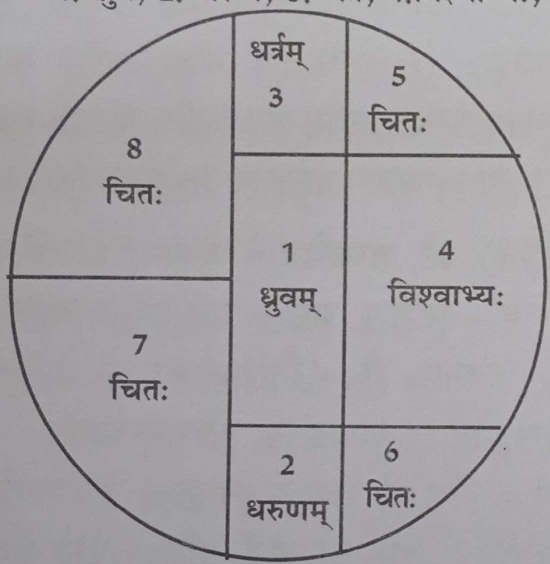
अन्वयः–तम् (अग्निम्) मध्यमेन कपालेन अभ्युपदधाति। ह यज्ञं तन्वानाः ते देवा वै असुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुः, नः अधस्तात् नाष्ट्रा रक्षांसि नेत् उपोत्तिष्ठान् इति। हि अग्निः रक्षसाम् अपहन्ता तस्मात् एवम् उपदधाति। हि यत् एष तत् एष एव यजुष्कृतो मेध्यो भवति नान्यः, तस्मात् मध्यमेन कपालेन अभ्युपदधाति॥6॥

पदार्थः–**तम्** = उस (अग्निम् = अग्नि) को, **मध्यमेन** = मध्यम, **कपालेन** =कपाल से, **अभ्युपदधाति** = ढँकता है। **ह** = प्रसिद्ध, **यज्ञं** = यज्ञ को, **तन्वानाः** = विस्तृत करनेवाले, **ते** = वे, **देवाः** = देवगण, **वै** = निश्चितरूप से, **असुर** = असुर, **रक्षसेभ्यः** = राक्षसों के, **आसङ्गत्** = लगाव से, **बिभयाञ्चक्रुः** = भयभीत हो गए, **नः** = हमारे, **अधस्तात्** = हवि के नीचे से, **नाष्ट्रा** = नाशकारी, **रक्षांसि** = राक्षस, **नेत्** = नहीं, **उपोत्तिष्ठान्** = खड़े हो जायँ, **इति** = ऐसा भय हुआ। **हि** = क्योंकि, **अग्निः** = अग्निदेव, **रक्षसाम्** = राक्षसों के, **अपहन्ता** = मारक (मारकर दूर भगानेवाले) हैं, **तस्मात्** = इसलिए, **एवम्** = इस प्रकार, **उपदधाति** = अङ्गार पर कपाल को रखता है। **हि** = क्योंकि, **यत्** = जो, **एषः** = यह (अग्नि पर स्थापित होने वाला कपाल) है, **तत्** = वह, **एष** = यह, **एव** = ही, **यजुष्कृतो** = यजुर्वेदीय मन्त्रों से अभिमन्त्रित, **मेध्यो** = यज्ञ के योग्य, **भवति** = होता है, **नान्यः** = अन्य (दूसरा) नहीं, **तस्मात्** = इसलिए, **मध्यमेन** = मध्यम, **कपालेन** = कपाल से, **अभ्युपदधाति** = अग्नि को ढँकता है॥6॥

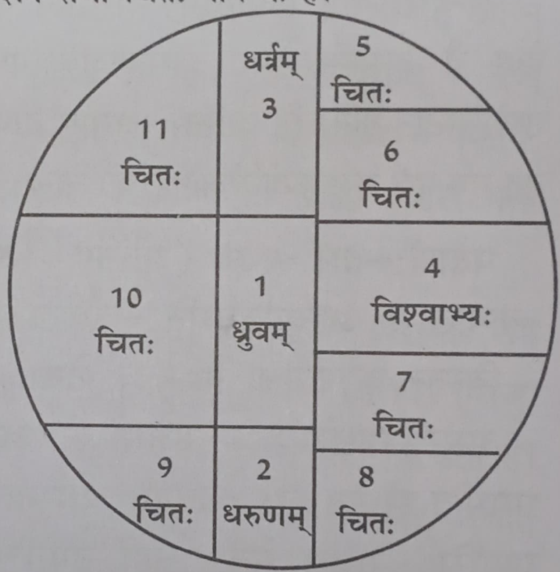
रेणु-व्याख्या–देवयाट् अग्नि को अपनी ओर कपालोपधान स्थानपर चुन-चुन कर व्यवस्थित करने के उपरान्त आग्नीध्र सबसे पहले मध्यम कपाल को स्थापित करता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि अग्नि के लिए आठ कपाल पुरोडाश एवं

अग्नीषोम देवता के लिए एकादश कपाल पुरोडाश तैयार किया जाता है। कपालों को रखने का एक व्यवस्थित क्रम श्रौतशास्त्रों में वर्णित है। तदनुसार उस अग्नि को सर्वप्रथम मध्यम कपाल से ही ढँकता है। यहाँ एक आख्यान द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–जब देवगण यज्ञ का विस्तार करने लगे तो उन्हें यह भय हुआ कि कहीं असुर राक्षसादि हमारे यज्ञ को विनष्ट न कर दें। यदि अग्नि के बिना हवि पकाने के लिए रखेंगे तो असुर राक्षसादि यज्ञविघातक हवि के नीचे से न उठ खड़े हो जाएँ। इसलिए पहले देवयाट् अग्नि को वहाँ एकत्रित करता है फिर कपाल रखता है। क्योंकि अग्नि ही राक्षसों को मारकर दूर भगाने वाले हैं इसलिए अंगार पर कपाल रखता है। यह जो कपालों के मध्य मध्यम कपाल है इसे यजुर्वेदीय मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर स्थापित किया

1. ध्रुव, 2. धरुण, 3. धर्त्र, 4.विश्वाभ्यः, शेष सभी चितः नाम के हैं।



अग्नि : श.प.ब्रा. 2.4.28



अग्नीषोमौ दे.भा.पृ.-37

जाता है। 'आ देवयजम्' इस मन्त्र सेअग्नि वहाँ संगृहीत किया जाता है। इस प्रकार अग्नि एवं मध्यम कपाल यज्ञ की योग्यता से युक्त होता है, अन्य कपाल इस प्रकार नहीं रखे जाते। यही कारण है कि मध्यम कपाल से सर्वप्रथम अग्नि को ढँकता है। इसलिए मध्यम कपाल से ही कपालोपधान कार्य आरम्भ किया जाता है।।6।।

[कपालोपधानमन्त्राः]

1.2.1.7. सऽ उपदधाति। ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳहेति पृथिव्याऽ एव रूपेणैतदेव दृꣳहत्येतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति बह्वी वै यजुःष्वाशीस्तद्ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्तऽ

उभे व्वीर्ये सजातवनीति भूमा वै सजातास्तद्भूमानमाशास्त ऽउपदधामि भ्रातृव्यस्य व्वधायेति यदि नाभिचरेद्यद्यु ऽअभिचरेदमुष्य व्वधायेति ब्रूयादभिनिहितमेव सव्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति॥7॥

ऋजुपाठः–स उपदधाति–"**ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳह**"–(1 अ. 17 मं.) इति। पृथिव्या एव रूपैणैतदेव दृंहति। एतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते–"**ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय**"–(1 अ. 17 मं.) इति। बह्वी वै यजुःष्वाशीः, यद् ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्ते। उभे वीर्ये। सजातवनीति। भूमा वै सजाताः, तद् भूमानमाशास्ते। उपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति–यदि नाभिचरेत्। यद्यु अभिचरेत्–अमुष्य वधायेति ब्रूयात्। अभिनिहितमेव सव्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति॥7॥

सा.भा.–विहितमुपधानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते–**स उपदधातीति। पृथिवीं दृꣳहेति।** पृथिवीसम्बन्धश्रवणात् तत्सम्बन्धिरूपेणैतदेव कपालं दृढं करोति। दृढेन चैतेन कपालेन विद्वेषणं कुर्वन्तं शत्रुमवबाधते। एतन्मन्त्रशेषमनूद्य व्याचष्टे–**ब्रह्मवनीति। बह्वी वा** इत्यादि। यजुष्षु यजुर्मन्त्रेषु बहुविधा खलु 'आशीः' फलप्रार्थना, अतो बहुविधं ब्रह्मक्षत्रादिसम्भजनमनेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। मन्त्रगतयोर्ब्रह्मक्षत्रशब्दयोर्लक्षणया तद्वीर्यपरत्वं विवक्षितमिति व्याचष्टे–**उभे वीर्ये** इति। **भूमा वा** इति। समाने जायन्त इति 'सजाताः' ज्ञातयः। तेषु च बहुभावस्य दर्शनात् धर्मिवाचिना सजातशब्देन तद्धर्मो विवक्षित इत्यर्थः। अभिचरतो विशेषं वक्तुमुक्तं नित्यपक्षमनुवदति–**उपदधामि भ्रातृव्यस्येति।** तमेव विशेषं दर्शयति–**यद्यु अभिचरेदिति।** अभिचरणपक्षे 'भ्रातृव्यस्य वधाय'–इति स्थाने 'अमुष्य' वधाय–इति शत्रोर्नाम षष्ठ्यन्तं निर्दिश्य ब्रूयादित्यर्थः। उपहितस्य कपालस्योपर्यङ्गुल्या अभिनिधानं विधत्ते–**अभिनिहितमेवेति**॥7॥

अन्वयः–स 'ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳ ह' इति (मन्त्रेण) उपदधाति। पृथिव्या रूपेण एव एतत् एव दृंहति, एतेन द्विषन्तं भ्रातृव्यम् एव अवबाधते, ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा उपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय इति (मन्त्रांशं यद्वदति तेन) यजुःषु वै बह्वी आशीः तत् ब्रह्म च क्षत्रं च आशास्ते (ते) उभे वीर्ये सजातवनि इति (भावनया प्रार्थयति) भूमा वै सजाताः तद् भूमानम् आशास्ते, भ्रातृव्यस्य वधाय उपदधामि, इति (वदेत्) यदि नाभिचरेत्, यदि उ अभिचरेत् (तर्हि) अमुष्य वधाय इति ब्रूयात्, (तदानीं) सव्यस्य पाणेः अङ्गुल्या (कपालम्) अभिनिहितम् एव भवति॥7॥

पदार्थः–**सः** = वह (आग्नीध्र), **ध्रुवमसि** = तुम ध्रुव (स्थिर) संज्ञक हो, **पृथिवीं** = पृथिवी को, **दृंह** = दृढ़ करो, **इति** = इस मन्त्रांश (यजु. 1.17) को पढ़ता हुआ,

उपदधामि = मध्यम कपाल को रखता है, **पृथिव्या** = पृथिवी के, **रूपेण** = रूप से, **एव** = ही, **एतत्** = इस कपाल को, **एव** = ही, **दृंहति** = दृढ़ करता है, **एतेन** = इससे, **द्विषन्तं** = द्वेष करने वाले, **भ्रातृव्यम्** = शत्रु को, **एव** = ही, **अवबाधते** = नष्ट करता है (दबाता है), **ब्रह्मवनि** = ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिए, **क्षत्रवनि** = क्षत्रियत्व की रक्षा के लिए, **सजातवनि** = वैश्यत्व की रक्षा के लिए, **त्वा** = तुझे, **उपदधामि** = रखता हूँ। **भ्रातृव्यस्य** = शत्रु के, **वधाय** = वध के लिए (रखता हूँ)। **इति** = ऐसा (मन्त्रांश जो बोलता है उससे), **यजुःषु** = यजुर्वेद के मन्त्रों में, **वै** = निश्चितरूप से, **बह्वी** = बहुत सी, **आशीः** = आशीर्वादात्मक प्रार्थनाएँ हैं, **तत्** = उन, **ब्रह्म** = ब्राह्मणत्व, **च** = और, **क्षत्रं** = क्षत्रियत्व, **च** = और, **आशास्ते** = की कामना करता है, (**ते** = वे), **उभे** = दोनों (ब्रह्म एवं क्षत्र), **वीर्ये** = शक्तियाँ, **सजातवनि** = सजातीय बहुभाव वैश्यत्व में निहित हैं, **इति** = इस भावना से प्रार्थना करता है, **भूमा** = बहुभाव, **वै** = ही निश्चितरूप से, **सजाताः** = प्रजाएँ (वैश्यत्व) हैं, **तत्** = इस प्रकार की प्रार्थना से, **भूमानम्** = बहुभावापन्न धन की, **आशास्ते** = प्रार्थना करता है, **भ्रातृव्यस्य** = शत्रु के, **वधाय** = वध के लिए, **उपदधामि** = रखता हूँ, **इति** = ऐसा (वदेत् = कहे), **यदि** = यदि, **नाभिचरेत्** = अभिचार की इच्छा न हो तो, **यदि** = किन्तु यदि, **उ** = ही, **अभिचरेत्** = अभिचार करना चाहे, (**तर्हि** = तो), **अमुष्य** = (शत्रु का नाम लेकर) अमुक के, **वधाय** = वध के लिए, **इति** = ऐसा, **ब्रूयात्** = बोले (**तदानीं** = उस समय), **सव्यस्य** = वायें, **पाणेः** = हाथ की, **अङ्गुल्या** = अंगुली से (कपाल के ऊपर), **अभिनिहितम्** = दबाया हुआ जैसा रखा हुआ, **एव** = ही, **भवति** = होता है।।7।।

रेणु-व्याख्या–आमाद एवं क्रव्याद अग्नि को हटाकर हव्यवाट् अग्नि को सङ्गृहीत करने के उपरान्त आग्नीध्र कपालों को रखता हुआ सर्वप्रथम मध्यम कपाल का उपधान करता है। कपालोपधान के समय 'ध्रुवमसि पृथिवीं दृंह' (शु. य.सं. 1.17) यह मन्त्रांश पढ़ता हुआ कहता है कि 'तुम ध्रुव हो, पृथिवी को दृढ़ करो।' इस प्रकार पृथिवी के रूप में यज्ञ को ही दृढ़ करता है। इसी दृढ़ता के बल पर वह द्वेष करने वाले शत्रुओं को दबाकर नष्ट करता है। तदुपरान्त यह कहता है कि 'ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि' (यजु. 1.17) हे कपाल! ब्राह्मणत्व की रक्षा करनेवाले, क्षत्रियत्व की रक्षा करने वाले तथा वैश्यत्व की रक्षा करनेवाले तुझको मैं शत्रुओं के नाशार्थ यहाँ स्थापित करता हूँ। वस्तुतः मानव समाज में तीन बलों की आवश्यकता सतत् रहती है, इन्हीं तीनों बलों से समाज सुरक्षित तथा पालित-पोषित होता है। वे तीनों बल ब्रह्मबल, क्षत्रबल एवं विड्बल के नाम से वेदों में प्रसिद्ध हैं। महाकवि माघ ने शिशुपालवध महाकाव्य

में नीतिशास्त्रों के अनुसार राजधर्म का व्याख्यान करते हुए लिखा है–"षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः" (2.26) अर्थात् छः गुण एवं तीन शक्ति आवश्यक हैं। वहाँ शक्ति तीन प्रकार की मन्त्र शक्ति, उत्साह शक्ति एवं प्रभुशक्ति है। ब्रह्मबल ज्ञान का, क्षत्रबल शारीरिक सामर्थ्य का एवं विड्बल जनसहयोग तथा धन सम्पत्ति के भाव का द्योतक है।

वेदमन्त्रों में इस प्रकार के अनेकविध आशीर्वादात्मक प्रार्थनाएँ प्रयुक्त हैं। ब्रह्मतेज एवं क्षत्रतेज सजातीय बहुभावभरित वैश्य (प्रजा) की रक्षा हेतु अत्यावश्यक है। इन्हीं तीनों बलों से शत्रुनाश सम्भव हैं। इन तीनों बलों के लिए ब्राह्मणग्रन्थ में भूमा शब्द का प्रयोग किया गया है। भूमा ही सुख है। भूमा वैश्यत्व का परिचायक है तथा ब्रह्म एवं क्षत्रतेज के लाक्षणिक शक्ति उसमें निहित हैं। इस प्रकार की आशी से बहुभावापन्न धन का आशीर्वाद शत्रुवधार्थ प्राप्त करता है। यदि यजमान को यहाँ अभिचार कर्म अभीष्ट हो तो शत्रु के नाम का षष्ठ्यन्त उच्चारण कर 'अमुक-अमुक का वध करे' ऐसा कहे। यदि न भी मारना चाहे तो भी 'भ्रातृव्यस्य वधाय' शत्रु के वध के लिए ऐसा कहकर वायें हाथ की अंगुली से कपाल को दबाये हुए दायें हाथ से कपालों पर अग्नि के टुकड़ों को रखता है।।7।।

[दक्षिणहस्तेनाङ्गारस्याहरणम्]

1.2.1.8. (त्य) अथाङ्गारमास्कौति। नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्याविशानिति ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहितमेव सव्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति।।8।।

ऋजुपाठः–अथाङ्गारमास्कौति। नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षांस्याविशानिति। ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता। तस्मादभिनिहितमेव सव्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति।।8।।

सा.भा.–दक्षिणहस्तेनान्यस्याङ्गारस्याहरणं विधत्ते–अथेति। नेदिहेत्यादि। यदि सव्यपाण्यङ्गुल्या अभिनिधानं न कुर्यात्, तदा 'इह' अस्मिन् कपाले उपर्यङ्गारनिधानात् पुरस्तादेव [राक्षसाः प्रविशेयुः; नैव तथा स्यादित्यङ्गुल्या] अभिनिहितमेव भवेदित्यर्थः। तथा सत्युक्तदोषनिवृत्तिमाह–**ब्राह्मणो हीति**। अग्निर्यथा दाहेन रक्षांसि हिनस्ति, एवं ब्राह्मणोऽपि मन्त्रसामर्थ्येन तेषां हिंसकः। अतोऽङ्गाराध्यूहनपर्यन्तमङ्गुल्याभिनिहितमेव भवेदित्यर्थः।।8।।

अन्वयः–अथ इह पुरा नाष्ट्रा रक्षांसि नेत् आविशानि इति अङ्गारम् आस्कौति। हि ब्राह्मणो रक्षसाम् अपहन्ता तस्मात् सव्यस्य पाणेः अंगुल्या अभिनिहितमेव भवति।।8।।

पदार्थः–**अथ** = इसके बाद, **इह** = यहाँ, **पुरा** = पहले, **नाष्ट्रा** = नाशकारी, **रक्षांसि** = राक्षस (यज्ञ के बाधक), **नेत्** = नहीं, **आविशानि** = प्रविष्ट हों (घुस जायँ), **इति** = इस भाव से, **अंगारम्** = अग्नि के खण्डों को, **आस्कौति** = उठाकर रखता है। **हि** = क्योंकि, **ब्राह्मणो** = ब्राह्मण ही, **रक्षसाम्** = राक्षसों का, **अपहन्ता** = मारक (दूर हटाने वाला) है, **तस्मात्** = इसलिए, **सव्यस्य** = वायें, **पाणेः** = हाथ की, **अंगुल्या** = अंगुली से, **अभिनिहितम्** = दबाया हुआ, **एव** = ही, **भवति** = होता है।।8।।

रेणु-व्याख्या–अब वायें हाथ की अंगुली से कपाल को दबाये हुए ही उस पर अग्नि के टुकड़ों को क्यों रखता है? इसका हेतु स्पष्ट करते हुए शतपथकार कहते हैं कि इस कपाल पर देवताओं के निमित्त पुरोडाश रखने से पहले कहीं नाशकारी एवं यज्ञ के बाधक असुर राक्षसादि न प्रविष्ट हो जाएँ इसलिए वायें हाथ की अंगुली से दबाये हुए ही अग्नि के टुकड़ों को उठाकर कपाल पर रखता है। चूँकि अग्नि एवं ब्राह्मण ये दोनों समान गुणधर्म वाले हैं **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'**[1] तथा **'मुखादग्निरजायत'**[2] इन दोनों श्रुतिवाक्यों से ऐसा स्पष्ट होता है। वस्तुतः ब्राह्मण ही नाशकारी राक्षसों को मारने में समर्थ है तथा अग्नि ही असुरों को भगाने व मारने में समर्थ है, इसलिए कपाल पर वायें हाथ की अंगुली[3] रखकर तब तक उससे दबाये रहता है जब तक अग्नि का टुकड़ा कपाल पर न रख दिया जाए।।8।।

[कपालोपरि समन्त्रकाङ्गाराध्यूहनम्]

1.2.1.9. (त्य) अथाङ्गारमध्यूहति। अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्वेति नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्याविशानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मादेवमध्यूति।।9।।

ऋजुपाठः–अथाङ्गारमध्यूहति–"अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व"–(1 अ. 18 मं.) इति। नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षांस्याविशानिति। अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता। तस्मादेवमध्यूहति।।9।।

---

1. शु.य.सं., 30.10
2. शु.य.सं., 30.11
3. का.श्रौ.सू. 2.4.29 सूत्र के भाष्य में म.म. विद्याधरशर्मा जी "वामहस्तस्यानामिकाङ्गुल्या स्पृष्टे कपाले अङ्गारं निदध्यादग्नीत्" ऐसा लिखते हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि बायें हाथ की अनामिका अंगुली से आग्नीध्र कपाल को दबाये रखता है।

सा.भा.–समन्त्रकं कपालस्योपर्यङ्गाराध्यूहनं विधत्ते–अथेति। नेदिह पुरेति। 'पुरा' पुरोडाशाधिश्रयणात् प्रागित्यर्थः। अन्यत् पूर्ववत्।।9।।

अन्वयः–अथ 'अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व इति (मन्त्रेण) अङ्गारम् अध्यूहति। इह पुरा नाष्ट्रा रक्षांसि नेत् आविशानि इति, हि अग्निः रक्षसामपहन्ता तस्मात् एवमध्यूहति।।9।।

पदार्थः–**अथ** = इसके बाद, **अग्ने** = हे अग्ने! **ब्रह्म** = हे ब्रह्म! **गृभ्णीष्व** = इसे ग्रहण करो, **इति** = इस मन्त्र से, **अंगारम्** = अग्नि खण्डों को, **अध्यूहति** = कपालपर रखता है। **इह** = यहाँ, **पुरा** = पहले, **नाष्ट्रा** = नाशकारी, **रक्षांसि** = यज्ञविघातक, **नेत्** = नहीं, **आविशानि** = प्रवेश करें, **इति** = इस भाव से। **हि** = क्योंकि, **अग्निः** = अग्नि ही, **रक्षसाम्** = राक्षसों को, **अपहन्ता** = मारकर भगानेवाला है, **तस्मात्** = इसलिए, **एवं** = इस प्रकार (मन्त्र सहित), **अध्यूहति** = रखता है।।9।।

रेणु-व्याख्या–वायें हाथ से कपाल को दबाकर दाहिने हाथ से अग्नि के टुकड़ों को लेकर मन्त्रपाठ पूर्वक 'अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व' (शु.य.सं. 1/18) इस मन्त्रांश से कपाल पर रखता है और कहता है कि हे अग्नि! हे ब्रह्म! इसे तुम ग्रहण करो। यहाँ (कपाल पर) देव सम्बन्धि पुरोडाश स्थापन से पूर्व कहीं राक्षस न प्रविष्ट हो जाएँ इस हेतु से ऐसा कहता है। क्योंकि अग्नि ही राक्षसों को मार भगाने में समर्थ है इसलिए इस प्रकार के मन्त्रवाक्य द्वारा अग्नि के टुकड़ों को कपाल पर रखता है।।9।।

[पश्चात्कपालोपधानम्]

1.2.1.10. (त्यु) अथ यत्पश्चात्तदुपदधाति। धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह हेत्यन्तरिक्षस्यैव रूपेणैतदेव दृꣳहत्येतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य व्धायेति।।10।।

ऋजुपाठः–अथ यत्पश्चात्तदुपदधाति–"धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह"–(1 अ. 18 मं.) इति। अन्तरिक्षस्यैव रूपेणैतदेव दृंहति। एतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते–"ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय"–(1 अ. 18 मं.) इति।।10।।

सा.भा.–पाश्चात्यकपालस्योपधानं विधत्ते-**अथेति**। मध्यमकपालस्योपधानानन्तर्यमथशब्दार्थः। अन्यत् सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम्।।10।।

अन्वयः–अथ "धरुणमसि अन्तरिक्षं दृंह इति (मन्त्रेण) यत्पश्चात् (कपालं) तत् उपदधाति। अन्तरिक्षस्य एव रूपेण एतत् (यज्ञम्) एव दृंहति, एतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यम् अवबाधते (तस्माद्वदति) ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि सजातवनि त्वा भ्रातृव्यस्य वधाय उपदधामि इति।।10।।

पदार्थः–अथ = मध्यम कपाल रखने के बाद, **धरुणमसि** = तू धारण करने वाला है, **अन्तरिक्षं** = अन्तरिक्ष को, **दृंह** = दृढ़कर, **इति** = इस मन्त्र से, **यत्** = जो, **पश्चात्** = पश्चिम की ओर रखा जाने वाला कपाल है, **तत्** = उसको, **उपदधाति** = अंगार पर रखता है। **अन्तरिक्षस्य** = अन्तरिक्ष के, **एव** = ही, **रूपेण** = रूप से, **एतत्** = इस यज्ञ को, **एव** = ही, **दृंहति** = दृढ़ करता है। **एतेनैव** = इससे ही, **द्विषन्तं** = द्वेष करनेवाले, **भ्रातृव्यम्** = शत्रु के, **वधाय** = वध के लिए, **उपदधामि** = स्थापित करता हूँ, **इति** = ऐसा कहता है।।10।।

रेणु-व्याख्या–इस प्रकार उपर्युक्त विधि से मध्यम कपाल का उपधान करने के बाद पश्चिम कपाल को स्थापित करने के लिए आग्नीध्र 'धरुणमसि अन्तरिक्षं दृंह' (यजु. 1.18) इस मन्त्रांश द्वारा 'हे पश्चिम कपाल! तुम धारण करनेवाले हो अतः अन्तरिक्ष लोक को दृढ़ करो' यह कहता है। अन्तरिक्ष को दृढ़ करने की बात कहकर वह अन्तरिक्ष के रूप में यज्ञ को दृढ़ करता है। "अन्तरिक्षं वै यज्ञः" (मै. 3.6.8) तथा "एतेन (अन्तरिक्षेण) इमौ लोकौ (द्यावापृथिव्यौ) विष्कब्धौ" (जै.उप. 1.6.1.3.) इन दोनों श्रौतवचनों से अन्तरिक्ष का यज्ञरूपत्व एवं यज्ञ से तीनों लोकों का सम्बन्ध स्पष्ट अभिहित है। इस प्रकार पश्चिम कपाल द्वारा वह द्वेष करने वाले शत्रुओं को दूर करता है, इसलिए ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि एवं सजातवनि अर्थात् ब्राह्मतेज, क्षात्रतेज एवं सजातीय की रक्षा करने वाले तुझको मैं शत्रु के वध के निमित्त स्थापित करता हूँ, ऐसा कहता है।।10।।

[पूर्वकपालोपधानम्]

1.2.1.11. (त्य) अथ यत्पुरस्तात्तदुपदधाति। धर्त्रमसि दिवं दृᳪह हेति दिवऽएवरूपेणैतदेव दृᳪह हेत्येतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति।।11।।

ऋजुपाठः—अथ यत्पुरस्तात्तदुपदधाति—"धर्त्रमसि दिवं दृꣳह"—(1 अ. 18 मं.) इति। दिव एव रूपेणैतदेव दृंहति। एतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते—"ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय"—(1 अ. 18 मं.) इति॥11॥

सा.भा.—मध्यमकपालात् पूर्वदेशे स्थाप्यस्य कपालस्योपधानं विधत्ते—**अथ यदिति। दिव एव रूपेणेति।** दिवः सम्बन्धिना रूपेण 'एतत्' तृतीयं कपालं दृढीकरोतीत्यर्थः॥11॥

अन्वयः—अथ धर्त्रमसि दिवं दृंहेति (मन्त्रेण) यत् पुरस्तात् उपदधाति तत् दिव एव रूपेण एव एतत् दृंहति। एतेनैव "ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा उपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय इति (मन्त्रांशेन) द्विषन्तं भ्रातृव्यम् अवबाधते"॥11॥

पदार्थः—**अथ** = पश्चिम कपाल रखने के बाद, **धर्त्रमसि** = तुम धर्ता हो, **दिवं** = द्युलोक को, **दृंह** = सुदृढ़ करो, **इति** = इस मन्त्र से, **यत्** = जो, **पुरस्तात्** = पूर्व की ओर, **उपदधाति** = कपाल स्थापित करता है, **तत्** = वह, **दिव एव** = द्युलोक सदृश, **रूपेण** = रूप से, **एव** = ही, **एतत्** = इस (यज्ञ) को, **दृंहति** = दृढ़ करता है, **एतेनैव** = इससे ही, **ब्रह्मवनि** = ब्राह्मतेज, **क्षत्रवनि** = क्षात्रतेज, **सजातवनि** = सजातीयता की रक्षा के लिए, **त्वा** = तुझको, **उपदधामि** = रखता हूँ, **भ्रातृव्यस्य** = शत्रु के, **वधाय** = वध के लिए, **इति** = इस मन्त्रांश से, **द्विषन्तं** = द्वेष करने वाले, **भ्रातृव्यम्** = शत्रु को, **अवबाधते** = दूर करता है॥11॥

रेणु-व्याख्या—पश्चिम कपालोपधान द्वारा अन्तरिक्ष लोक को दृढ़ करने के उपरान्त अब द्युलोक को सुदृढ़ करने की इच्छा से पूर्व की ओर कपाल का स्थापन करता हुआ आग्नीध्र "धर्त्रमसि दिवं दृꣳहेति" (यजु. 1.18) इस मन्त्रांश से 'तुम धर्ता हो, द्युलोक को सुदृढ़ करो' यह कहकर द्युलोक के रूप में यज्ञ को ही दृढ़ करता है। 'सुवरित्यसौ (द्यु) लोकः (तै.आ. 7.5.1, तै.उ. 1.5.1) तथा 'यज्ञो वै स्वः' (मा.श.ब्रा. 1.1.2.21) इन दोनों श्रौतवाक्यों से यज्ञ का द्युलोकत्व सिद्ध होता है। अतः द्युलोक का यज्ञरूपत्व होने से द्युलोक के रूप में यज्ञ को सुदृढ़ करता है यह स्पष्ट होता है। इस प्रकार पूर्वकपाल के स्थापन द्वारा वह द्वेष करनेवाले शत्रुओं को दूर करता है, इसलिए 'ब्रह्मवनि क्षत्रवनि एवं सजातवनि अर्थात् ब्राह्मतेज, क्षात्रतेज एवं सजातीय तेज की रक्षा करने वाले (पूर्व कपाल) तुझको मैं शत्रु के वधार्थ यहाँ स्थापित करता हूँ, ऐसा कहता है॥11॥

[दक्षिणकपालोपधानम्]

1.2.1.12. (त्यु) अथ यद्दक्षिणतस्तदुपदधाति। विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्यऽउपदधामीति स यदिमाँल्लोकानति

चतुर्थमस्ति वा न वा तेनैवैतद् द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधतेऽनद्धा वै तद् यदिमाँल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वानद्धो तद्यद्विश्वाऽआशास्तस्मादाह व्विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्यऽ उपदधामीति तूष्णीं वैवेतराणि कपालान्युपदधाति चितस्स्थोर्द्ध्वचितऽ इति वा॥12॥

ऋजुपाठः—अथ यद्दक्षिणतस्तदुपदधाति—**"विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि"**—(1 अ. 18 मं.) इति। स यदिमाँल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा। तेनैवैतद् द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते। अनद्धा वै तद्—यदिमाँल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा। अनद्धो तद्-यद् विश्वा आशाः। तस्मादाह 'विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि'—इति। तूष्णीं वैवेतराणि कपालान्युपदधाति॥ **"चितस्स्थोर्द्ध्वचितः"**—(1 अ. 18 मं.) इति वा॥12॥

सा.भा.—दक्षिणभागस्थितस्य कपालस्योपधानं विधत्ते—**अथ यदिति।** मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—**स यदित्यादिना।** पूर्वं हि त्रिभिरुपहितैः कपालैः पृथिव्यादिलोकत्रयसकाशाच्छत्रोर्बाधः प्रतिपादितः; इदानीं तु 'इमान्' त्रीँल्लोकान् 'अति' अतिक्रम्य यत् 'चतुर्थम्' स्थानम्, तदस्ति वा न वेति संदिग्धमेव; लोकत्रयवत् प्रसिद्ध्यभावात्। अतो मन्त्रे लोकवाचिशब्दविशेषं परित्यज्य "विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य"—इति सर्वशब्दपर्यायस्य विश्वशब्दस्य प्रयोगात् संदिह्यमानात् सर्वस्मादेव स्थानात् 'द्विषन्तम्' शत्रुं 'सः' यजमानः 'तेन' चतुर्थकपालोपधानेन बाधत इत्यर्थः। "विश्वाभ्यः" इति मन्त्रस्य लोकत्रयातिरिक्तपरत्वमुपपादयति अनद्धा वा इत्यादि। लोकत्रयातिवर्तिनश्चतुर्थस्य सद्भावोऽसद्भावश्च 'अनद्धा वै' अस्माकमप्रत्यक्ष एव; यद् 'विश्वा आशाः' सर्वा दिशः, तदप्यनद्धा 'अनद्धैव' अप्रत्यक्षमेव, लोकत्रयवत् प्रसिद्ध्यभावात्। अतोऽप्रत्यक्षदिग्वाचिना 'विश्वाभ्य आशाभ्य' इति पदद्वयेन लोकत्रयव्यतिरिक्तं सकलमेवाप्रत्यक्षं विवक्षितमित्यर्थः। एवं कपालचतुष्टयस्य मन्त्रेणोपधानं प्रतिपाद्यावशिष्टकपालोपधाने पक्षद्वयमाह—**तूष्णीं वैवेति**॥12॥

अन्वयः—अथ 'विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि ' इति यत् दक्षिणस्तत् उपदधाति। स यत् इमान् लोकान् अति (क्रम्य) चतुर्थम् अस्ति वा न वा? तेन एव द्विषन्तं भ्रातृव्यम् एतत् अवबाधते! अनद्धा वै तत् इमान् लोकान् अति (क्रम्य) चतुर्थम् अस्ति वा न वा तद् अनद्धा उ यत् विश्वा आशाः तस्मात् विश्वाभ्यत्वाशाभ्य उपदधामीति आह। वा तूष्णीं वै इतराणि कपालान्युपदधाति वा चितस्थोर्ध्वचित इति (मन्त्रेण) (उपदध्यात्)॥12॥

पदार्थः—**अथ** = पूर्व कपालोपधान के बाद, **विश्वाभ्यः** = विश्व के समस्त, **आशाभ्यः** = दिशाओं के लिए, **त्वा** = तुझे, **उपदधामि** = रखता हूँ, **इति** =

यह यजु बोलकर, **यत्** = जो, **दक्षिणतः** = दक्षिण की ओर वाला कपाल है, **तत्** = उसे, **उपदधाति** = रखता है। **स** = वह (आग्नीध्र), **यत्** = जो, **इमान्** = इन, **लोकान्** = लोकों से, **अति** = अतिरिक्त (अतिक्रमणकर), **चतुर्थम्** = चौथा, **अस्ति** = (लोक कोई) है, **वा** = अथवा, **न वा** = नहीं है? **तेन** = उस लोक से, **द्विषन्तं** = द्वेष करने वाले, **भ्रातृव्यम्** = शत्रु को, **एतत्** = इस दक्षिण कपाल स्थापन द्वारा, **अवबाधते** = दूर करता है। **अनद्धा** = अस्पष्ट, **वै** = ही, **तत्** = वह, **इमान्** = इन (तीन), **लोकान्** =लोकों से, **अति** = अतिरिक्त, **चतुर्थम्** = चौथा लोक, **असि** = है, **वा** = अथवा, **न वा** = नहीं है, **तत्** = तो, **अनद्धा** = अस्पष्ट, **उ** = ही निश्चयरूप से, **यत्** = जो, **विश्वाः** = सभी, **आशाः** = दिशाएँ हैं, **तस्मात्** = इसलिए, **विश्वाभ्यः** = विश्व के समस्त, **आशाभ्यः** = दिशाओं के लिए, **त्वा** = तुझे, **उपदधामि** = रखता हूँ, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है। **वा** = या तो, **तूष्णीं** = चुपचाप, **वै** =ही, **इतराणि** = अन्य, **कपालानि** = कपालों को, **उपदधाति** = रखता है, **वा** = अथवा, **चितस्थः** = चयन करने वाले तुम हो, **ऊर्ध्वचितः** = उत्कृष्ट गुणों के चयन करने वाले, **इति** = ऐसा यजु बोलकर, अन्य कपालों का उपधान करे।।12।।

रेणु-व्याख्या–अब पूर्ण कपाल को द्युलोक के रूप में स्थापित करने के बाद जो दक्षिण कपाल है उसका स्थापन करता हुआ आग्नीध्र 'विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि' (यजु. 1.18) इस मन्त्रांश को पढ़ता है। मन्त्र द्वारा कहता है कि संसार की समस्त दिशाओं की रक्षा के लिए अर्थात् सभी दिशाओं से इस कपाल की रक्षा के लिए मैं तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ। चूँकि इन तीनों लोकों के अतिरिक्त कोई चौथा लोक है या नहीं है, यह तो स्पष्ट नहीं है। यदि है तो उस चतुर्थ लोक से द्वेष करने वाले शत्रुओं को दूर करने के निमित्त इस कपाल का उपधान किया जाता है। इस कपाल के अतिरिक्त अन्य कपालों के उपधान हेतु दो पक्ष याज्ञवल्क्य ने उपस्थापित किया है या तो चुपचाप ही कपालोपधान करे अथवा 'चितस्थोद्ध्वचित' (यजु. 1.18) इस मन्त्रांश से अन्य कपालों का उपधान करे। क्योंकि इन तीनों लोकों के अतिरिक्त चतुर्थ लोक कोई है कि नहीं है, यह विषय तो अस्पष्ट (स्पष्ट नहीं) है। विषय की अस्पष्टता की स्थिति में ये दोनों विकल्प अन्य कपालों के उपधानार्थ विहित किए गये हैं कि या तो चुपचाप स्थापित करे अथवा 'चितस्थोद्ध्वचित' इस मन्त्रांश से अन्य कपालों को स्थापित करे। इसका तात्पर्य है कि हे कपाल! तू चयनकर्ता है अतः उत्कृष्ट गुणों के चयन करनेवाले तुझे यहाँ स्थापित करता हूँ। इस मन्त्र से अन्य चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम एवं अष्टम कपालों को स्थापित करे।।12।।

[उपहितेषु कपालेष्वङ्गाराध्यूहनम्]

1.2.1.13. अथा॒ङ्गारै॒रभ्यूहति। भृ॒गूणाम॒ङ्गिरसां त॒पसा तप्यध्वमि॒त्येतद्वै ते॒जिष्ठं ते॒जो य॒द् भृग्वङ्गि॒रसाꣳ सुतप्तान्यसन्नि॒ति त॒स्मादेव॒म॒भ्यूहति॥13॥

ऋजुपाठः–अथाङ्गारैरभ्यूहति–'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' (1 अ. 18 मं.) इति। एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यद् भृग्वङ्गिरसाम्। सुतप्तान्यसन्निति तस्मादेवमभ्यूहति।।13।।

सा.भा.–उपहितेषु कपालेष्वङ्गाराध्यूहनं विधत्ते अथेति। मन्त्रे भृगूणामङ्गिरसामिति तपसो यद् विशेषणं तद्व्याचष्टे-**एतद्वा इति**। यद् 'भृग्वङ्गिरसाम्' महर्षीणां तपोविशेषजनितं तेजः, 'एतत्' खल्वग्न्यादितेजोन्तरात् 'तेजिष्ठम्' तेजस्वितमम्, अतिशयेन दीप्तम्। तेजस्विशब्दादिष्ठनि 'विन्मतोर्लुक्' (पासू. 5.3.65) इति लुक्। एवं वदतो मन्त्रस्याभिप्रायमाह–**सुतप्तानीति**। एतान्युपहितानि कपालानि भृग्वङ्गिरसां तपसा सुष्ठु–अतिशयेन तप्तानि भवेयुरित्यनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः। 'असन्'–इत्यस्तेः पञ्चमलकारे रूपम्।।13।।

अन्वयः–अथ भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् इति (मन्त्रेण) अङ्गारैः अभ्यूहति। एतद् वै तेजिष्ठं यत् तेजो भृग्वङ्गिरसां सुतप्तानि असन्निति तस्मादेवम् अभ्यूहति।।13।।

पदार्थः–**अथ** = कपालों के स्थापनोपरान्त, **भृगूणां** =भृगुओं के, **अङ्गिरसां** = अङ्गिरा ऋषियों के, **तपसा** = तपस्या से, **तप्यध्वम्** =तप जाओ, **इति** = इस मन्त्र से, **अङ्गारैः** = स्थापितकपालों के अग्नि के टुकड़ों से, **अभ्यूहति** = ढँकता है। **एतत्** = यह, **वै** = ही निश्चित रूप से, **तेजिष्ठं** = सर्वोत्तम दीप्त तेज है, **यत्** = जो, **तेजः** = तेज के प्रभाव से, **भृग्वङ्गिरसां** =भृगु एवं अङ्गिरा ऋषियों के दोष दग्ध हो गए तथा गुण का आधिक्य हो गया, उसमें **सुतप्तानि** = सुष्ठुतया (भली भाँति) तपे हुए, **असन्** = ये कपाल हो जायँ, **इति** = ऐसा भाव है, **तस्मात्** = इसलिए, **एवम्** = इस प्रकार, **अभ्यूहति** = अङ्गारों से कपालों को ढँकता है।।13।।

रेणु-व्याख्या–उपर्युक्त (पूर्वोक्त) विधान के अनुसार सभी कपालों को यथाविधि स्थापित करने के बाद उन्हें अग्नि से ढँकता हुआ यह मन्त्रांश "भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्" (यजु. 1.18) को बोलकर यह कहता है कि हे कपाल! तुम भृगु एवं अङ्गिरा महर्षि के तपोजनित तेज से सुतप्त हो जाओ।

क्योंकि इन दोनों ऋषियों का तेज निश्चित रूप से सर्वोत्तम दीप्त तेज है, जिस तेजोबल के प्रभाव से भृगु एवं अङ्गिराओं के दोष जल गए तथा उनमें गुण का आधिक्य हो गया उस तेज से ये कपाल भी भली प्रकार सुतप्त होकर दोषों से मुक्त एवं गुणों से युक्त हो जाएँ यही भाव है। इसलिए इस प्रकार के मन्त्र वाक्य का प्रयोग करता हुआ अग्निखण्डों से (अङ्गारों से) सभी कपालों को ढँकता है। यह तो स्पष्ट रूप से पहले भी कहा गया है कि–"अग्निर्वै रक्षसामपहन्ता" अर्थात् अग्नि ही राक्षसों का मारक है, यहाँ राक्षस शब्द दोषवाचक है। अतः कपालों के दोष निवृत्त्यर्थ एवं गुणाभिवृद्ध्यर्थ यह मन्त्र प्रयुक्त हुआ है।।13।।

[कपालोपधानमभिधाय पेषणविधानम्]

1.2.1.14. (त्य) अथ यो दृषदुपलेऽ उपदधाति। स कृष्णाजिनमादत्ते शर्म्मासीति तदवधूनोत्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूताऽ अरातय इति सो ऽसावेव बन्धुस्तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणा-त्यदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्व्वेत्त्विति सोऽसावेव बन्धुः।।14।।

ऋजुपाठः–अथ यो दृषदुपले उपदधाति–स कृष्णाजिनमादत्ते–"**शर्म्मासि**"–(1 अ. 19 मं.) इति। तदवधूनोति–"**अवधूतꣳरक्षोऽवधूता अरातयः**"–(1 अ. 19 मं.) इति। सोऽसावेव बन्धुः। तत् प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति–"अदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु"–(1 अ. 19 मं.) इति। सोऽसावेव बन्धुः।।14।।

सा.भा. एवं सहानुष्ठेययोः कपालोपधानमभिधाय पेषणं विधातुमारभते–**अथेति। स** अवहननवत् पेषणस्यापि कृष्णाजिनस्योपरिकर्तव्यतामभिप्रेत्य तदादानं विधत्ते–**स कृष्णाजिनमिति। सोऽसावेवेति।** अवहननप्रकरणे कृष्णाजिनावधूननविधिशेषो यः प्रागाम्नातः–"तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्तीति–" स एवात्राप्यनुषज्य योजनीय इत्यतिदेशः। अस्य कृष्णाजिनस्य स्तरणं विधत्ते–तदिनि। "इयं वै पृथिव्यदितिः–" इत्यादिना यत् प्रागाम्नातमेतन्मन्त्रव्याख्यानम् तदत्रातिदिशति–**सोऽसावेवेति।**।।14।।

अन्वयः–अथ यो (ऋत्विक्) दृषदुपले उपदधाति सः शर्मासीति (मन्त्रेण) कृष्णाजिनम् आदत्ते, तत् अवधूनोति 'अवधूत ꣳ रक्षोऽवधूता अरातयः' इति (मन्त्रेण)। सोऽसावेव बन्धुः। तत् (कृष्णाजिनम्) 'अदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु' इति (मन्त्रेण) प्रतीचीनग्रीवम् उपस्तृणाति सोऽसावेव बन्धुः।।14।।

पदार्थः–**अथ** = कपालोपधान के बाद, **यः** = जो ऋत्विक् (अध्वर्यु), **दृषदुपले** = सिल एवं लोढ़ी को, **उपदधाति** = रखता है, **सः** = वह, **शर्मासि** =

तू सुखप्रद है, **इति** = इस मन्त्र से, **कृष्णाजिनम्** = कृष्णमृगचर्म को, **आदत्ते** = ग्रहण करता है, **तत्** = उस लिए हुए कृष्णमृगचर्म को, **अवधूनोति** = पूर्वोक्त (श. प.ब्रा.–1.1.4.4.) विधि से झाड़ता है; **अवधूतं** = झाड़ दिये गये, **रक्षः** = राक्षस, **अवधूताः** = झाड़ दिये गये, **अरातयः** = अदानशील शत्रु, **इति** = ऐसा मन्त्र पढ़कर। **सः** = वह, **असौ** = यह, **एव** = ही, **बन्धुः** = (झाड़ने का) प्रयोजन है। **तत्** = उस झाड़े हुए कृष्णाजिन को, **अदित्याः** = अदिति की, **त्वक्** = त्वचा, **असि** = हो, **प्रति** = अच्छी तरह, **त्वा** = तुझे, **अदितिः** = अदिति (पृथिवी), **वेत्तु** = जानें, **इति** = ऐसा यजु बोलकर, **प्रतीचीन** = पश्चिम की ओर, **ग्रीवम्** = ग्रीवा (गर्दन का भाग) करके, **उपस्तृणाति** = बिछाता है, **सः** = वह, **असौ** = यह (अदिति से पहचान कराना), **एव** = ही, **बन्धुः** = प्रयोजन है।।14।।

रेणु-व्याख्या–सभी कपालों को स्थापित कर उसे अंगार से ढँकने के बाद अब हवि को पीसने का कार्य करने वाले अध्वर्यु सम्बन्धी कर्म की व्याख्या करते हैं। जो (अध्वर्यु) ऋत्विक् दृषत् एवं उपला (सिलबट्टे) को रखता है वह 'शर्मासि' तुम सुखप्रद अर्थात् कल्याणकारक हो (यजु. 1–19) इस मन्त्रांश से कृष्णमृगचर्म को लेता है, उसे लेकर पूर्वोक्त (श.प.ब्र. 1.1.4.4.) विधि से (पात्रों से दूर हटाकर झुककर) झाड़ता है। कृष्णाजिन को झाड़ते हुए 'अवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातयः' (यजु. 1.19) इस मन्त्रांश का उच्चारण कर 'राक्षस झाड़ दिये गए तथा अदानशील शत्रु भगा दिये गए' इस भाव से झाड़ता है, यही इसको झाड़ने का प्रयोजन है। उस कृष्णाजिन को पृथिवी पर बिछाते हुए 'अदित्यास्त्वगसि प्रति त्वाऽदितिर्वेत्तु' (यजु. 1.19) इस मन्त्रांश का पाठ कर कहता है कि 'हे कृष्णाजिन! तुम अदिति की त्वचा हो, यह पृथिवी तुझे भली प्रकार जाने' ऐसा कहकर पश्चिम की ओर मृगचर्म का ग्रीवा वाला भाग करके बिछाता है। अदिति से मृगचर्म की पहचान कराना ही इस मन्त्रांश का प्रयोजन है।।14।।

[कृष्णाजिनस्योपरि दृषदः समन्त्रकमुपधानम्]

1.2.1.15. (र) अथ दृषदमुपदधाति। धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति धिषणा हि पर्वती हि प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति तत्सञ्ज्ञामेवैतत्कृष्णा- जिनाय च व्वदति नेदन्योऽन्यꣳ हिनसातऽ इतीयमेवैषा पृथिवी रूपेण।।15।।

ऋजुपाठः–अथ दृषदमुपदधाति–**"धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग् वेत्तु"**–(1 अ. 19 मं.) इति। धिषणा हि, पर्वती हि, प्रति त्वादित्यास्त्वग्

वेत्त्विति। तत्संज्ञामेवैतत् कृष्णाजिनाय च वदति—नेदन्योन्यं हिनसात इति। इयमेवैषा पृथिवी रूपेण॥15॥

सा.भा.—तस्य कृष्णाजिनस्योपरि दृषदः समन्त्रकमुपधानं विधत्ते—**अथेति**। **धिषणा** हीत्यादि। पेषणीयतण्डुलानां धारणात् 'धिषणा' पर्वतावयवत्वात् 'पर्वती'—इत्येतदुभयं प्रसिद्धमिति 'हि'—शब्दयोरर्थः। गतमन्यत्। **इवमेवेति**। पार्थिवेन धारणाख्येन रूपेण योगात् 'एषा' दृषदियमेव पृथिवी स्तुतिः॥15॥

अन्वयः—अथ 'धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु' इति (मन्त्रेण) दृषदमुपदधाति। हि धिषणा (एषा) हि पर्वती अदित्याः त्वक् त्वा प्रति वेत्तु इति। तदेव संज्ञाम् एतत् कृष्णाजिनाय च वदति, इत् अन्योन्यं न हिनसात, इयं पृथिवी रूपेण एव एषा (दृषत्) इति॥15॥

पदार्थः—**अथ** = कृष्णमृगचर्म बिछाने के बाद, **धिषणा** = धारण करने वाली (पिष्ट), **असि** = तुम हो, **पर्वती** = पर्वत का अवयवभूत (पत्थर) **प्रति** = भली प्रकार, **त्वा** = तुझे, **अदित्याः** = अदिति की, **त्वक्** = त्वचा (मृगचर्म), **वेत्तु** = जाने, **इति** = इस मन्त्र से, **दृषदम्** = दृषद् (सिला) को, **उपदधाति** = रखता है। **हि** = क्योंकि, **धिषणा** = धारण करने वाली, **हि** = क्योंकि, **पर्वती** = पर्वत का टुकड़ा (पत्थर) भी है, यह जो कहा कि, **अदित्याः** = अदिति का, **त्वक्** = चर्म, **त्वा** = तुझे, **प्रतिवेत्तु** = भलीभाँति जानकर स्वीकार करे, **इति** = ऐसा। **तदेव** = वही, **संज्ञाम्** = पहचान, **एतत्** = इस, **कृष्णाजिनाय** = कृष्णमृगचर्म के लिए, **च** = भी, **वदति** = कहता है। **इत्** = इससे, **अन्योन्यं** = एक दूसरे को, **न** = नहीं, **हिनसात** = हिंसित करें, **इयं** = यह, **पृथिवी** = पृथिवी, **रूपेण** = रूप से, **एव** = ही, **एषा** = यह दृषत् है, **इति** = ऐसा कहता है॥15॥

रेणु-व्याख्या—हवि पेषण हेतु कृष्णमृगचर्म बिछाने के बाद अब सिल बट्टा रखने की विधि बताते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु' (यजु. 1.19) अर्थात् 'हे दृषद्! तुम हवि को धारण करने वाली धिषणा हो, पर्वत के अवयव हो पृथिवी का चर्म रूप यह कृष्णमृगचर्म तुम्हें भली प्रकार जानकर स्वीकार करे यह मन्त्रांश बोलकर अध्वर्यु मृगचर्म पर दृषत् (सिल) को रखता है। यह जो कहता है कि तू धारक है, पर्वत का अवयव है इत्यादि इस कथन के द्वारा सिला का मृगचर्म से सम्बन्ध स्थापित कराया जाता है ताकि वे दोनों एक-दूसरे को पहचान लें तथा आपस में एक दूसरे की हिंसा न करें। यह जो सिला है वह नीचे रखा जाता है, वही अन्न को धारण करता

है इस प्रकार अन्न के धारक एवं पर्वत का अवयव होने से वह पृथिवी का ही रूप है, ऐसा अभिहित होता है।।15।।

[दृषदः पश्चाद्भागे शम्याया उपधानम्]

1.2.1.16. (णा) अथ शम्यामुदीचीनाग्रामुपदधाति। दिवस्कम्भनीरसीत्यन्तरिक्षमेव रूपेणान्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे तस्मादाह दिवस्कम्भनीरसीति।।16।।

ऋजुपाठः–अथ शम्यामुदीचीनाग्रामुपदधाति–**"दिवस्कम्भनीरसि"**–(1 अ. 19 मं.) इति। अन्तरिक्षमेव रूपेण। अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे। तस्मादाह–दिवस्कम्भनीरसीति।।16।।

सा.भा.–अथ दृषदः पश्चाद्भागे शम्याया उपधानं विधत्ते–**अथ शम्यामिति।** 'उदीचीनम्' उदगवस्थितमग्रे यस्याः सा तथोक्ता। कात्यायनोऽप्याह स्म–"पश्चाच्छम्यामुपोहत्युदीचीं दिव इति" (श्रौ.सू. 2.125.) इति। शम्याया द्युलोकस्तम्भहेतुत्वं वक्तुमन्तरिक्षरूपतामाह–**अन्तरिक्षमेवेति।** द्यावापृथिव्यात्मना संस्तुतयोर्दृषदुपलयोर्मध्येऽवस्थानलक्षणेन रूपेण 'अन्तरिक्षमेव' अन्तरिक्षलोकात्मिकैव 'शम्या' इमे च द्यावापृथिव्यावन्तरिक्षेण हि यस्माद् 'विष्टब्धे' विविधमधस्तादुपरिष्टाच्च धारिते, अतोऽन्तरिक्षात्मिका शम्यापि दिवस्कम्भनीरसीति स्तूयते।।16।।

अन्वयः–अथ 'दिवस्कम्भनीरसि इति (मन्त्रेण) उदीचीनाग्रां शम्याम् अन्तरिक्षम् एव रूपेण उपदधाति। हि अन्तरिक्षेण इमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे (स्तः)। तस्मात् दिवस्कम्भनीरसि इत्याह।।16।।

पदार्थः–**अथ** = दृषत् को कृष्णाजिन पर रखने के बाद, **दिवस्कम्भनीरसि** = हे शम्ये! तुम द्युलोक को थामने वाली हो, **इति** = इस मन्त्र द्वारा, **उदीचीनाग्रां** = उत्तर की ओर गर्दन करके, **शम्याम्** = शम्या को, **अन्तरिक्षम्** = दृषत् एवं पृथिवी के बीच अन्तरिक्ष, **रूपेण** = रूप से, **एव** = ही, **उपदधाति** = दृषत् के नीचे रखता है। **हि** = क्योंकि, **अन्तरिक्षेण** = अन्तरिक्ष द्वारा, **इमे** = ये, **द्यावापृथिवी** = द्युलोक एवं पृथिवीलोक (दृषत् द्युलोक तथा मृगचर्म पृथिवी का त्वक्), **विष्टब्धे** = थामा हुआ है। **तस्मात्** = इसलिए, **दिवस्कम्भनीरसि** = द्युलोक को थामने वाली हो (यजु. 1.19), **इत्याह** = यह कहता है।।16।।

रेणु-व्याख्या–हवि पेषण हेतु कृष्णमृग चर्म पर दृषद् रखने के उपरान्त दृषद् के पीछे की ओर नीचे दृषत एवं कृष्णाजिन के मध्य उत्तर की ओर अग्रभाग कर एक

चत्वारोऽष्टकाः शम्या, (शु.सू. 2/5) अर्थात् बत्तीस अंगुल की शम्या को स्थापित करता हुआ अध्वर्यु 'दिवस्कम्भनीरसि' (यजु. 1.19) अर्थात् हे शम्ये! तुम द्युलोक को थामनेवाली हो यह मन्त्रांश पढ़ता है। चूँकि यह शम्या अन्तरिक्ष रूप है, दृषत् द्युलोक है तथा कृष्णमृगचर्म पृथिवीलोक है। द्युलोक एवं पृथिवीलोक के मध्य ही अन्तरिक्षलोक की स्थिति होती है। अतः अन्तरिक्ष के रूप में शम्या को दृषद् एवं मृगचर्म के मध्य स्थापित करता है। ये दोनों लोक (द्युलोक एवं पृथिवी लोक) अन्तरिक्ष द्वारा ही थामे हुए हैं। इसलिए दिवस्कम्भनीरसि अर्थात् तुम द्युलोक को थामने वाली हो यह मन्त्रांश बोलकर शम्या का स्थापन करता है ताकि दृषद् का पृष्ठ भाग ऊँचा एवं अग्रभाग निम्न हो जाए।।16।।

[दृषद उपर्युपलायाः स्थापनम्]

1.2.1.17. (त्य) अथोपलामुपदधाति। धिषणासि पार्व्वतेयी प्रति त्वा पर्वती व्वेत्त्विति कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति तस्मादाह पार्वतेयीति प्रति त्वा पर्व्वती व्वेत्त्विति प्रति हि स्वः सञ्जानीते तत्सञ्ज्ञामेवैतद्दृषदुपलाभ्यां व्वदति नेदन्योऽन्यꣳ हिनसातऽ इति द्यौरेवैषा रूपेण हनूऽ एव दृषदुपले जिह्वैव शम्या तस्माच्छम्यया समाहन्ति जिह्वया हि व्वदति।।17।।

ऋजुपाठः–अथोपलामुपदधाति–"धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु"–(1 अ. 19 मं.) इति। कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति। तस्मादाह पार्वतेयीति। प्रति त्वा पर्वती वेत्त्विति। प्रति हि स्वः संजानीते। तत् संज्ञामेवैतद्दृषदुपलाभ्यां वदति नेदन्योन्यं हिनसात इति। द्यौरेवैषा रूपेण। हनू एव दृषदुपले। जिह्वैव शम्या। तस्माच्छम्यया समाहन्ति। जिह्वया हि वदति।।17।।

सा.भा.–दृषद उपर्युपलायाः स्थापनं समन्त्रकं विधत्ते–**अथेति**। 'पार्वतेयी' शब्दं व्याचष्टे–**कनीयसीत्यादिना**। यस्मादेषोपलाऽतिशयेन दृषदः सकाशादल्पपरिमाणा, अतः 'एषा' दृषदः 'दुहितेव भवति' दुहिता हि लोके मातुरल्पीयसी भवति। तस्मादेषा पर्वत्याः पुत्री 'पार्वतेयी'–इति "स्त्रीभ्यो ढक्" (पा.सू. 4.1.120.) इति ढक्। 'प्रति त्वा पर्वती वेत्तु'–इति मन्त्रशेषेण परस्परहिंसापरिहारार्थं दृषदुपलयोर्मित्रीकरणमर्थ इति व्याचष्टे–**प्रति हीति**। उपर्यवस्थानलक्षणेन रूपेण

'एषा' उपला 'द्यौरेव' द्युलोकात्मिकैवेत्यर्थः। तदेको दृषदुपले समाहन्तीति प्राग् यत्तयोः समाहननं विहितम्, तत्र शम्यायाः प्रसङ्गादुपपादयति—**हनू एवेति।** दृषदुपलयोरुभयत्रावस्थानाद्धनूत्वम्। तन्मध्येऽवस्थानाच्छम्याया जिह्वात्वम्। यस्माच्च जिह्वया लोको वदति तस्माज्जिह्वास्थानीयया शम्ययैव समाहननं कुर्यादित्यर्थः।।17।।

अन्वयः—अथ 'धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु' इति (मन्त्रेण) उपलाम् उपदधाति। हि कनीयसा एषा दुहितेव भवति, तस्मात् पार्वतेयीति प्रति त्वा पर्वती इत्याह। हि स्वः प्रति संजानीते तत्संज्ञाम् एव एतद् दृषदुपलाभ्यां वदति। इत् अन्योन्यं न हिनसात इति एषा (उपला) द्यौः एव, हनू एव रूपेण दृषदुपले जिह्वा शम्या एव तस्मात् शम्यया समाहन्ति हि जिह्वया वदति।।17।।

पदार्थः—**अथ** = दृषद् रखने के बाद, **धिषणासि** = तू धारक है, **पार्वतेयी** = पर्वतावयव है, **प्रति** =भली प्रकार, **त्वा** = तुझे, **पर्वती** = पर्वतावयव दृषद् (सिल), **वेत्तु** = स्वीकार करे (जाने), **इति** = इस मन्त्र से, **उपलाम्** = उपला (लोढ़ी) को, **उपदधाति** = रखता है। **हि** = क्योंकि, **कनीयसा** = लघुरूपा, **एषा** = यह (उपला) लोढ़ी है, **दुहितेव** =जैसे माँ से बेटी छोटी होती है, उसी तरह दृषद् से यह उपला छोटी, **भवति** = होती है, **तस्मात्** = इसलिए, **पार्वतेयी** = पर्वती की पुत्री पार्वतेयी, **प्रति** = भली प्रकार, **त्वा** = तुझको, **पर्वती** = सिल (दृषद्), **वेत्तु** = जाने, **इत्याह** = कहता है। **हि** = क्योंकि, **स्वः** = अपना (अपने को), **प्रति** = अच्छी तरह से, **सञ्जानीते** = सम्यक्तया जानता है, **तत्** = उस, **सञ्ज्ञाम्** = पहचान को, **एव** = ही, **एतत्** = इस, **दृषदुपलाभ्यां** = सिल एवं बट्टे (लोढ़ी) के लिए, **वदति** = बताता है। **इत्** = इससे, **अन्योन्यं** = एक दूसरे को, **न** = नहीं, **हिनसात** = हिंसित करें, **इति** = यह भाव है। **एषा** = यह उपला (लोढ़ी), **द्यौः** = द्युलोक, **एव** = ही है, **हनू** = ये दोनों पाट (सिल एवं बट्टा) ठोढ़ी (जबड़े), **एव** = ही, **रूपेण** = रूप से (द्युलोक के) हैं, **दृषदुपले** = सिल एवं बट्टे, **जिह्वा** = दोनों जबड़ों के मध्य, जीभ रूप यह, **शम्या** = शम्या, **एव** = ही है, **तस्मात्** = इसलिए, **शम्यया** = शम्या से, **समाहन्ति** = दोनों पर समाहनन करते हैं, **हि** = क्योंकि, **जिह्वया** = जीभ से, **वदति** = बोला जाता है।।17।।

रेणु-व्याख्या—कृष्णमृगचर्म पर समन्त्रक दृषद् रखने के बाद 'धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु' (यजु. 1.19) अर्थात् 'तुम धारक हो, पर्वतावयव सिल (पर्वती) की पुत्री हो, वह पर्वती (सिला) तुम्हें भली प्रकार स्वीकार करे यह मन्त्रांश पढ़कर उपला को सिल के ऊपर रखता है क्योंकि यह लोढ़ी आकृति में सिल से छोटी है, जिस प्रकार लोक में माँ से बेटी छोटी ही होती है उसी

प्रकार यह लोढ़ी बेटी की तरह है इसलिए इसे पर्वती जो सिल है उसकी पुत्री पार्वतेयी कहकर सम्बोधित किया गया है। कहता है कि हे पर्वती की पुत्री लोढ़ी (पार्वतयी) पर्वती (पर्वतावयव सिल) तुझे भलीभाँति जाने। क्योंकि अपने को अपना जानकर ही उसके साथ अपनत्व का व्यवहार किया जा सकता है। सम्बन्ध ज्ञान के अभाव में अपना भी पराया ही बना रहता है इसलिए इन सिल एवं लोढ़ी के बीच की पहचान को ही इसके द्वारा बताता है जिससे ये दोनों परस्पर एक दूसरे की हिंसा न करें। यह उपला द्युलोक स्वरूपा ही है, ये दोनों सिल एवं बट्टे द्युलोक के दोनों जबड़े के रूप में यहाँ उपलक्षित हैं तथा शम्या जिह्वा रूप है। क्योंकि जिह्वा से ही वाणी को स्पष्ट बोला जाता है इसलिए शम्या से ही दृषद् एवं उपला पर समाहनन कर कुक्कुटवाणी को उत्पन्न किया जाता है।।17।।

[पेषणार्थं दृषद उपरि तण्डुलप्रक्षेपः]

1.2.1.18. (त्य) अथ हविरधिवपति। धान्यमसि धिनुहि देवानिति धान्य ँ हि देवान्धिनवदित्यु हि हविर्गृह्यते।।18।।

ऋजुपाठः–अथ हविरधिवपति–"धान्यमसि धिनुहि देवान्–"–(1 अ. 20 मं.) इति। धान्यं हि देवान् धिनवदित्यु हि हविर्गृह्यते।।18।।

सा.भा.–अथ पेषणार्थं दृषद उपरि समन्त्रकं तण्डुलप्रक्षेपं विधत्ते–**अथ हविरिति।** मन्त्रगतधान्यशब्दस्याभिप्रायमाह–**देवान् धिनवदिति।** "धिवि प्रीणनार्थः" (भ्वा. प. 594) इति धातुः। यष्टव्यानग्न्यादिदेवान् 'धिनवत्' प्रीणयेदित्यनेनैवाभिप्रायेण हि हविर्गृह्यते, अतो धिनोति प्रीणयतीति 'धान्यम्'। यत एवमतो देवान् धिनुहीति मन्त्रार्थः।।18।।

अन्वयः–अथ धान्यमसि धिनुहि देवान् इति हविः आवपति। हि धान्यं देवान् धिनवत् (प्रीणयेत्) इति उ हि हविः गृह्यते।।18।।

पदार्थः–**अथ** = दृषद् के ऊपर उपला को रखने के बाद, **धान्यमसि** = तुम धान्य हो, **धिनुहि** = तृप्त करनेवाले हो, **देवान्** = देवताओं को, **इति** = इस मन्त्रांश से, **हविः** = हवि (तण्डुल) को, **आवपति** = (सिल पर) रखता है, **हि** = क्योंकि, **धान्यं** = धान्य, **देवान्** = याग किये जाने वाले देवताओं को, **धिनवत्** = तृप्त करे, **इति** = इस अभिप्राय से, **उ** = निश्चयपूर्वक, **हि** = ही, **हविः** = हवि को, **गृह्यते** = लिया जाता है।।18।।

रेणु-व्याख्या–सिल पर बट्टा रखने के उपरान्त 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' (यजु. 1.20) अर्थात् 'तुम धान्य हो देवताओं को तृप्त करो' इस मन्त्रांश से

ऊखल मुसल द्वारा पहले (माश-1.1.4.10) से कूटे हुए व्रीहि के तण्डुल को दृषद् पर पीसने के लिए रखता है। चूँकि धान्य याग किए जाने वाले देवताओं को तृप्त करे इस अभिप्राय से ही निश्चय हवि का ग्रहण किया जाता है।।18।।

[हविषः पेषणम्]

1.2.1.19. (तेऽथ) अथ पिनष्टि। प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धामिति प्रोहति देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वेति।।19।। (शतम् 100)

ऋजुपाठः–अथ पिनष्टि–"प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धाम्"–(1 अ. 20 मं.)। इति। प्रोहति–"देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा"–(1 अ. 10 मं.) इति।।19।।

सा.भा.–समन्त्रकं पेषणं विधत्ते–**अथेति**। 'पिनष्टि' संचूर्णयति। "पिष्लृ संचूर्णने" (रु.प. 15) इति धातुः। प्रकर्षेण–अनिति चेष्टत इति नासिकाभ्यां बहिर्निर्गच्छन्–श्वासरूपो वायुः 'प्राणः'। 'उत्' ऊद्ध्वादधोदेशं प्रत्यनिति चेष्टत इति नासिकाभ्यां बहिर्निर्गच्छन्–श्वासरूपो वायुः। अन्नपानादिरसं विविधं सर्वासु नाडीष्वनिति प्रेरयतीति 'व्यानः'; ऊद्ध्वावाङ्वृत्तिविलक्षणो मध्यवृत्तिर्वायुः। एतन्मन्त्रार्थ उत्तरमन्त्रसापेक्ष इति तदुभयं समुच्चित्य व्याख्यातुमुत्तरमन्त्रं विनियुङ्क्ते–**प्रोहति देवो व इति**। अनेन मन्त्रेण कृष्णाजिने प्रक्षिपतीत्यर्थः। यत्तु प्रकारान्तरेण कात्यायनेन सूत्रप्रणयनम् तद् ब्राह्मणान्तरमूलम्। स ह्येवं सूत्रयामास–"पिनष्टि प्राणाय त्वेति प्रतिमन्त्रम्", "दीर्घामिति कृष्णाजिने प्रोहति", "चक्षुषे त्वेतीक्षते" (श्रौ.सू. 2. 127-128-129) इति।।19।।

अन्वयः–अथ 'प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धाम्' इति (मन्त्रेण) पिनष्टि। 'देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा' इति (मन्त्रेण) प्रोहति।।19।।

पदार्थः–**अथ** = दृषद् पर तण्डुल रखने के बाद, **प्राणाय** = प्राण के लिए, **त्वा** = तुझे, **उदानाय** = उदान के लिए, **त्वा** = तुझे, **व्यानाय** = व्यान के लिए, **त्वा** = तुझे, **दीर्घाम्** = बड़ी, **अनुप्रसितिम्** = अनुशासन को (प्रकृष्ट बन्धन की साधनभूत को), **आयुषे** = जीवन के लिए, **धाम्** = धारण करता हूँ, **इति** = इस मन्त्र से, **पिनष्टि** = चावल को पीसता है (आटा बनाता है)। तत्पश्चात् **देवः** =

देवता, **वः** = तुम्हें, **सविता** = सबके प्रेरक, **हिरण्यपाणिः** = सुवर्ण के समान ज्योतिर्मय हाथों वाले, **प्रतिगृभ्णातु** = ग्रहण करें, **अच्छिद्रेण** = छिद्ररहित, **पाणिना** = हाथ से, **चक्षुषे** = नेत्रों के लिए, **त्वा** = तुम्हें (देखें), **इति** = इस मन्त्र से, **प्रोहति** = कृष्णाजिन पर आटा को रखता है।।19।।

रेणु-व्याख्या—दृषद् के ऊपर तण्डुल रखने के बाद उसे उपला (लोढ़ी) से पीसने के लिए 'प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धाम्' (यजु. 1.20) अर्थात् नासाछिद्रों से बाहर जाते हुए श्वासरूप वायु प्राण, शरीर के अन्दर ऊपर से नीचे तक चेष्टा करनेवाले वायु उदान तथा नासिका द्वारा पुनः शरीर में प्रवेश करनेवाले एवं अन्नपानादि के रसों को समस्त शरीर में सभी नाड़ियों में प्रेरित करनेवाले वायु व्यान कहलाते हैं। इन तीनों प्राण, उदान एवं व्यान वायुओं के लिए तथा यजमान के दीर्घ एवं अनुशासित जीवन के लिए हे हवि! मैं तुम्हारा पेषण करता हूँ। इस मन्त्रांश से हवि का पेषण करता है। पीसकर आटा बनाये हुए हवि को पुनः कृष्णमृगचर्म पर रखने के लिए 'देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना' (यजु. 1.20) अर्थात् सबके प्रेरक सविता देवता अपने सुवर्णमय (ज्योतिर्मय) हाथों से तुम्हें ग्रहण करें यह मन्त्रांश पढ़कर पीसे हुए आटा को मृगचर्म पर रखता है। मृगचर्म पर स्थापित पीसे हुए हवि को देखते हुए "चक्षुषे त्वा" (यजु. 1.20) अर्थात् 'आँखों की रम्यता के लिए तुम्हें देखता हूँ' इस मन्त्रांश को पढ़कर हवि का अवलोकन करता है।।19।।

1.2.1.20. तद्यदेवं पिनष्टि। जीवं वै देवानाꣳ हविरमृतममृतानामथैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्याꣳ हविर्यज्ञं घ्नन्ति।।20।।

ऋजुपाठः—तद्यदेवं पिनष्टि। जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम्। अथैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञं घ्नन्ति।।20।।

सा.भा.—प्राणायेति मन्त्रस्याभिप्रायमाविष्कर्तुमुक्तं पेषणमनुवदति—**तद्यदिति**। 'अमृतानां मरणरहितानां देवानां, हविः 'जीवम्' प्राणधारणं युक्तमेव सत् 'अमृतम्' मरणसाधनं न भवति। अथैवं सत्येतद्यज्ञसाधनं हविरवहननपेषणाभ्यामृत्विजो मारयन्ति। तथा सति निर्जीवत्वात् तस्यामृतत्वसाधनत्वं न युक्तमिति भावः।।20।।

अन्वयः—तत् एवं यत् पिनष्टि, जीवं वै देवानां हविः, अमृतानाम् अमृतम् अथ उलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यां एतत् हविर्यज्ञं घ्नन्ति।।20।।

पदार्थः—**तत्** = उस हवि को, **एवं** = इस प्रकार, **यत्** = जो, **पिनष्टि** = पीसता है, **जीवं** = जीवन, **वै** = ही, निश्चित रूपेण, **देवानां** = देवताओं का, **हविः** = हवि है, **अमृतानाम्** = अमरणधर्माणशीलों का यह, **अमृतम्** = अमृत ही है, **अथ** = इसलिए, **उलूखलमुसलाभ्यां** = ओखली एवं मुसल से, **दृषदुपलाभ्यां** = सिल एवं बट्टे से, **एतत्** = इस, **हविर्यज्ञं** = हविरूप यज्ञ का, **घ्नन्ति** = हनन करते हैं।।20।।

रेणु-व्याख्या—पुरोडाश निर्माणार्थ गृहीत हवि को जो इस प्रकार 'प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा' मन्त्र से प्राणोदानव्यानात्मक वायु के रूप में सम्बोधित कर पीसता है उसका हेतु स्पष्ट करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—जीवन ही देवताओं का निश्चयरूप से हवि है, अतः देवता जीवितों का भक्षण करते हैं और यह अमरण धर्म वाले देवताओं का अमृत हवि है। इसलिए इस यज्ञरूप हवि का हनन उलूखल मुसल एवं दृषद् उपल द्वारा किया जाता है। यज्ञरूप हवि को अवहनन एवं पेषण द्वारा ऋत्विज लोग मारते हैं अर्थात् उसके जीवत्व को नष्ट कर देवत्व गुण से युक्त करते हैं।।20।।

[मृते हविषि मन्त्रेण प्राणस्थापनविधिकथनम्]

1.2.1.21. स यदाह। प्राणाय त्वोदानाय त्वेति तत्प्राणोदानौ दधाति व्यानाय त्वेति तद्व्यानं दधाति दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धामिति तदायुर्द्दधाति देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीतान्यसन्निति चक्षुषे त्वेति तच्चक्षुर्द्दधात्येतानि वै जीवतो भवन्त्येवमु हैतज्जीवमेव देवानाꣳ हविर्भवत्यमृतममृतानां तस्मादेवं पिनष्टि पिꣳषन्ति पिष्टान्यभीन्धते कपालानि।।21।।

ऋजुपाठः—स यदाह—प्राणाय त्वोदानाय त्वेति, तत्प्राणोदानौ दधाति। व्यानाय त्वेति, तद् व्यानं दधाति। दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धामिति, तदायुर्दधाति। देवो वः सविता। हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना, सुप्रतिगृहीतान्यसन्निति। चक्षुषे त्वेति, तच्चक्षुर्दधाति। एतानि वै जीवतो भवन्ति। एवमु हैतज्जीवमेव देवानां हविर्भवत्यमृतममृतानाम्। तस्मादेवं पिनष्टि। पिंषन्ति पिष्टानि, अभीन्धते कपालानि।।21।।

सा.भा.—मन्त्रप्रयोगेणास्य परिहारं दर्शयति—**स यदाहेति**। पेषणसमये प्राणाय त्वेत्यादिमन्त्रं प्रयुञ्जानः प्राणादीनेव पुनरस्मिन् हविषि स्थापयतीत्यर्थः। गतमन्यत्।

एतानि वै जीवत इत्यादि। 'एतानि' प्राणोदानधारणादीनि 'जीवतः' पुरुषस्य लिङ्गानि। 'एवम्' अनेन मन्त्रप्रयोगेण प्राणोदानादिस्थापने सति हविरपि सजीवमेवेति युक्तं तस्यामृतत्वसाधनमित्यभिप्रायः। **पिंषन्तीति**। एवं समन्त्रकमध्वर्युणा पेषणे कृते सति यजमानपरिचारिका अवशिष्टं सर्वं चूर्णीकुर्युः। तथोपहितानि च कपालानि 'अभीन्धते' अङ्गारैः प्रदीप्तानि कुर्युरित्यर्थः।।21।।

अन्वयः—स यत् प्राणाय त्वा उदानाय त्वा इति आह; तत्प्राणोदानौ दधाति, यद्व्यानाय त्वा इत्याह तद् व्यानं दधाति, यत् दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धाम् इत्याह, तदायुर्द्धाति, यत् देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णातु अच्छिद्रेण पाणिना इत्याह तत् सुप्रतिगृहीतान्यसन् इति, यत् चक्षुषे त्वेत्याह तत् चक्षुर्द्धाति इति, एतानि जीवतो वै भवन्ति, एवम् ह एतत् उ जीवमेव देवानां हविः भवति अमृतम् अमृतानां तस्मादेवं पिनष्टि। पिष्टानि पिंषन्ति कपालानि अभीन्धते।।21।।

पदार्थः—**सः** = वह, **यत्** = जो, **प्राणाय** = प्राण के लिए, **त्वा** = तुम्हें, **उदानाय** = उदान के लिए, **त्वा** = तुम्हें (पीसता हूँ), **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है, **तत्** = उस कथन द्वारा, **प्राणोदानौ** = प्राण और उदान को, **दधाति** = हवि में पुनः स्थापन करता है। **यत्** = जो, **व्यानाय** = व्यान के लिए, **त्वा** = तुम्हें, **इत्याह** = ऐसा कहता है, **तद्** = उसके द्वारा, **व्यानं** = व्यान वायु को, **दधाति** = हवि में स्थापित करता है। **यत्** = जो, **दीर्घामनुप्रसितिमायुषे** = अनुशासित दीर्घायुष्य के लिए, **धाम्** = धारण करता हूँ, **इत्याह** = ऐसा कहता है, **तत्** = उससे, **आयुर्दधाति** = आयु को स्थापित करता है, **यत्** = जो, **देवो** = देव, **वः** = तुम्हें, **सविता** = सबके प्रेरक, **हिरण्यपाणिः** = सोने के समान ज्योतिर्मय हाथों वाले, **प्रतिगृभ्णातु** = ग्रहण करें, **अच्छिद्रेण** = छिद्ररहित, **पाणिना** = हाथों से, **इत्याह** = ऐसा कहता है, **तत्** = उससे, **सुप्रतिगृहीतानि** = सुष्ठुतया प्रीतिपूर्वक ग्रहण किये हुए, **असन्** = हों, **इति** = इस भाव से कहता है। **यत्** = जो, **चक्षुषे** = नेत्र के लिए, **त्वा** = तुम्हें, **इत्याह** = ऐसा कहता है, **तत्** = उससे, **चक्षुर्दधाति** = चक्षु उसमें स्थापित करता है, **इति** = ऐसा जानना चाहिए। **एतानि** = ये हवि, **जीवतो** = सजीव (पौष्टिक), **वै** = ही, **भवन्ति** = होते हैं, **एवम्** = इस प्रकार, **ह** = प्रसिद्ध, **एतत्** = ये हवियाँ, **उ** = निश्चय, **जीवमेव** = सजीव रूप से ही, **देवानां** = देवताओं की, **हविः** = हवि, **भवति** = होती है, **अमृतम्** = अमरत्व गुण युक्त, **अमृतानाम्** = अमरण धर्माणशीलों के लिए होती है, **तस्मात्** = इसलिए, **एवम्** = इस प्रकार, **पिनष्टि** = पीसता है। **पिष्टानि** = चूर्ण को, **पिंषन्ति** = पीसते हैं, **कपालानि** = कपालों को, **अभीन्धते** = सर्वतोभावेन दीप्त करते हैं।।21।।

रेणु-व्याख्या—वह (अध्वर्यु) जो प्राण और उदान के लिए तुम्हें पीसते हैं ऐसा कहता है इस कथन द्वारा मृत हवि में मन्त्र बल (मन्त्रशक्ति) से प्राण एवं उदान वायु को स्थापित करता है। यह जो कहता है कि व्यान के लिए, इससे हवि में व्यान सर्वशरीरगमनकर्त्ता वायु को स्थापित करता है। यह जो कहता है कि अनुशासित एवं दीर्घायुष के लिए तुम्हें पीसता हूँ ऐसा कथन द्वारा उस हवि में आयु का स्थापन करता है। पुनः यह जो कहता है कि सबके प्रेरक देव सविता अपने सुवर्णमय छिद्ररहित हाथों से ग्रहण करें इससे हवि सुष्ठुतया प्रीतिपूर्वक ग्रहण किए हुए हों यह भाव व्यक्त करता है तथा चक्षुषे त्वा इस कथन द्वारा उसमें चक्षु स्थापित करता है। ताकि यह हवि पूर्ण रूप से मन्त्रशक्ति द्वारा देवताओं के निमित्त पुनः जीवित हो जाए। इस प्रकार अवहनन एवं पेषण कर्म द्वारा मृत हवि देवताओं के लिए सजीव रूप से ही निश्चय रूप से उपस्थित होते हैं, क्योंकि मृत्युरहितों की हवि अमृत (सजीव) ही होती है। इसलिए ही इन मन्त्रों के प्रयोग द्वारा हवि को पीसते हैं। ध्यातव्य हो कि हवि को पीसते हैं तथा कपालों को सर्वतोभावेन दीप्त करते हैं। फलतः मृत हवि में मन्त्र शक्ति द्वारा पुनर्जीवन स्थापित किया जाता है।।21।।

[पेषणकाल एवाज्यनिर्वापविधानम्।]

1.2.1.22. (न्य) अथैकऽआज्यं निर्वपति। यद्वा ऽआदिष्टं देवतायै हविर्गृह्यते यावद्देवत्यं तद्भवति तदितरेण यजुषा गृह्णाति। न वा एतत्कस्यैचन देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति यदाज्यम्। तस्मादनिरुक्तेन यजुषा गृह्णाति महीनां पयोऽसीति मह्य इति ह वा ऽएतासामेकं नाम यद्गवां तासां वा ऽएतत्पयो भवति तस्मादाह महीनां पयोऽसीत्येवमु हास्यैतत्खलु यजुषैव गृहीतं भवति तस्माद्वेवाह महीनां पयोऽसीति।।22।।1।।

इति प्रथमप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम्।।2।।1।।

ऋजुपाठः—अथैक आज्यं निर्वपति। यद्वा आदिष्टं देवतायै हविर्गृह्यते—यावद्देवत्यं तद् भवति। तदितरेण यजुषा गृह्णाति। न वा एतत्कस्यैचन देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति—यदाज्यम्। तस्मादनिरुक्तेन यजुषा गृह्णाति—"महीनां पयोऽसि"—(1 अ. 20 मं.) इति। मह्य इति ह वा एतासामेकं नाम—यद् गवाम्। तासां वा एतत् पयो भवति। तस्मादाह—महीनां पयोऽसीति। एवमु हास्यैतत् खलु यजुषैव गृहीतं भवति। तस्माद्वेवाह—महीनां पयोऽसीति।।22।।

सा.भा.–पेषणसमय एवाज्यस्य निर्वापं विधत्ते–**अथैक इति।** यदा चाध्वर्युः पिनष्टि 'अथ' तस्मिन्नेव समये 'एकः' अन्य आग्नीध्रादिराज्यं निर्वपति। अत एव सूत्रकृता पेषणाज्यनिर्वापयोः समसमयवर्तित्वं सूत्रितम्–"पिष्यमाणेषु निर्वपत्यन्यो महीनामित्याज्यम्" (श्रौ.सू. 2.130)–इति। तच्चाज्यं प्रसिद्धदेवतावाच्यग्न्यादिशब्दरहितेन मन्त्रेण ग्रहीतव्यमिति विधित्सुराह–**यद्वा** इति। 'यत्' खलु हविः "अग्नये जुष्टं गृह्णामी" त्येवं देवतायै निर्दिष्टं भवति, 'तद्' ग्रहणसाधनं यजुश्च यावद्देवत्यं भवति, तावद्देवत्यमेव 'तत्' हविर्भवति। आज्यं च सर्वदेवतासाधारणमिति देवतादेशनरहितेनैव यजुषा गृह्णीयादित्यर्थः। तथा चाज्यस्य सर्वदेवतासाधारण्यं सेत्स्यतीत्याह–**न वा** इति। एवमनिरुक्तयजुषा ग्रहणमुपपाद्य तद् विधत्ते–**तस्मादिति।** देवतानाम निःशेषेणोक्तं यस्मिन् तत् निरुक्तम्, तद्विलक्षणमनिरुक्तम्। तादृशं च "महीनामित्यादि यजुः", तत्र प्रसिद्धदेवतावाचिपदस्यानुपलम्भात्॥

अथैतन्मन्त्रं व्याचष्टे–**मह्य** इति। "मह पूजायाम्" (भ्वा.प. 731)–मह्यन्ते पूज्यते इति 'मह्यः' एतच्च 'एतासां' गवाम् 'एकं' साधारणं नाम। आज्यस्य पयःकार्यत्वात् 'पयोऽसीति' विकारे प्रकृतिशब्द इत्यर्थः। ग्रहीतव्याज्यप्रकाशकत्वात् 'असि'–मन्त्रः प्रयोक्तव्य इत्याह–**एवमु** हेति। 'एवम्' अनेनैव मन्त्रेणाज्ये निरुक्ते सति तस्य तत्प्रकाशनसमर्थत्वात्। यजुषैव 'तत्' आज्यं गृहीतं भवतीत्यर्थः॥22॥1(2.1)॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे माध्यन्दिनशतपथभाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्॥

अन्वयः–अथ एकः (आग्नीध्रः) आज्यं निर्वपति। यद् वै देवतायै आदिष्टं हविः गृह्यते तद् यावत् देवत्यं भवति तत् इतरेण यजुषा गृह्णाति, न वै कस्यैचन देवतायै एतत् हविर्गृह्णन् आदिशति, तस्मात् अनिरुक्तेन यजुषा, 'महीनां पयोऽसि' इति (मन्त्रेण) यत् आज्यं गृह्णाति, मह्य इति वै एतासां ह एकं नाम, यत् (यस्मात्) तासां गवां वै एतत् पयो भवति, तस्मात् 'महीनां पयोऽसि' इति आह। एवम् उ ह असि, एतत् खलु यजुषैव गृहीतं भवति, तस्माद्वा 'महीनां पयोऽसि' इत्याह॥22॥

पदार्थः–**अथ** = इसके बाद, पेषण के समय आज्यनिर्वाप की विधि को कहते हैं, **एकः** = आग्नीध्र नामक एक ऋत्विक्, **आज्यं** = घृत को, **निर्वपति** = स्थालीपात्र में रखता है। **यद्** = जिस, **वै** = ही, **देवतायै** = देवता के लिए, **आदिष्टं** = नाम निर्देश पूर्वक, **हवि** = हवि का, **गृह्यते** = ग्रहण किया जाता है, **तद्** = वह, **यावत्** = जितने, **देवत्यं** = देवताओं के निमित्त, **भवति** = होता

है, **तत्** = वह हवि, **इतरेण** = दूसरे, **यजुषा** = यजु के द्वारा, **गृह्णाति** = ग्रहण करता है, **किन्तु न** = नहीं, **वै** = ही, **कस्यैचन** = किसी भी, **देवतायै** = देवता विशेष के लिए, **एतत्** = इस, **हविः** = हवि को, **गृह्णन्** = लेते हुए, **आदिशति** = नाम निर्देश करता है, (क्योंकि यह सबकी हवि है), **तस्मात्** = इसलिए, **अनिरुक्तेन** = अनादिष्ट देवताक, **यजुषा** = यजु (मन्त्र) से, **महीनां** = गायों के, **पयोऽसि** = तुम दूध हो, **इति** = इस मन्त्र से, **यत्** = जो, **आज्यं** = घृत को, **गृह्णाति** = ग्रहण करता है, सो, **मह्य** = पूजनीय (गाय), **इति** = यह, **वै** = निश्चितरूप से, **एतासां** = इन गायों का, **ह** = प्रसिद्ध, **एकं** = एक, **नाम** = नाम है। **यत्** = जिस कारण, **तासां** = उन, **गवां** = गायों के, **वै** = ही, **एतत्** = ये, **पयः** = दूध, **भवति** = होते हैं, **तस्मात्** = इसलिए, **महीनां** = पूजनीय गायों के, **पयोऽसि** = तुम दूध हो, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है। **एवम्** = इस प्रकार, **उ** = निश्चयपूर्वक, **ह** = प्रसिद्ध, **असि** = हो, **एतत्** = यह, **खलु** = निश्चित रूप से, **यजुषैव** = यजुर्मन्त्र द्वारा ही, **गृहीतं** = ग्रहण किया गया, **भवति** = होता है, **तस्मात्** = इसलिए, **महीनां** = पूजनीय गायों के, **पयोऽसि** = तुम दूध हो, **इत्याह** = ऐसा कहता है।।22।।

रेणु-व्याख्या—हविपेषण के समय आज्य निर्वाप करने की विधि को बतलाते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पेषण (आटा पीसने का कार्य) सम्पन्न करते समय ही दूसरा ऋत्विक् (चूँकि अध्वर्यु पेषण कर्म करता है तो दूसरा आग्नीध्र ही होगा इसलिए) आग्नीध्र नामक ऋत्विक् आज्य (प्रतपनावेक्षणादि द्वारा संस्कृत घृत) को स्थालीपात्र में स्थापित करता है। आज्य स्थापन के सम्बन्ध में विचार करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यद्यपि आज्य भी हवि ही है, तो क्या हविग्रहण (माश-1.1.2.17) पूर्वोक्त की तरह ही यहाँ भी आदिष्ट देवताक हवि ग्रहण करेगा? क्योंकि जिस देवता के निमित्त हवि का ग्रहण किया जाता है, वह हवि उसी देवता को दी जाती है। तो इस पर ऋषि कहते हैं कि "एतत् कस्यैचन देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति" अर्थात् यह आज्य रूप हवि किसी देवता विशेष को निर्दिष्ट कर नहीं ग्रहण किया जाता है। अतः सामान्य यजुर्वेदीय मन्त्र जो अनिर्दिष्ट देवताक है उसको 'महीनां पयोऽसि' (यजु. 1.20) पढ़कर आज्य ग्रहण किया जाता है। इस मन्त्र में यह कहा गया है कि 'हे आज्य! तुम पूजनीय गायों के दूध से बने हुए हो अर्थात् गायों के दूध हो। चूँकि 'गावो विश्वस्य मातरः' (वि.धर्मो पुराण 2.42.2) गाय विश्व की माता है, और माता का महत्त्व बतलाते हुए मनु महाराज ने कहा है कि—"सहस्रन्तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते" (मनुस्मृति 2.

145) अर्थात् पिता से हजारों गुणा अधिक गुरुतर माता होती है इसलिए माता सबसे अधिक पूजनीय है। इस प्रकार 'मह्य' शब्द का अर्थ पूजनीय होता है और पूजनीय यह गाय ही है जो विश्व की माता है। "मह्यऽइति वा एतासामेकं नाम" इस ब्राह्मण वचन से गाय का एक नाम मह्य है। उस गाय के दूध से यह आज्य रूप हवि तैयार होता है इसलिए 'महीनां पयोऽसि' गाय के दूध हो ऐसा कहकर इसी यजुर्वेदीय मन्त्र से आज्य का ग्रहण किया जाता है। इसलिए आज्य ग्रहण करते समय अनिरुक्त देवताक मन्त्र 'महीनां पयोऽसि' का प्रयोग विहित किया गया है।।22।।

इस प्रकार माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के
द्वितीयाध्याय के प्रथम ब्राह्मण की रेणु हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।।

प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्।

[पात्र्यां पिष्टसंवापः]

1.2.2.1. पवित्रवति संव्वपति। पात्र्यां पवित्रेऽअवधाय देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याᳬंसंव्वपामीति सोऽसावेवैतस्य यजुषो बन्धुः॥1॥

ऋजुपाठः—पवित्रवति संवपति, पात्र्यां पवित्रेऽअवधाय—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याᳬंसंव्वपामि"—(1 अ. 21 मं.) इति। सोऽसावेवैतस्य यजुषो बन्धुः॥1॥

सा.भा.—अथ पिष्टानां पिण्डकरणार्थं पात्र्यां संवापं विधत्ते—**पवित्रवतीति।** सामान्योपक्रमान्नपुंसकनिर्देशः। पवित्रयुक्ते पात्रे—इत्यर्थः। तदेव विवृणोति—**पात्र्यां पवित्रेऽअवधायेति। सोऽसावेवैतस्येति।** सविता वै देवानां प्रसवितेत्यादिना ग्रहणप्रकरणे प्रागाम्नात एव वाक्यशेषोऽस्यापि यजुषः शेषत्वेन योजनीय इत्यर्थः॥1॥

अन्वयः—पात्र्यां पवित्रे अवधाय 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां संवपामि' इति (मन्त्रेण) पवित्रवति (पात्र्यां) संवपति सः असौ एव एतस्य यजुषो बन्धुः॥1॥

पदार्थः—**पात्र्यां** = पात्री में, **पवित्रे** = दो कुश-पवित्र, **अवधाय** = रखकर, **देवस्य** = देव की, **त्वा** = तुझे, **सवितुः** = सविता की, **प्रसवे** = आज्ञा से, **अश्विनोः** = दोनों अश्विनी एवं कुमारों के, **बाहुभ्यां** = बाहु (भुजा) ओं से **पूष्णः** = पूषादेव के, **हस्ताभ्यां** = हाथों से, **संवपामि** = रखता हूँ, **इति** = इस मन्त्र से, **पवित्रवति** = दो कुश-पवित्रों से युक्त, **पात्र्यां** = पात्री में, **संवपति** = पीसे हुए हवि को रखता है। **सः** = वह (अध्वर्युः)। **असौ** = यह, **एव** = ही, **एतस्य** = इस, **यजुषो** = यजु का, **बन्धुः** = प्रयोजन है॥1॥

रेणु-व्याख्या—अध्वर्यु पीसे हुए आटा को गूँथने के लिए उसे पात्री में रखने हेतु सबसे पहले पात्री में दो कुश-पवित्र रखता है, कुशपवित्र रखकर हे पिष्ट

(आटा)! सविता देवता की आज्ञा से अश्विनीकुमारों की भुजाओं से तथा पूषा देव के हाथों से तुम्हें यहाँ रखता हूँ इस भाव से 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां संवपामि (यजु. 1.21) इस मन्त्र का उच्चारण कर पवित्रयुक्त पात्री में तण्डुल चूर्ण को रखता है। यह कर्म ही इस यजु के उच्चारण का मुख्य प्रयोजन है।।1।।

1.2.2.2. (र) अथान्तर्व्वेद्युपविशति। (त्य) अथैकऽउपसर्जनीभिरैति ताऽआनयति ताः पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति समापऽओषधीभिरिति सꣳ ह्येतदाप ओषधिभिरेताभिः पिष्टाभिः सङ्गच्छन्ते समोषधयो रसेनेति सꣳ ह्येतदोषधयो रसेनैताः पिष्टाऽअद्भिः सङ्गच्छन्तऽआपो ह्येतासाꣳ रसः सꣳ रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्तामिति रेवत्यऽआपो जगत्यऽओषधयस्ता उ ह्येतदुभय्यः सम्पृच्यन्ते सम्मधुमतीर्म्मधुमतीभिः पृच्यन्तामिति सꣳरसवत्यो रसवतीभिः पृच्यन्तामित्येवैतदाह।।2।।

ऋजुपाठः–अथान्तर्वेद्युपविशति। अथैक उपसर्जनीभिरैति। ता आनयति ताः पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति–**"समाप ओषधीभिः"**–(1 अ. 21 मं.) इति। सं ह्येतदाप ओषधिभिरेताभिः पिष्टाभिः सङ्गच्छन्ते। **"समोषधयो रसेन"**–(1 अ. 21 मं.) इति। सं ह्येतदोषधयो रसेनैताः पिष्टा अद्भिः सङ्गच्छन्ते। आपो ह्येतासां रसः। **"सꣳरेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताम्"**–(1 अ. 21 मं.) इति। रेवत्य आपः, जगत्य ओषधयः; ता उ ह्येतदुभय्यः सम्पृच्यन्ते। **"सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्"**–(1 अ. 21 मं.) इति। सं रसवत्यो रसवतीभिः पृच्यन्तामित्येवैतदाह।।2।।

सा.भा.–अथान्तर्वेदीति। यद्याहवनीये हविःश्रपणं गार्हपत्ये वा, उभयथापि वेदिमध्ये–उपविशेदित्यर्थः। कात्यायनस्तु ब्राह्मणान्तराभिप्रायेण विकल्पमाह–"श्रपणस्य पश्चादुपविशत्यन्तर्वेदि वा" (श्रौ.सू. 2.132.) इति। **अथैक** इति। 'एकः' अन्य आग्नीध्रादिः। उपसृजत्याभिरिति व्युत्पत्त्या पिष्टसंसर्जनार्था आपः "उपसर्जन्यः" ताभिः सहागच्छेदित्यर्थः। अथ तासां तूष्णीमासेचनं विधत्ते–**वा आनयतीति। ताः पवित्राभ्यामित्यादि**। आनीयमानाः 'ताः' "समाप" इति मन्त्रेण पिष्टानामुपरि पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णीयादित्यर्थः। मन्त्रतात्पर्यमाह–**सं ह्येतदिति**। 'एतत्' एतर्हि, एता

आनीयमानाः 'आपः' पिष्टरूपेणावस्थिताभिः 'ओषधिभिः' सङ्गच्छन्ते। अतो मन्त्रगतौषधिशब्देन तद्विकाराः पिष्टा विवक्षिताः। समित्युपसर्गश्रवणाद् योग्यक्रियाध्याहार इत्यर्थः। एवमपामोषधिभिः सङ्गतिं प्रतिपाद्य, व्यतिहारेणोषधीनामद्भिः सङ्गतिः प्रतिपाद्यत इति व्याचष्टे–**समोषधय** इति। पूर्ववदत्राप्योषधिशब्दः पिष्टपरः, रसशब्देन चापो विवक्षिता इत्याह–**एताः पिष्टा अद्भिरिति।** आपो हीति। उपष्टम्भकाप्यावयवयुक्ताः खल्वोषधय आर्द्रा रसवत्यो भवन्ति, अतस्तासामुदकमेव रस इत्यर्थः। मन्त्रगतरेवतीशब्दस्यार्थमाह–**रेवत्य आप** इति। रयिर्धनमासामस्तीति रेवत्य आपः। धनमूलत्वं च तासां नदीतटाकादिष्ववस्थितानां प्रसिद्धम्। आर्द्रा रसवत्यो भवन्ति, अतस्तासामुदकमेव रस इत्यर्थः मन्त्रगतरेवतीशब्दस्यार्थमाह–**रेवत्य आप इति।** अतो मन्त्रे रेवतीशब्देनापो विवक्षिताः। "रयेर्मतौ बहुलम्" (पा.सू. 6.134) इति सम्प्रासरणे "उगितश्च" (पा.सू. 4.1.46.) इति ङीप्। गम्यन्ते, सर्वैः प्राणिभिः प्राप्यन्त इति व्युत्पत्त्या जगतीशब्दोऽप्योषधिवाचक इति व्याचष्टे–**जगत्य** इति। **सम्मधुमतीरित्यादि।** अत्र मधुशब्देन माधुर्यरसो विवक्षित इत्याह–**सꣳरसवत्य** इति।।2।।

अन्वयः–अथ अन्तर्वेदि उपविशति। अथ एक (आग्नीध्रः) उपसर्जनीभिः एति, ता आनयति ताः समाप ओषधीभिः इति (मन्त्रेण) पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति, हि एतत् आपः सम् ओषधिभिः एताभिः पिष्टाभिः 'समोषधयो रसेन' इति (मन्त्रेण) संगच्छन्ते, हि एतत् ओषधयो सं रसेन, एताः पिष्टा अद्भिः संगच्छन्ते, हि आप एतासां रसः, 'सꣳरेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताम्' इति (मन्त्रेण)। रेवत्य आपो, जगत्य ओषधयः, ता 'सम्मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्' इति (मन्त्रेण) एतत् उभय्यो हि सम्पृच्यन्ते, एतत् रसवत्यो रसवतीभिः (सह) सम्पृच्यन्ताम् इत्याह।।2।।

पदार्थः–**अथ** = पात्री में हवि रखने के बाद, **अन्तर्वेदि** = (अध्वर्यु) वेदि के अन्दर, **उपविशति** = बैठता है। **अथ** = और, **एकः** = एक ऋत्विक् (आग्नीध्र), **उपसर्जनीभिः** = (आटा को गूँथने (सानने) के लिए) उपसर्जनीनामक घड़े के जलों के साथ, **एति** = आता है, **ता** = उन जलों को, **आनयति** = लेकर आता है, **ताः** = उनको, **समाप** = सम्यकतया जल, **औषधीभिः** = ओषधियों के साथ, **इति** = इस मन्त्रांश से, **पवित्राभ्यां** = दो पवित्रों के साथ, **प्रतिगृह्णाति** = ग्रहण करता है, **हि** = क्योंकि, **एतत्** = ये, **आपः** = जल, **सम्** = सम्यक्, **ओषधिभिः** = औषधियों के साथ, **एताभिः** = इन, **पिष्टाभिः** = पीसी हुई चावल के आटों के साथ, **समोषधयो** = सम्यक् प्रकार से ओषधियाँ, **रसेन** =

रस रूप जल के साथ, **इति** = इस मन्त्र से, **संगच्छन्ते** = मिला दी जाती है, **हि** = क्योंकि, **एतत्** = ये, **ओषधयः** = औषधियाँ, **सं** = सम्यक्तया, **रसेन** = रस के साथ (मिल जाती है), **एताः** = ये, **पिष्टाः** = पीसे हुए चावल के चूर्ण भी, **अद्भिः** = जलों के साथ, **सङ्गच्छन्ते** = मिल जाते हैं, **हि** = क्योंकि, **आप** = जल, **एतासां** = इन ओषधियों के, **रसः** = रस हैं, **सं** = सम्यक्तया, **रेवतीः** = (धनरूप) जल, **जगतीभिः** = जगत् रूप ओषधियों के साथ, **पृच्यन्ताम्** = परस्पर मिल जाएँ, **इति** = इस मन्त्र से (मिला दी जाती हैं); **रेवत्यः** = रेवती (धनरूप), **आपः** = जल है, **जगत्यः** = जगती रूप, **ओषधयः** = ओषधियाँ हैं, **ता** = वे, **उ** = निश्चयरूप से, **सम्मधुमतीः** = सम्यक्तया मधुर रसों वाली (आपः = जल), **मधुमतीभिः** = मधुर रसों से युक्त ओषधियों के साथ, **पृच्यन्ताम्** = मिल जाएँ, **इति** = इस मन्त्र से, **एतत्** = ये, **उभय्यो** = दोनों परस्पर (एक दूसरे से), **हि** = ही, **सम्पृच्यन्ते** = सम्यक् प्रकार से मिल जाती हैं, **एतत्** = ये, **रसवत्यो** = रसयुक्त जल, **रसवतीभिः** = रसयुक्त ओषधियों के साथ, **पृच्यन्ताम्** = परस्पर मिल जाएँ, **इत्याह** = ऐसा कहता है।।2।।

रेणु-व्याख्या–पात्री में हवि का संवपन करने के उपरान्त, उसमें जल मिला कर गूँथने के निमित्त अध्वर्यु पात्रीस्थ हवि लेकर वेदी के मध्य आकर बैठ जाता है। जब अध्वर्यु वेदी पर हवि लेकर बैठता है तभी दूसरा एक आग्नीध्र नामक ऋत्विक् उपसर्जनी नामक जलपात्र के साथ वहाँ आता है। आग्नीध्र वह जल लेकर आता है तब दो कुश-पवित्रों से अध्वर्यु 'समाप ओषधीभिः' (यजु. 1.21.) इस मन्त्र द्वारा हवि में मिलाने के लिए उपसर्जनी से जल लेता है। उक्त मन्त्रांश में यह प्रार्थना किया गया है कि–'हे जलों! आप ओषधियों के साथ सम्यक् प्रकार से मिल जाओ।' क्योंकि ये जल ओषधियों के साथ अर्थात् इन तण्डुलचूर्णों के साथ भलीभाँति मिल जाते हैं तथा हवि में जल मिलाते हुए पुनः यह मन्त्र 'समोषधयो रसेन' (यजु. 1.21) पढ़कर ओषधियों से प्रार्थना करता है कि हे हवियो! (तण्डुलचूर्ण) तुम जलों के साथ भली प्रकार मिल जाओ। इस प्रकार ओषधियों को रसरूप जल के साथ मिला दी जाती है। चूँकि ये ओषधियाँ जल के साथ तथा जल ओषधिरूप तण्डुलचूर्णों के साथ अच्छी तरह मिल जाते हैं। चूँकि जल इन ओषधियों के रस हैं इस प्रकार 'रेवतीर्जगतीभिः' (यजु. 1.21) इस मन्त्रांश द्वारा रेवती अर्थात् धनरूप जलों को जगतीरूप ओषधियों से मिला दिया जाता है। परस्पर एक-दूसरे को मिलाते हुए पुनः 'मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्' (यजु. 1.21) मन्त्रांश द्वारा मधुर स्वाद युक्त जलों को दिव्य स्वादयुक्त ओषधियों के साथ परस्पर

सम्मिश्रण कर देने से देवताओं को देवताओं से मिलाने तथा मधुर से मधुरता को मिलाने की बात कही गई है। गीता में भी कहा गया है–**देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥** (गीता–3.11) अर्थात् परस्पर दो देवों के मेल से परम श्रेय की प्राप्ति होती ही है। इसलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि रसयुक्त जलों को रसवती ओषधियों के साथ मिलाकर अपूर्वोत्पत्ति की कल्पना करता हुआ यज्ञ के मूल उद्देश्य एक से अनेक होने की बात को ही सिद्ध एवं सापेक्ष करने का प्रयत्न करता है। इसलिए परस्पर एक-दूसरे पदार्थों को सम्यक् प्रकार से मिलाता है। एक दूसरे से मिलकर ही श्रेय की प्राप्ति सम्भव है। उक्त विधि में यह उपदेश भी निहित है। इसीलिए इन मन्त्रवाक्यों का प्रयोग करता है॥2॥

[जलेन पिष्टानां मिश्रीकरणम्]

1.2.2.3. (हा) अथ संयौति। जनयत्यै त्वा संयौमीति यथा श्रियेऽन्नाद्यायेमाः प्रजा यजमानाय यच्छेदेवं वै तत्संयौत्यधिवक्ष्यन्नु वै संयौति यथा वाऽधिवृक्तोऽग्नेरधिजायेतैवं वै तत्संयौति॥3॥

ऋजुपाठः–अथ संयौति–"जनयत्यै त्वा संयौमि"–(1 अ. 22 मं.) इति। यथा–श्रियेऽन्नाद्यायेमाः प्रजा यजमानाय यच्छेत्–एवं वै तत् संयौति। अधिवक्ष्यन्नु वै संयौति। यथा वा अधिवृक्तोऽग्नेरधिजायेत, एवं वै तत् संयौति॥3॥

सा.भा.–आसिक्तजलेन पिष्टानां समन्त्रकं मिश्रीकरणं विधत्ते–**अथेति**। 'संयौति' सम्यङ् मिश्रीकरोतीति। "यु मिश्रणे" (अ.प. 23) इति धातुः। मन्त्रतात्पर्यकथनेनैतत् संयवनं प्रशंसति–**यथेति**। यथा खलु 'इमाः प्रजा यजमानाय' षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। (पा. सू. 2।3।61। वा. 1509) यजमानस्य श्रिये सम्पदर्थमन्नाद्यर्थं च नियच्छेद्, एवमेतदनुकूलमेव तत्पिष्टसंयवनमित्यर्थः। मन्त्रगत–'जनयत्यै' शब्दस्य जननायेति ह्यर्थः। तमुपजीव्य प्रशंसति–**अधिवक्ष्यन्निति।** अधिवर्जनं पुरोडाशस्याग्नावधिश्रयणं करिष्यन् खलु संयौति। यथा खल्वधिश्रितः पुरोडाशोऽग्नेः सकाशात् जायेत, एवं तदनुगुणमेव तत् संयवनं 'जनयत्यै' इति जननलिङ्गवतो मन्त्रस्य प्रयोगादित्यर्थः॥3॥

अन्वयः–अथ 'जनयत्यै त्वा संयौमि' इति (मन्त्रेण) संयौति। यथा यजमानाय श्रिये अन्नाद्याय इमाः प्रजाश्च यच्छेत्–एवं वै तत् संयौति। अधिवक्ष्यन् वै संयौति। यथा वा अधिवृक्तो अग्नेः अधिजायेत, एवं वै तत् संयौति॥3॥

पदार्थः–**अथ** = तण्डुल चूर्ण में जल डालने के बाद, **'जनयत्यै** = स्वर्गादि सुख (अपूर्वफल) की उत्पत्ति के लिए, **त्वा** = तुझे, **संयौमि** = परस्पर सम्यक्तया मिलाता हूँ' **इति** = इस मन्त्र से, **संयौति** = गूँथकर मिलाता है। **यथा** = जिस प्रकार, **यजमानाय** = (षष्ठ्यर्थे चतुर्थी इति सायणःप्राह) यजमान के लिए, **श्रिये** = सम्पत्ति के लिए, **अन्नाद्याय** = भोगपदार्थ अन्नादि के लिए, **इमाः प्रजाः** = द्विपाद् एवं चतुष्पाद् प्रजाओं के लिए, **यच्छेत्** = जीवन से युक्त करे (प्रदान करे), **एवं** = इस प्रकार से, **वै** = निश्चयरूप से ही, **तत्** = उन दोनों को, **संयौति** = मिलाता है। **अधिवक्ष्र्यन्** = अग्नि पर (जलमिश्रित तण्डुलचूर्ण से प्रथित) पुरोडाश को चढ़ाने की इच्छावालों, **नु** = की तरह, **वै** = ही, **संयौति** = संयवन (गूँथता) करता है। **यथा** = जिस प्रकार, **वा** = ही, **अधिवृक्तः** = अग्नि पर चढ़ाया हुआ, **अग्नेः** = अग्नि से, **अधिजायते** = उत्पन्न हो सके अर्थात् पुरोडाश के रूप में पककर तैयार हो सके, **एवं** = इस प्रकार, **वै** = निश्चय ही, **तत्** = उसे, **संयौति** = मिलता है।।3।।

रेणु-व्याख्या–तण्डुल चूर्ण (आटा) में जल डालने के उपरान्त जल एवं चूर्ण को परस्पर (रेवती एवं जगती को) गूँथकर एकीकरण करने के लिए जो क्रिया विहित है वह संयवन कहलाता है। यूमिश्रणामिश्रणयोः धातु से निष्पन्न संयवन शब्द रासायनिक क्रिया के द्वारा दो या दो से अधिक पदार्थों के मिश्रण करने के अर्थ को संकेतित करता है। मिश्रण करता हुआ अध्वर्यु 'जनयत्यै त्वा संयौमि' (यजु. 1.22) इस मन्त्र को पढ़कर पिष्ट से कहता है कि जनयत्यै = प्रजात्यै अर्थात् स्वर्गादिसुखरूप! अपूर्वफलोत्पत्ति के निमित्त मैं तुम्हारा मिश्रण करता हूँ। यज्ञ शब्द की वैज्ञानिक परिभाषा है–**एकस्मादनेकस्मिन्नारोहणं यज्ञः** अर्थात् एक से अनेक हो जाना ही यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ उत्पत्ति का ही वाचक होता है। अब पुनः प्रश्न उठता है कि किस प्रकार के फलोत्पत्ति अभिलषित हैं? तो याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस प्रकार उस पिष्ट को गूँथे जिससे यजमान के सम्पत्ति, समस्त भोग्य-पदार्थ एवं पुत्र पौत्रादि द्विपाद् प्रजा तथा गो अश्वादि चतुष्पाद् प्रजा उत्पन्न हों, इस प्रकार से मिश्रण करता है। तब तक उसे मिलाता है जब तक वह पुरोडाश के रूप में पकने हेतु अग्नि पर चढ़ने योग्य न हो जाए। अर्थात् तण्डुलचूर्ण को जल से मिश्रित कर अग्नि पर चढ़ाने की इच्छावालों की तरह निश्चित रूप से उन दोनों को मिलाता है। ताकि प्रथित पुरोडाश अग्नि पर चढ़कर देवताओं को अर्पण करने योग्य बना कर तैयार हो सके, इस प्रकार निश्चय ही उसे मिलाता है।।3।।

[पिष्टपिण्डस्य द्वेधा विभागविधिकथनम्]

1.2.2.4. (त्यु) अथ द्वेधा करोति–यदि द्वे हविषी भवतः। पौर्णमास्यां वै द्वे हविषी भवतः। स यत्र पुनर्न सꣳहरिष्यन्त्स्या-त्तदभिमृशतीदमग्नेरिदमग्नीषोमयो- रिति नाना वा ऽएतदग्रे हविर्गृह्णन्ति तत्सहावघ्नन्ति तत्सह पिꣳषन्ति तत्पुनर्नाना करोति तस्मादेवमभि- मृशत्यधिवृणक्त्येवैष पुरोडाशमधिश्रयत्यसावाज्यम्॥4॥

ऋजुपाठः–अथ द्वेधा करोति–यदि द्वे हविषी भवतः। पौर्णमास्यां वै द्वे हविषी भवतः। स यत्र पुनर्न संहरिष्यन्त्स्यात्। तदभिमृशति–"इदमग्नेरिदमग्नीषोमयोः"–(1 अ. 22 मं.) इति। नाना वा एतदग्रे हविर्गृह्णन्ति। तत् सहावघ्नन्ति। तत् सह पिंषन्ति। तत् पुनर्नाना करोति। तस्मादेवमभिमृशति–अधिवृणक्त्येवैष पुरोडाशम् अधिश्रयत्यसावाज्यम्॥4॥

सा. भा.–अथ द्वेधेत्यादिविभागविधिः। कुत्र तर्हि हविर्द्वयमिति तद्दर्शयति–**पौर्णमास्यामिति**। 'पौर्णमासी'–**शब्देन कालवाचिना** तत्कालानुष्ठेयं कर्म विवक्षितम्। तत्र ह्याग्नेयोऽष्टाकपालः, अग्नीषोमीय एकादशकपाल इति 'द्वे हविषी' विहिते इत्यर्थः। एवं द्वेधा विभज्य, विभक्तयोस्तयोर्मन्त्राभिमर्शनं विधत्ते–**स यत्रेति**। 'सः' खल्वध्वर्युः 'यत्र' यस्मिन् काले 'तत्' हविर्द्वयं 'पुनर्न संहरिष्यन्त्स्यात्' संहरणमेकीकरणम्, तत् करिष्यन् न भवेत् 'तत्' तदानीम् "इदमग्नेः"–इत्येकं भागमभिमृशति, "इदमग्नीषोमयोः"–इत्यपरम्। तावेतौ यथासङ्ख्यमाग्नेयाग्नीषोमीयपुरोडाशावित्यर्थः। कथं पुनरनयोर्द्वित्वम्, कुत्र वा तयोः संहरणम्, यद्व्यावृत्तये 'न संहरिष्यन्' इति विशेष्यत इति, तत्सर्वं दर्शयति **नाना वा इत्यादिना**। अग्नेर्निर्वापसमये 'अग्नये जुष्टं गृह्णामि–इति पृथक् पृथग् देवतादेशनाद् ग्रहणस्य नानात्वम्। अवहननादिसंस्कारे सहैवानुष्ठिते सति तद्धविरस्मिन् समये पुनरनेन मन्त्रेण यथास्वं विभजतीत्यर्थः।'

पुरोडाशकपालस्याज्याधिश्रयणस्य च समानकालतां विवक्षुः कर्तृभेदमाह–**अधिवृणक्तीति। 'एषः'** अध्वर्युः पुरोडाशम् 'अधिवृणक्ति' अग्नेरुपर्यधिश्रयति। अथैक आज्यं निर्वपति–इति प्रागन्यशब्दपर्यायेणैकशब्देन य आग्नीध्र आज्यनिर्वापे कर्तृतया प्रतिपादितः, सोऽत्र 'असौ'–इत्यदःशब्देन विप्रकृष्टवाचिना परामृश्यते। पुरोडाशाधिश्रयणसमये 'असौ' आग्नीध्रः 'आज्यम्' अधिश्रयेदित्यर्थः॥4॥

अन्वयः–अथ यदि द्वे हविषी भवतः (तदा) द्वेधा करोति। पौर्णमास्यां द्वे हविषी वै भवतः सः पुनः यत्र संहरिष्यन् न स्यात् तत् अभिमृशति, इदमग्नेः, इदमग्नीषोमयोः

इति (यजुषा) नाना वै अग्रे एतत् हविः गृह्णन्ति तत् सह अवघ्नन्ति, तत् सह पिंषन्ति, तत् पुनः नाना करोति, तस्मात् एवम् अभिमृशति अधिवृणक्ति, एष (अध्वर्युः) एव पुरोडाशम् अधिश्रयति, असौ (आग्नीध्रः) आज्यम् (अधिश्रयति)।।4।।

पदार्थः–अथ = संयवन कार्य सम्पन्न करने के बाद, **यदि** = अगर, **द्वे** = दो, **हविषी** = हवियाँ, **भवतः** = होती हैं (तो), **द्वेधा** = दो भागों में विभाजित, **करोति** = करता है। **पौर्णमास्यां** = पूर्णमासेष्टि यज्ञ में, **द्वे** = दो, **हविषी** = हवियाँ, **वै** = ही, **भवतः** = होती हैं, **सः** = वह, **पुनः** = फिर से, **यत्र** = जहाँ, **संहरिष्यन्** = एकत्रित करने की इच्छावाला, **न** = नहीं, **स्यात्** = हो (तो), **तत्** = उन दोनों हवियों को, **अभिमृशति** = स्पर्श कर (अलग-अलग देवता के लिए) निर्देश करता है। **इदमग्नेः** = यह अग्नि का, **इदमग्नीषोमयोः** = यह अग्नीषोम युगल देवता का, **इति** = इस मन्त्रवाक्य से, **नाना** = अलग-अलग देवता के नाम निर्देशपूर्वक, **वै** = ही निश्चय रूप से, **अग्रे** = पहले, **एतत्** = ये, **हविः** = हवियाँ, **गृह्णन्ति** = ग्रहण करते हैं, (परन्तु) **तत्** = उन्हें, **सह** = एक साथ, **अवघ्नन्ति** = अवहनन (कूटते हैं) करते हैं, **तत्** = उन्हें, **सह** = साथ-साथ, **पिंषन्ति** = पीसते हैं, **तत्** = उन्हें, **पुनः** = पेषण एवं संयवन के बाद फिर से, **नाना** = अलग-अलग (देवताओं के नामनिर्देशपूर्वक), **करोति** = किया जाता है। **तस्मात्** = इसलिए, **एवं** = इस प्रकार, **अभिमृशति** = स्पर्श पूर्वक (देवता का निर्देश) करता है, **अधिवृणक्ति** = अग्नि पर चढ़ा कर उसका परिपाक करता है, (इस क्रम में) **एषः** = यह (अध्वर्यु), **एव** = ही, **पुरोडाशम्** = पुरोडाश को तथा, **असौ** = वह (आग्नीध्र), **आज्यम्** = आज्य (घी) को, **अधिश्रयति** = अग्नि पर चढ़ाकर पकाता है (तैयार करता है)।।4।।

रेणु-व्याख्या–पीसे हुए तण्डुल चूर्ण (आटा) को जल से मिश्रित करके संयवन करने के बाद पिष्ट पिण्ड को दो भागों में विभक्त करता है, यदि दो हवि हो तो। यद्यपि पूर्णमासेष्टि याग में दो हवियाँ तो होती ही हैं, वे दोनों हवियाँ फिर से एकत्रित न हो जाएँ इस इच्छा से उन दोनों हवियों को समन्त्रक स्पर्श कर देवताओं के नाम निर्देश पूर्वक **इदमग्नेरिदमग्नीषोमाभ्याम्** (यजु. 1.22) यह अग्नि का भाग है, यह अग्नि एवं सोम (युगल) देवताओं का भाग है, इस मन्त्रांश से अलग-अलग देवताओं के नाम ले-लेकर विभक्त करता है। वस्तुतः पहले जब शकट से हविग्रहण किया गया था, तब अलग-अलग देवता के लिए ग्रहण किया था किन्तु हवियों का कुट्टन, पेषण एवं संयवनादि कर्म एकत्रित ही हुए थे, किन्तु जल से मिश्रित कर गूँथकर अग्नि पर चढ़ाने योग्य बनाने के बाद

पुनः देवताओं के नाम निर्देशपूर्वक उसे अलग-अलग किया जाता है। इसी हेतु से अलग-अलग देवताओं के नाम निर्देश पूर्वक पिष्ट पिण्ड का स्पर्श करता है तथा अग्नि पर चढ़ाकर पकाता है। इस क्रम में भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अध्वर्यु पुरोडाश को तथा आग्नीध्र आज्य को अग्नि पर चढ़ाकर पकाकर देवताओं को अर्पण के योग्य बनाता है।।4।।

[उपस्तरणाभिघारणयोः सहानुष्ठानम्]

1.2.2.5. (न्त) तद्वा ऽएतत्। (दु) उभयथ्ंसह क्रियते तद्यदेतदुभयथ्ंसह क्रियते ऽर्द्धो ह वा ऽएष ऽआत्मनो यज्ञस्य यदाज्यमर्द्धो यदिह हविर्भवति स यश्चासावर्द्धो य उ चायमर्द्धस्ता ऽउभावग्निं गमयावेति तस्माद्वा ऽएतदुभयथ्ंसह क्रियत ऽएवमु हैष आत्मा यज्ञस्य सन्धीयते।।5।।

ऋजुपाठः—तद्वा एतदुभयं सह क्रियते। तद्यदेतदुभयं सह क्रियते। अर्द्धो ह वा एष आत्मनो यज्ञस्य यदाज्यम्। अर्द्धो यदिह हविर्भवति। स यश्चासावर्द्धो य उ चायमर्द्धः, ता उभावग्निं गमयावेति। तस्माद्वा एतदुभयं सह क्रियते। एवमु हैष आत्मा यज्ञस्य सन्धीयते।।5।।

सा.भा.—तदेतदुभयोः सहानुष्ठानमुपपादयति—**अर्द्धो ह वा एष** इत्यादिना। आज्यं यज्ञशरीरस्यार्द्धभागः, उपस्तरणाभिघारयोः प्रयाजादीनां च तत्साध्यत्वात्। इतरोऽर्द्धःपुरोडाशादिहविः। सहाधिश्रयणेन तदर्द्धद्वयमेकीकृत्याग्निं प्रापयावेत्यध्वर्योराग्नीध्रस्य चाभिप्रायः। **एवमु हेति**। आज्यहविषोरुभयोः सहाधिश्रयणे सत्यर्द्धद्वयस्यैकीकरणाद् यज्ञशरीरं सन्धीयते इत्यर्थः।।5।।

अन्वयः—तत् एतत् उभयं वै सह क्रियते, यत् एतत् उभयं सह क्रियते तत् ह एषो वै यज्ञस्य आत्मनः अर्द्धः (भागः अस्ति) यत् आज्यम्। अर्द्धः (च भागः) यत् इह हविः भवति। यश्च असौ अर्द्धः यश्च अयम् अर्द्धः उ सः (अध्वर्युः) अग्निं गमयाव इति। तस्मात् वा एतत् उभयं सह क्रियते। एवं ह एष आत्मा उ यज्ञस्य सन्धीयते।।5।।

पदार्थः—**तत्** = तब, **एतत्** = यह, **उभयं** = दोनों कार्य (पुरोडाश का अग्नि पर स्थापन (उपस्तरण) एवं आज्याभिघारण हेतु अधिश्रयण), **सह** = साथ-साथ, **क्रियते** = किया जाता है। **तत्** = वह, **ह** = प्रसिद्ध, **एषः** = यह,

वै = निश्चित रूप से, **यज्ञस्य** = यज्ञ की, **आत्मनः** = आत्मा का, **अर्द्धः** = आधा भाग है, **यत्** = जो, **आज्यम्** = घी है, और, **अर्द्धः** = आधा भाग, **यत्** = जो, **इदं** = यह, **हविः** = हवि है (वह), **भवति** = होता है। **यश्च** = और, जो, **असौ** = वह (आग्नीध्र) आज्याधिश्रयण कर यज्ञ का, **अर्द्धः** = आधा भाग पूर्ण करता है, **यश्च** = एवं जो, **अयम्** = यह (अध्वर्यु), **अर्द्धः** = पुरोडाश श्रपणरूप यज्ञ का आधा भाग पूर्ण करता है, **तौ** = वे, **उभौ** = दोनों कर्म, **उ** = निश्चय ही, **अग्निं** = अग्नि को, **गमयाव** = प्राप्त करावें, **इति** = ऐसा अभिप्राय है। **तस्मात्** = इसलिए, **वा** = ही (निश्चय), **एतत्** = यह, **उभयं** = दोनों कार्य (पुरोडाशश्रपण एवं आज्याधिश्रयण), **सह** = साथ-साथ, **क्रियते** = किया जाता है, **एवम्** = इस प्रकार, **ह** = निश्चय, **एष** = यह, **आत्मा** = यजमान की आत्मा, **उ** = ही, **यज्ञस्य** = यज्ञ की आत्मा के रूप में, **सन्धीयते** = सन्धि अर्थात् संस्थापित हो जाती है।।5।।

रेणु-व्याख्या–पिष्ट पिण्ड के द्विविभाग करने के उपरान्त उपस्तरण एवं अभिघारण दोनों कर्म के एक साथ अनुष्ठान का हेतु स्पष्ट करते हुए परमवैज्ञानिक योगीश्वर महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उपस्तरण एवं आज्याभिघारण कर्म एक साथ किए जाते हैं। पुरोडाश का अग्नि पर स्थापन उपस्तरण एवं पुरोडाश के पकने पर उस पर घृत की धारा टपकाने की क्रिया को अभिघारण कहते हैं। अभिघारण के लिए सर्वप्रथम आज्य को अग्नि पर तपाया जाता है। इस कर्म को अधिश्रयण करते हैं। इस प्रकार पुरोडाश को पकाने हेतु अग्नि में स्थापन एवं अभिघारणार्थ घी का प्रतपन ये दोनों कार्य साथ-साथ किये जाते हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए महर्षि कहते हैं कि यह जो पुरोडाश है वह यज्ञ की आत्मा का आधा भाग है तथा आधा भाग आज्य (घी) है। वह अध्वर्यु जो पुरोडाश को पकाता है इस कार्य द्वारा यज्ञ की आत्मा का अर्द्धभाग पूर्ण होता है तथा अग्नीध जो आज्याधिश्रयण करता है उससे यज्ञ की आत्मा का शेष आधा भाग पूर्ण होता है। ये दोनों निश्चित रूप से अग्नि को प्राप्त करावें इस अभिप्राय से पुरोडाशश्रपण एवं आज्याधिश्रयण कर्म साथ-साथ किये जाते हैं। दोनों कार्य एक समय में एक ऋत्विक् नहीं कर सकता अतएव पुरोडाशश्रपण कर्म अध्वर्यु एवं आज्याधिश्रयण आग्नीध्र करता है। इस प्रकार इन दोनों कार्यों को साथ-साथ सम्पादित करके यज्ञ की आत्मा को पूर्ण रूप से स्थापित करता है। इसलिए पुरोडाशश्रपण एवं आज्याधिश्रयण ये दोनों कर्म साथ-साथ करते हैं तथा यज्ञ की आत्मा को यजमान की आत्मा के रूप में निश्चय ही पूर्णरूपेण संस्थापित करते हैं।।5।।

[आज्याधिश्रयणम्]

1.2.2.6. सोऽसावाज्यमधिश्रयति। (ती) इषे त्वेति व्वृष्ट्यै तदाह यदाहेषे त्वेति तत्पुनरुद्वासयत्यूर्जे त्वेति यो व्वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह॥6॥

ऋजुपाठः–सोऽसावाज्यमधिश्रयति–"इषे त्वा"–(1 अ. 22 मं.) इति। वृष्ट्यै तदाह–यदाह 'इषे त्वेति'। तत्–पुनरुद्वासयति। 'ऊर्जे त्वेति'। यो वृष्टादूर्ग् रसो जायते तस्मै तदाह॥6॥

सा.भा.–विहितमाज्याधिश्रयणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते–**सोऽसाविति।** इष्यत इति 'इट्' इति व्युत्पत्त्या–इट्–शब्देन वृष्टिर्विवक्षितेति व्याचष्टे–**वृष्ट्या** इति। **वृष्टादूर्ग्रस** इति। तस्मात् 'वृष्टात्' उदकाज्जायमानो यो बलकरोऽन्नरसो जायते, स 'ऊर्क्'–शब्देन विवक्षितः॥6॥

अन्वयः–सः असौ (आग्नीध्रः) इषेत्वेति (मन्त्रमुच्चार्य) आज्यमधिश्रयति। यत् इषे त्वेति आह तत् वृष्ट्यै आह। पुनः तत् उद्वासयति 'ऊर्जे त्वेति' (मन्त्रेण) वृष्टात् यो ऊर्क् रसो जायते तत् तस्मै आह॥6॥

पदार्थः–**सः** = वह, **असौ** = यह (आग्नीध्र), **इषे** = (इट् शब्देन वृष्टिर्विवक्षितेत्याह सायणः) वृष्टि के लिए, **त्वा** = तुझे, **इति** = इस मन्त्र का उच्चारण कर, **आज्यम्** = घी को, **अधिश्रयति** = पकाता है, **यत्** = जो, **इषे** = इष के लिए, **त्वेति** = तुझे ऐसा, **आह** = कहता है, **तत्** = वह, **वृष्ट्यै** = वृष्टि के लिए, **आह** = कहता है। **पुनः** = फिर, **तत्** = उसे, **उद्वासयति** = उद्वासन (ऊपर की ओर उठाता) करता है, **ऊर्जे** = बल के लिए, **त्वा** = तुझे, **इति** = इस मन्त्र से, **वृष्टात्** = वृष्टि से, **उर्क्** = अन्न एवं प्राणशक्ति रूपी, **रसो** = रस, **जायते** = उत्पन्न होता है, **तस्मै** = उस बलरूप रस के लिए, **आह** = कहता है॥6॥

रेणु-व्याख्या–वह यह आग्नीध्र नामक ऋत्विक् **इषे त्वा** (यजु 1.22) इस मन्त्रांश को पढ़कर (वृष्टि के लिए तुम्हें) आज्य को अग्नि पर चढ़ाकर गर्म करता है। यहाँ इष् (इट्) शब्द के द्वारा वृष्टि अर्थ विवक्षित है ऐसा सायण ने कहा है यह कथन शतपथश्रुति के पदार्थानुरूप ही है। जैसा कि याज्ञवल्क्य आगे कहते हैं कि जो वह 'इषे त्वा' ऐसा कहता है, वह इष् शब्द का प्रयोग वृष्टि अर्थ में करता हुआ वृष्टि के लिए ही कहता है। पुनः उस आज्य को ऊपर की ओर उठाता है,

इस क्रिया को 'उद्वासन' कहते हैं। उद्वासन करता हुआ 'ऊर्जे त्वा' इस मन्त्रांश का प्रयोग करता है। चूँकि वृष्टि से प्राणशक्तिरूपी बल अर्थात् अन्न का रस उत्पन्न होता है। स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड में कहा गया है–'कलावन्नगतप्राणाः' कलियुग में अन्नगत प्राण है। वस्तुतः न केवल कलियुग में अपितु सभी युगों में अन्न, प्राणरक्षा का साधन सिद्ध है इसलिए उपनिषदों में 'अन्नमयं ही सौम्य! मनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छां. उप. 5.5.5) अर्थात् इस प्रकार से महा महत्त्वशाली अन्न के रस की उत्पत्ति के लिए 'ऊर्जे त्वा' इस मन्त्र का प्रयोग करता है।।6।।

[पुरोडाशश्रपणम्]

1.2.2.7. (हा) अथ पुरोडाशमधिवृणक्ति घर्म्मोऽसीति यज्ञमेवैतत्करोति यथा घर्म्मं प्रवृञ्ज्यादेवं प्रवृणक्ति विश्वायुरिति तदायुर्द्दधाति।।7।।

ऋजुपाठः–अथ पुरोडाशमधिवृणक्ति–"**घर्म्मोऽसि**"–(1 अ. 22 मं.) इति। यज्ञमेवैतत् करोति। यथा घर्म्मं प्रवृञ्ज्यात्-एवं प्रवृणक्ति। "**विश्वायुः**"–(1 अ. 22 मं.) इति। तदायुर्द्धाति।।7।।

सा.भा.–अधिवृणक्तीति। अग्नावुपरि 'वृणक्ति' वर्जयति, श्रपणार्थं स्थापयतीत्यर्थः। **यज्ञमेवैतदिति।** घर्म्मोऽसीति घर्म्मतादात्म्यस्तवनात्, घर्मस्य च सोमयागाङ्गत्वात् तदात्मकमेवैतत्करोति। घर्मस्य यत् प्रवृञ्जनं सोमे, तत्सदृशमेवैतत् पुरोडाशस्य प्रवृञ्जनमित्यर्थः।।7।।

अन्वयः–अथ 'घर्मोऽसि' इति (मन्त्रेण), पुरोडाशम् अधिवृणक्ति। एतत् यज्ञम् एव करोति। यथा (सोमयागे) घर्मं (प्रवर्ग्यं) प्रवृञ्ज्यात् एवं प्रवृणक्ति। 'विश्वायुः' इति (मन्त्रेण) तत् आयुः दधाति।।7।।

पदार्थः–अथ = आग्नीध्र द्वारा आज्याधिश्रयण किये जाने के बाद अब (अध्वर्यु), **घर्मोऽसि** = तुम घर्म हो, **इति** =इस मन्त्र से, **पुरोडाशम्** = पुरोडाश को, **अधिवृणक्ति** = अग्नि पर पकाने के लिए चढ़ाता है, **एतत्** = इस क्रिया द्वारा, **यज्ञम्** = पुरोडाश को यज्ञरूप, **एव** = ही, **करोति** = बनाता है, **यथा** = जिस प्रकार (सोमयाग में), **घर्मं** = (प्रवर्ग्य) घर्म को, **प्रवृञ्ज्यात्** = पकाया जाता है, **एवं** = उसी तरह, **प्रवृणक्ति** = पकाता है, **विश्वायुः** = सम्पूर्ण आयु रूप हो, **इति** = ऐसा मन्त्र पढ़कर, **तत्** = उससे, **आयुः** = यजमान की आयु को, **दधाति** = धारण करता है।।7।।

रेणु-व्याख्या–जब आग्नीध्र द्वारा आज्य को गर्म किया जाता है तब अध्वर्यु भी 'घर्मोऽसि' (यजु. 1.22) इस मन्त्रांश से तुम घर्म हो यह कहकर पुरोडाश को पकाने के लिए अग्नि पर चढ़ाता है। इस क्रिया द्वारा पुरोडाश को यज्ञरूप बनाता है, जिस प्रकार सोमयाग में घर्म (महावीर पात्रस्थ प्रवर्ग्य) को पकाया जाता है उसी तरह यहाँ दर्शपूर्णमास में पुरोडाश पकाता है। 'विश्वायुः' (1. 22) इस यजु को बोलकर यजमान के लिए जीवन की वृद्धि को स्थापित करता है।।7।।

[उपहितेषु कपालेषु पुरोडाशस्य प्रथनम्]

1.2.2.8. तं प्रथयति। (त्यु) उरुप्रथाऽउरुप्रथस्वेति प्रथयत्येवैनमेतदुरु ते यज्ञपतिः प्रथतामिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदाशिषमाशास्ते ।।8।।

ऋजुपाठः–तं प्रथयति–**"उरुप्रथा उरुप्रथस्व"**–(1 अ. 22 मं.) इति। प्रथयत्येवैनमेतत्। **"उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्"**–(1 अ. 22 मं.) इति। यजमानो वै यज्ञपतिः। तद्यजमानायैवैतदाशिषमाशास्ते।।8।।

सा.भा.–**तं प्रथयतीति**। उपहितेषु कपालेषु विस्तारयतीत्यर्थः। प्रथयत्येवैनमेतदिति विहितस्य प्रशंसा। 'प्रथयति' पृथु विस्तीर्णं प्रभूतं करोतीत्यर्थः।।8।।

अन्वयः–तं 'उरुप्रथा उरु प्रथस्व' इति (मन्त्रेण) प्रथयति। एनम् 'उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्' इति (मन्त्रेण) प्रथयति एव। यजमानो वै यज्ञपतिः। तत् यजमानाय एव एतत् आशिषम् आशास्ते।।8।।

पदार्थः–**तं** = उस पिष्ट पिण्ड को कपाल पर रखकर, **उरु** = विस्तार, **प्रथा** = फैलाने वाला, **उरु** = विस्तृत रूप से, **प्रथस्व** = तुम फैलो, **इति** = इस मन्त्रांश को पढ़कर, **प्रथयति** = पहले से स्थापित कपालों पर फैलाता है। **एनम्** = इस पुरोडाश को, **उरु** = विस्तीर्ण, **ते** = तुम्हारा, **यज्ञपतिः** = यजमान, **प्रथताम्** = फैले, **इति** = इस मन्त्र से, **प्रथयति** = फैलाता है, **एव** = ही। **यजमानो** = यजमान, **वै** = ही, **यज्ञपतिः** = यज्ञ का स्वामी है। **तत्** = इसलिए, **यजमानाय** = यजमान के लिए, **एव** = ही, **एतत्** = यह, **आशिषम्** = आशीर्वाद, **आशास्ते** = माँगता है। (आशंसन करता है)।।8।।

रेणु-व्याख्या–अध्वर्यु उस पिष्ट पिण्ड को पहले से उपहित कपाल पर प्रथित करने के लिए 'उरु प्रथा उरु प्रथस्व' (यजु. 1.22) इस मन्त्र को

पढ़कर हे विस्तृत फैलने वाले। तुम फैलो, यह कहते हुए फैलाता है। अब यज्ञ से कहता है कि 'उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्' (यजु 1.22) अर्थात् हे यज्ञ! तुम्हारा यज्ञपति भी खूब अधिक फैले, यह मन्त्र पढ़कर उसको फैलाता है। क्योंकि यजमान ही यज्ञपति है, इसलिए यजमान के लिए ही यह आशीर्वाद माँगता है। आशंसन करता है।।8।।

[पुरोडाशप्रथनविधिकथनम्]

1.2.2.9. तं न सत्रा पृथुं कुर्यात्। (न्मा) मानुषꣳह कुर्याद्यत्पृथुं कुर्याद्व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्मान्न सत्रा पृथुं कुर्यात्।।9।।

ऋजुपाठः—तं न सत्रा पुथुं कुर्यात्। मानुषं ह कुर्यात्—यत् पृथुं कुर्यात्। व्यृद्धं वै तद् यज्ञस्य—यन्मानुषम्। नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति, तस्मान्न सत्रा पृथुं कुर्यात्।।9।।

सा.भा.—पुरोडाशस्य स्वाभिमतपरिमाणं विधित्सुः परिमाणान्तरं निषेधति—**तन्नेति।** सत्रेति निपातोऽनेकार्थत्वादत्रातिशयार्थः। 'सत्रा पृथुम्' अतिपृथुं न कुर्यात्। विपक्षे बाधमाह—**मानुषं** हेति। अस्तु मानुषत्वं को दोष इत्यत आह—**व्यृद्धं वा** इति। 'व्यृद्धम्' विगतर्द्धिकमित्यर्थः।।9।।

अन्वयः—तं (पुरोडाशं) सत्रा पृथुं न कुर्यात्। यत् पृथुं कुर्यात् मानुषं ह कुर्यात्। यन्मानुषं तद्वै यज्ञस्य व्यृद्धम्। यज्ञे इत् व्यृद्धं न करवाणि इति तस्मात् सत्रा पृथुं न कुर्यात्।।9।।

पदार्थः—**तं** =उस (पुरोडाश) को, **सत्रा** = अतिशय, **पृथुं** = प्रथित (विस्तृत), **न** = नहीं, **कुर्यात्** = करे। **यत्** = यदि अतिशय, **पृथुं** = विस्तृत, **कुर्यात्** = करे तो, **मानुषं** = वह मनुष्य सम्बन्धी, (मानुषी), **ह** = निश्चय ही, **कुर्यात्** = बना देगा। **यत्** = जो, **मानुषं** = मनुष्य सम्बन्धी (मानुषी), हवि (अर्थात् दैवी नहीं) है, **तत्** = वह, **वै** = निश्चित रूप से, **यज्ञस्य** = यज्ञ की, **व्यृद्धम्** = हीनता (समृद्धि राहित्य), **न** = नहीं, **करवाणि** = करूँ, **इति** = इसी भावना से, **तस्मात्** = प्रोक्त परिमाण से, **सत्रा** = अधिक, **पृथुं** = विस्तार, **न** = नहीं, **कुर्यात्** = करे।।9।।

रेणु-व्याख्या—भगवान् याज्ञवल्क्य यहाँ यह सावधानी रखने का निर्देश देते हुए कहते हैं कि पुरोडाश का कपाल पर प्रथन करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उसे बहुत अधिक न फैलावे। चूँकि यदि अतिशय फैलाव होगा तो

मनुष्यों की करपट्टिका (रोटी) के समान हो जाएगा, जिससे उसकी समृद्धि नष्ट हो जाएगी। समृद्धि रहित पदार्थ देवताओं के योग्य नहीं होते अतः देवता उस शोभारहित वस्तु को स्वीकार नहीं करेंगे। फलतः देवताओं की प्रसन्नता के लिए अनुष्ठित यज्ञ निष्फल ही रह जाएगा। अतः अध्वर्यु को इस विषय में सचेत रहना चाहिए कि पुरोडाश का परिमाण कितना हो यह श्रौताचार्यों ने निर्दिष्ट किया है उससे अतिशय अधिक परिमाण वाला न हो जाय। यज्ञ की गरिमा को बनाए रखना ही ऋत्विक् का परम कर्त्तव्य है। यज्ञ की मर्यादा के अनुसार दैवी गुण युक्त पुरोडाश निर्माण करना ही अभीष्ट है। किन्तु अतिशय फैलाव होने से वह मानुषी हो जाएगा, जिससे यज्ञहीनता को प्राप्त हो जाएगा। इसलिए पुरोडाश को अत्यधिक न फैलावे।।9।।

[पुरोडाशनिर्माणे पक्षान्तरम्]

1.2.2.10. अश्वशफमात्रं कुर्यादित्यु हैक ऽआहुः। कस्तद्वेद यावानश्वशफो यावन्तमेव स्वयं मनसा न सत्रा पृथुं मन्येतैवं कुर्यात्।।10।।

ऋजुपाठः–अश्वशफमात्रं कुर्यादित्यु हैक आहुः। कस्तद्वेद यावानश्वशफः। यावन्तमेव स्वयं मनसा न सत्रा पृथुं मन्येत, एवं कुर्यात्।।10।।

सा.भा.–पक्षान्तरमुपन्यस्यति–**अश्वशफेति**। अयमपि पक्षो दुर्ज्ञातत्वान्न साधुरित्याह–**कस्तदिति**। स्वाभिमतं पुरोडाशपरिमाणमाह–**यावन्तमिति**। यत्परिमाणविशिष्टमेव पुरोडाशं स्वयं मनसैवातिपृथुं न मन्येत, किन्तु दैवतसौविष्टकृतेडाद्यवदानपर्याप्तमेव मन्येत, तत्परिमाणविशिष्टं कुर्यादित्यर्थः।।10।।

अन्वयः–अश्वशफमात्रम् उ कुर्यात् इति एक आहुः। यावान् अश्वशफः तत् को वेद। स्वयं मनसा यावन्तम् एव सत्रा पृथुं न मन्येत एवं कुर्यात्।।10।।

पदार्थः–**अश्वशफमात्रं** = घोड़े की टाप (खुर) के परिमाण का, **उ** = ही, **कुर्यात्** = पुरोडाश का प्रथन करे, **इति** = ऐसा, **एक** = कुछ आचार्य, **आहुः** = कहते हैं। **यावान्** = जितना बड़ा (अर्थात् किस परिमाण का), **अश्वशफः** = घोड़े की टाप (खुद) होता है, **तत्** = वह, **को** = कौन, **वेद** = जानता है? इसलिए, **स्वयं** = अपने, **मनसा** = मन से, **यावन्तम्** = जितने परिमाण को, **एव** = ही, **सत्रा** = अतिशय, **पृथुं** = फैला हुआ, **न** = नहीं, **मन्येत** = माने, **एवं** = इस परिमाण का, **कुर्यात्** = पुरोडाश बनाये।।10।।

रेणु-व्याख्या–कुछ आचार्यों का कहना है कि घोड़े की टाप (खुर) के बराबर के परिमाण का ही पुरोडाश बनाये किन्तु वह घोड़े की टाप (खुर) कितनी बड़ी या छोटी होती है? यह कौन जानता है? अर्थात् यह परिमाण भी संशयास्पद है। इसलिए याज्ञवल्क्य यहाँ समाधान देते हुए कहते हैं कि जितने परिमाण को अपने मन से अतिशय फैला हुआ न मानता हो, इतने परिमाण का पुरोडाश निर्माण करे। अर्थात् पुरोडाश का प्रथन इतना ही करे जिससे प्रथनकर्त्ता की बुद्धि यह कहे कि यह दैवी ही है मानुषी नहीं, इस बात को ध्यान में रखकर पुरोडाश को फैलावे।।10।।

[पुरोडाशस्याद्भिरभिमर्शनम्]

1.2.2.11. (त्त) तमद्भिरभिमृशति। सकृद्वा त्रिर्व्वा तद्यदेवास्यात्रावघ्नन्तो वा पिंषन्तो वा क्षण्वन्ति वा व्वि वा व्वृहन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति तस्मादद्भिरभिमृशति।।11।।

ऋजुपाठः–तमद्भिरभिमृशति–सकृद्वा त्रिर्वा। तद्यदेवास्यात्रावघ्नन्तो वा पिंषन्तो वा क्षण्वन्ति वा वि वा वृहन्ति, शान्तिरापः, तदद्भिः शान्त्या शमयति। तदद्भिः सन्दधाति। तस्मादद्भिरभिमृशति।।11।।

सा.भा.–पुरोडाशस्याद्भिरभिमर्शनं विधत्ते–**तमिति**। 'क्षण्वन्ति' हिंसन्ति। "क्षणु हिंसायाम्" (त.प. 3)–इति धातुः। 'विवृहन्ति' विश्लेषयन्ति। "वृहू उद्यमने" (तु. प. 67) इति धातुः। **शान्तिराप** इति। दाहतृष्णादिशमनहेतुत्वेनापां शान्तिरूपता।।11।।

अन्वयः–तं (पुरोडाशं) सकृत् त्रिर्वा अद्भिः अभिमृशति। अस्य अवघ्नन्तो वा पिंषन्तो वा अत्र यदेव क्षण्वन्ति वा विवृहन्ति वा। (यतः) आपः शान्तिः, तत् अद्भिः शान्त्या शमयति। तत् अद्भिः सन्दधाति। तस्मात् अद्भिः अभिमृशति।।11।।

पदार्थः–**तं** = उस पुरोडाश को, **सकृत्** = एकबार, **त्रिर्वा** = या तीन बार, **अद्भिः** = जलों से, **अभिमृशति** = स्पर्श करता है (अभिमर्शन द्वारा शुद्ध करता है), **अस्य** = इस पुरोडाश का, **अवघ्नन्तो** = कूटते हुए, **वा** = अथवा, **पिंषन्तो** = पीसते हुए, **वा** = अथवा, **विवृहन्ति** = अलग-अलग करता है। (क्योंकि), **आपः** = जल, **शान्तिः** = शान्ति का प्रतीक है, **तत्** = इसलिए, **अद्भिः** = जलों से, **शान्त्या** = शान्तिरूप से, **शमयति** = क्षीणताओं (विघातों) को उपशमित करता है। **तत्** = उस, **अद्भिः** = जलों से, **शान्त्या** = शान्ति रूप से, **शमयति** = क्षीणताओं (विघातों) को उपशमित करता है। **तत्** = उन, **अद्भिः** = जलों से, **अभिमृशति** = स्पर्श कराता है।।11।।

रेणु-व्याख्या–विधिवत् कपालों के ऊपर फैलाए हुए पुरोडाश को जल से स्पर्श करता है। अब पुनः प्रश्न उठता है कि कितनी बार स्पर्श करे? तो याज्ञवल्क्य कहते हैं कि एकबार या तीन बार। जल से स्पर्श कराने का हेतु स्पष्ट करते हुए महर्षि कहते हैं कि ऊखल मुसल द्वारा व्रीहि का कुट्टन, सिलबट्टे द्वारा पेषण आदि कार्य जो किए गए, उन कार्यों द्वारा जो पिष्ट की पौष्टिकता में क्षति आई है, उस क्षति की पूर्ति के लिए जल से अभिमर्शन किया जाता है। चूँकि जल सभी विघातों (उपद्रवों, क्षीणताओं) का शामक है। जलाभिमर्शन से पुरोडाश को दुर्बलताओं (विघातों) से अलग (दूर) किया जाता है। जल शान्ति का प्रतीक है, अतः शान्तिरूप जल के स्पर्श कराने से समस्त दोष शान्त हो जाते हैं, देवत्वगुण का आधान हो जाता है। वस्तुतः जल के अभिमर्शन का महत्त्व शतपथ ब्राह्मण के प्रथमाध्याय के प्रथम मन्त्र (ब्राह्मण) में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। तदनुसार क्षति पूरक जल है ऐसा निश्चित है। इसलिए जलों से स्पर्श कराता है।।11।।

[समन्त्रकाभिमर्शनविधानम्]

1.2.2.12. सोऽभिमृशति। (त्य) अग्निष्टे त्वचं मा हि थ्ठ्ँ सीदित्यग्निना वा ऽएनमेतदभितप्स्यन्भवत्येष ते त्वचं मा हि थ्ठ्ँ सीदित्येवैतदाह।।12।।

ऋजुपाठः–सोऽभिमृशति–"**अग्निष्टे त्वचं मा हिथ्ठ्ँसीत्**"–(1 अ. 22 मं.) इति। अग्निना वा एनमेतदभितप्स्यन् भवति। एष ते त्वचं मा हिंसीदित्येवैतदाह।।12।।

सा.भा.–सोऽभिमृशतीत्यादिविहिताभिमर्शनानुवादेन मन्त्रविधिः। मन्त्रेणाहिंसाप्रार्थनं युक्तमिति व्याचष्टे–**अग्निना** वा इति। **अभितप्स्यन्निति**। अभितः सर्वतस्तपनं करिष्यन्नित्यर्थः।।12।।

अन्वयः–सः 'अग्निष्टे त्वचं मा हि थ्ठ्ँ सीत् इति अभिमृशति। एनम् अग्निना वा अभितप्स्यन् एतत् भवति। (अतः) एष ते त्वचं मा हिंसीत् इति एव एतत् आह।।12।।

पदार्थः–**सः** = वह अध्वर्यु, **अग्निः** = अग्निदेव, **ते** = तुम्हारी, **त्वचं** = त्वचा की, **मा** = नहीं, **हिंसीत्** = हिंसा करे, **इति** = इति मन्त्रांश को पढ़कर, **अभिमृशति** = जल का स्पर्श करता है। **एनम्** = इस पुरोडाश को, **अग्निना** = अग्नि द्वारा, **वा** = ही, **अभितप्स्यन्** = तपाते हुए (सर्वतोभावेन तपाने की इच्छावाला होकर), **एतत्** = यह कर्म, **भवति** = होता है (करता है), इसलिए **एष** = यह अग्नि, **ते** = तुम्हारी, **त्वचं** = त्वचा को, **मा** = नहीं, **हिंसीत्** =

हिंसित करे, **इति** = ऐसा, **एव** = ही, **एतत्** = यह, **आह** = कहता है॥12॥

रेणु-व्याख्या—अभिभर्शन के समय अध्वर्यु 'अग्निष्टे त्वचं मा हिंसीत्' (यजु. 1.22) अर्थात् अग्निदेव तुम्हारी त्वचा की हिंसा न करें (न जलाएँ) इस मन्त्र का पाठकर जल का स्पर्श करता है। क्योंकि इस पुरोडाश को अग्नि पर चढ़ाकर ही पकायेगा, उसको पकाते हुए अग्निदेव उसकी हिंसा नहीं करें अर्थात् उसे न जलाएँ इस अभिप्राय से ही 'अग्नि तुम्हारी त्वचा को हिंसित न करें' यह मन्त्र पढ़ता है॥12॥

[पुरोडाशस्य पर्यग्निकरणम्]

1.2.2.13. तं पर्यग्निं करोति। (त्य) अच्छिद्रमेवैनमेतदग्निना परिगृह्णाति नेदेनं नाष्ट्रा रक्षाꣳसि प्रमृशानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मात्पर्यग्निं करोति॥13॥

ऋजुपाठः—तं पर्यग्निं करोति। अच्छिद्रमेवैनमेतदग्निना परिगृह्णाति—नेदेनं नाष्ट्रा रक्षांसि प्रमृशानिति। अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता—तस्मात् पर्यग्निं करोति॥13॥

सा.भा.—पर्यग्निकरणं विधत्ते—**तमिति**। परितोऽग्निर्यस्य सः 'पर्यग्निः' परितोऽग्निमन्तं पुरोडाशं करोतीत्यर्थः। तस्य प्रयोजनमाह—**अच्छिद्रमिति**। राक्षसादिसंस्पर्शाभावार्थं प्राकारवन्नीरन्ध्रमग्निना वेष्टनं कृतवान् भवतीत्यर्थः॥13॥

अन्वयः—तं (पुरोडाशं) पर्यग्निं करोति। न इत् एवं नाष्ट्रा रक्षांसि प्रमृशान् इति (बुद्ध्या) अच्छिद्रम् एव एनम् अग्निना परिगृह्णाति। हि अग्निः रक्षसामपहन्ता तस्मात् पर्यग्निं करोति॥13॥

पदार्थः—(जल स्पर्श करने के बाद अध्वर्यु) **तं** = उस (पुरोडाश) को, **पर्यग्निं** = चारों ओर अग्नि से घेरा, **करोति** = बनाता है। **न** = नहीं, **इत्** = इधर-उधर से, **एनं** = इस (पुरोडाश) को, **नाष्ट्रा** = नाशकारी (यज्ञविघातक), **रक्षांसि** = राक्षस (रोकू, बाधक), **प्रमृशान्** = स्पर्श करे, **इति** = इस बुद्धि से, **अच्छिद्रम्** = छिद्ररहित, **एव** = ही, **एनम्** = इस (पुरोडाश) को, **अग्निना** = अग्नि से, **परिगृह्णाति** = चारों ओर परिखा की तरह घेरा बनाता है। **हि** = क्योंकि, **अग्निः** = अग्नि, **रक्षसाम्** = राक्षसों का, **अपहन्ता** = मारक है, **तस्मात्** = इसलिए, **पर्यग्निं** = अग्नि से सब ओर घेरा, **करोति** = बनाता है॥13॥

रेणु-व्याख्या—जल से अभिमर्शन करने के बाद अध्वर्यु पुरोडाश को पकाने के लिए उसके चारों ओर अग्नि डालकर आच्छादित करता है। इस आच्छादन का दो कारण है

एक तो अच्छी प्रकार पुरोडाश को पकाना है, दूसरा कारण है कि किसी भी दिशा से नाशकारी एवं यज्ञ-विघातक (विषाणुरूप) असुर राक्षसादि आकर देवताओं के निमित्त निर्मीयमाण हवि को ग्रहण न कर लें। देवताओं से पहले उक्त हवि को राक्षसादि स्पर्श करके दूषित न कर दें। इससे सुरक्षा करने के लिए अग्नि को पुरोडाश के चारों ओर रखकर उसे ढँककर दहकते हुए अग्नि का एक सुरक्षाचक्र तैयार करता है। यह परम्परा आज भी देश की सीमा पर स्पष्ट परिलक्षित होती है। वहाँ भी सीमा पर खम्भे लगाकर उसमें लोहे की तार लपेटी रहती है, जिसमें विद्युत् का प्रवाह रहता है, जिससे शत्रु सीमा पार न कर सकें। चूँकि अग्नि ही राक्षसों का मारक (नाशक) है। इसलिए पर्यग्निकरण करने का विधान किया गया है। यह पर्यग्निकरण अच्छिद्र होना चाहिए। क्योंकि 'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति' इस आभाणक के अनुसार कहीं भी रिक्त नहीं छोड़ना चाहिए। पर्यग्नि का अर्थ भी यही है 'परितोऽग्निर्यस्य सः पर्यग्निः' इस प्रकार पर्यग्निकरण कर पुरोडाश के चारों ओर अग्नि का घेरा रूप सुरक्षाचक्र बनाता है।।13।।

[समन्त्रकं पुरोडाशश्रपणम्]

1.2.2.14. तꣳ श्रपयति। देवस्त्वा सविता श्रपयत्विति न वा ऽएतस्य मनुष्यः श्रपयिता देवो ह्येष तदेनं देवऽएव सविता श्रपयति व्वर्षिष्ठेऽधिनाक इति देवत्रोऽएतदाह यदाह व्वर्षिष्ठेऽधिनाक ऽइति तमभिमृशति श्रृतं व्वेदानीति तस्माद्वा ऽअभिमृशति।।14।।

ऋजुपाठः–तं श्रपयति–"देवस्त्वा सविता श्रपयतु"–(1 अ. 22 मं.) इति। न वा एतस्य मनुष्यः श्रपयिता। देवो ह्येषः, तदेनं देव एव सविता श्रपयति। "वर्षिष्ठेऽधिनाके"–(1 अ. 22 मं.) इति। देवत्रो एतदाह यदाह–वर्षिष्ठेऽधिनाक इति। तमभिमृशति–श्रृतं वेदानीति। तस्माद्वा अभिमृशति।।14।।

सा.भा.–समन्त्रकं श्रपणं विधत्ते–**तमिति। वर्षिष्ठेऽधिनाक** इति। मन्त्रपाठे 'देवत्रो' देवान् प्रत्येवैतदाह। वर्षिष्ठे वृद्धतमे 'नाके' स्वर्गे 'देवः' सविता श्रपयत्विति हि मन्त्रार्थः। तथा च तल्लोकवासिनो देवान् प्रत्येवैतद्वचनम्। "देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः" (पा.सू. 5.4.56.)–इति द्वितीयार्थे 'त्रा'–प्रत्ययः। श्रपणानन्तरं तस्याभिमर्शनं विधत्ते–**तमिति।** अभिमृशतोऽभिप्रायमाह–**शृतमिति।** 'शृतम्' पक्वं जानामीत्यर्थः। 'श्रा पाके'–(अ.प. 43) इत्यस्मान्निष्ठायाम् "शृतं पाके" (पा.सू. 6.1.27.) इति निपातितम्। 'वेदानि'–इति "विद् ज्ञाने" (अ.प. 54) इत्यस्माल्लोट्युत्तमैक- वचनम्।।14।।

अन्वयः–तं (पुरोडाशं) 'देवस्त्वा सविता श्रपयतु' इति (मन्त्रेण) श्रपयति। न वा मनुष्यः एतस्य श्रपयिता। देवो हि एषः। तत् एवं सविता देव एव श्रपयति 'वर्षिष्ठेऽधिनाके' इति (मन्त्रेण)। यत् आह वर्षिष्ठेऽधिनाक इति देवत्रो एतत् आह। तं 'शृतं वेदानि' इति अभिमृशति। तस्माद्वा अभिमृशति।।14।।

पदार्थः–**तम्** = उस (पुरोडाश) को, **देवः** = देवता, **त्वा** = तुझे, **सविता** = जगत् प्रेरक, **श्रपयतु** = पकावें, **इति** = इस मन्त्र से, **श्रपयति** = पकाता है। **न** = नहीं, **वा** = ही, **मनुष्यः** = मनुष्य, **एतस्य** = इसका, **श्रपयिता** = पाक करनेवाला है। **देवो** = देवता विशेष, **हि** = ही, **एषः** = यह है। **तत्** = इसलिए, **सविता** = सबके प्रेरक, **देव** = दिव्यगुणयुक्त, **एव** = ही, **श्रपयति** = पकाता है, **वर्षिष्ठे** = उत्कृष्ट, **अधिनाके** = स्वर्ग में, **इति** = इस मन्त्र से। **यत्** = जो, **आह** = यह कहता है कि, **वर्षिष्ठे** = उत्कृष्ट, **अधिनाके** = स्वर्ग में, **इति** = ऐसा, **देवत्रो** = देवताविषयक ही निश्चय रूप से, **एतत्** = इसके विषय में, **आह** = कहता है। **तं** = उस, **शृतं** = पके हुए को, **वेदानि** = जान लूँ, **इति** = ऐसा विचारकर, **अभिमृशति** = छूता है (स्पर्श करता है), **तस्मात्** = इसलिए, **वा** = ही, **अभिमृशति** = स्पर्श करता है।।14।।

रेणु-व्याख्या–पर्यग्निकरण के उपरान्त अध्वर्यु उस पुरोडाश को 'देवस्त्वा सविता श्रपयतु' (यजु. 1.22) इस मन्त्रांश को पढ़कर कि 'सविता देवता तुम्हें पकावें' इस भाव से पकाता है। चूँकि उस पुरोडाश को पकानेवाला कोई मनुष्य नहीं हो सकता, जो उसे पकानेवाला है वह देवता ही है। इसलिए इस पुरोडाश को सविता देवता ही उत्कृष्ट स्वर्गलोक में पकाते हैं इस भाव को स्पष्ट करने के लिए 'वर्षिष्ठेऽधिनाके' (यजु. 1.22) इस मन्त्रांश का प्रयोग करता है। यह कहने के द्वारा देवताविषयक यह पुरोडाश है ऐसा सिद्ध करता है। उसके बाद पुरोडाश पका कि नहीं यह जानने के लिए उसे कुछ समय बीतने पर स्पर्श करता है। छूते समय 'शृतं वेदानि' 'पका कि नहीं यह जान लूँ' यह मन्त्र पढ़कर स्पर्श करता है। इस प्रकार परिपक्वता को जानने के लिए ही छूता है।।14।।

[शृताशृतं ज्ञानाय पुरोडाशाभिमर्शनम्]

1.2.2.15. सोऽभिमृशति माभेर्मा संव्विक्था इति मा त्वं भैषीर्मा संव्विक्था यत्त्वाहममानुषꣳ सन्तं मानुषोऽभिमृशामीत्येवैतदाह।।15।।

ऋजुपाठः–सोऽभिमृशति–"मा भेर्मा संविक्थाः"–(1 अ. 23 मं.) इति। मा त्वं भैषीर्मा संविक्थाः–यत्त्वाहममानुषं सन्तं मानुषोऽभिमृशामीत्येवैतदाह।।15।।

सा.भा.–विहितमभिमर्शनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते–**सोऽभीति।** मन्त्रगतम् 'भेः' इत्येतत्पदं व्याचष्टे–**मा त्वं भैषीरिति।** 'मा संविक्था:'–इति मा च कम्पिष्ठा इत्यर्थः। भयकम्पयोः कारणमाह–**यत्त्वेति**।।15।।

अन्वयः–सः 'मा भेर्मा संविक्था' इति (मन्त्रेण) अभिमृशति। त्वं मा भैषीः मा संविक्था यत् त्वा अमानुषं सन्तम् अहं मानुषः अभिमृशामि इति एतत् एव आह।।15।।

पदार्थः–**सः** = वह (अध्वर्यु), **मा** = मत, **भेः** = डरो, **मा** = मत, **संविक्थाः** = काँपो (घबराओ), **इति** = इस मन्त्र को पढ़कर, **अभिमृशति** = पक्वापक्व ज्ञान करने के लिए पुरोडाश को स्पर्श करता है, **त्वं** = तुम, **मा** = मत, **भैषीः** = डरो, **मा** = मत, **संविक्थाः** = घबराओ, **यत्** = कि, **त्वा** = तुझे, **अमानुषं** = अमानवीय अर्थात् दैवीय, **सन्तं** = होते हुए को, **अहं** = मैं, **मानुषः** = मनुष्य (होकर), **अभिमृशामि** = स्पर्श करता हूँ, **इति** = ऐसा, **एतत्** = इस मन्त्र द्वारा, **एव** = ही, **आह** = कहता है।।15।।

रेणु-व्याख्या–यह पुरोडाश दैवीयगुणयुक्त है, पका कि नहीं यह जानने हेतु अध्वर्यु जब उसको छूने के लिए उद्यत होता है तो मानव से देवताओं का स्पृश्यापृश्य दोष नित्य होने के कारण पुरोडाश के अन्दर भय उत्पन्न होना स्वाभाविक होता है। इसको नजर अन्दाज करना मानो दोषों को छुपाने जैसा ही है। दोष छुपाने से नहीं अपितु दोषों को रोकने से स्थिति में सुधार होती है। छोटे-छोटे दोषों को छुपाने से बड़े-बड़े दोष स्वभाव में आ जाते हैं। अतः देव-दानव एवं मानव इन तीनों में जो उचित अन्तर तथा इन तीनों के मध्य का जो अन्तराल है उसे समझना अत्यन्त आवश्यक होता है। सब अपनी-अपनी मर्यादा में रहे तो किसी को कोई दिक्कत नहीं होगी। जब कोई एक भी व्यक्ति मर्यादा भंग करता है तो "एक पापी ले डुबा है नाव को मझधार में" यह स्थिति उत्पन्न होती है। अतः दैनन्दिन व्यवहार एवं जीवन को सुरक्षित रखने के लिए वेदोक्त मर्यादा का पालन करना समस्त प्राणियों के लिए अनिवार्य एवं हितकर है। वेद का यह उद्घोष है कि स्पृश्यापृश्य को सतत् ध्यान में रखकर कार्य करना चाहिए।

अतएव अध्वर्यु जो मानवशरीरधारी अवश्य है किन्तु दैर्वत्विक्वरण द्वारा देवत्व को प्राप्त कर चुका है इसलिए पुरोडाश से कहता है कि "तुम डरो मत, घबराओ मत" माभेर्मा संविक्थाः (यजु. 1.23) क्योंकि मैं मनुष्यरूप में हूँ एवं तुम देवरूप हो, मैं मनुष्य होते हुए तुम देवरूप को स्पर्श करता हूँ ऐसा इस मन्त्र द्वारा स्पष्ट किया गया है।।15।।

[पुरोडाशस्य भस्मनाऽभिवासनम्]

1.2.2.16. यदा श्रृतोऽथाभिवासयति। नेदेनमुपरिष्टान्नाष्ट्रा रक्षाᳬंस्यवपश्यानिति नेद्वेव नग्नऽइव मुषितऽइव शयाता ऽइत्यु चैव तस्माद्वा ऽअभिवासयति॥16॥

ऋजुपाठः—यदा शृतः, अथाभिवासयति-नेदेनमुपरिष्टान्नाष्ट्रा रक्षांस्यवपश्यानिति। नेद्वेव नग्न इव मुषित इव शयाता इत्यु चैव, तस्माद्वा अभिवासयति॥16॥

सा.भा.—**यदा शृत** इति। 'यदा' यस्मिन् काले स पुरोडाशः शृतः पक्वो भवति, 'अथ' अनन्तरमेव तस्योपरि 'अभिवासयति' साङ्गारेण भस्मनाच्छादयतीत्यर्थः। तस्य प्रयोजनमाह—**नेदिति**। प्रयोजनान्तरं सदृष्टान्तमाह—**नेद्वेवेति**। नग्नः स्वभावो विवसनः। मुषितः चौरादिभिरपहतवसनः। तावुभौ यथा निरावरणौ 'शयाते' तद्वत् पुरोडाशोऽप्यभिवासनाभावे निरावरणः शयीत। नैव तथा शयीतेत्यनेनैवाभिप्रायेणाभिवासनं कर्त्तव्यमित्यर्थः॥16॥

अन्वयः—यदा शृतः (इति ज्ञातो भवति तदा) एनम् इत् उपरिष्टात् नाष्ट्रा रक्षांसि न अवपश्यान् इति (बुद्ध्या) अभिवासयति। वा इत् उ एव नग्न इव मुषित इव न शयाता इति उ चैव तस्मात् अभिवासयति॥16॥

पदार्थः—**अथ** = छूकर देखने के बाद, **यदा** = जब, **शृतः** = पक गया (ऐसा ज्ञान हो जाये तब), **एनम्** = इस (पुरोडाश) को, **इत्** = कदाचित्, **उपरिष्टात्** = ऊपर से, **नाष्ट्रा** = नाशकारी, **रक्षांसि** = यज्ञ के बाधक (रोकू), **न** = नहीं, **अवपश्यान्** = देखें। **वा** = अथवा, **इत्** = कहीं, **उ** = निश्चितरूप से, **एव** = ही, **नग्न** = नंगा, **इव** = के जैसा (खुला), **मुषित** = लुटा हुआ (चोरी किया हुआ) **इव** = जैसा, **न** = नहीं, **शयाता** = राक्षसादि इसमें घुसकर सो जाएँ, **इति** = इस भाव से, **उ** = ही, **चैव** = और भी, **तस्मात्** = इसलिए, **अभिवासयति** = भस्म से आच्छादित करता है॥16॥

रेणु-व्याख्या—अध्वर्यु छूकर देखने के बाद जब यह समझ जाए कि पुरोडाश पक गया है तो उसे अग्नि के भस्म से ढँक देता है। ढँकने का प्रयोजन यह है कि देवताओं के निमित्त बनने वाली हवि पर असुर राक्षसादि अपनी बुरी दृष्टि डालने के लिए सतत् तैयार बैठे रहते हैं।

वस्तुतः असुर एवं राक्षसों का यह स्वभाव होता है कि वे अपनी हानि से कम अपितु देवताओं के उत्कर्ष से अधिक दुःखी होते हैं। ऐसी प्रवृत्ति के मनुष्य संसार

में अधिक पाए जाते हैं। चूँकि मानव में देव एवं दानव दोनों के गुण विद्यमान होते हैं। उसमें भी कुछ में दैवीय प्रवृत्ति का आधिक्य तो किसी में आसुरीय प्रवृत्ति का आधिक्य होता है। आसुरीय प्रवृत्ति की अधिकता वाले मानव में यह स्वभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। स्वयं को प्राप्त हो या न हो किन्तु दूसरे की थाली अवश्य छीनने तथा नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उसका अनुभव तो मुझे भी हुआ है, तो लगभग सबको थोड़ा बहुत हुआ ही होगा। अतः असुरों की बुरी दृष्टि किसी से अपरिचित नहीं रही।

असुरों की बुरी दृष्टि इस पुरोडाश पर परने से तथा स्पृश्य होने से इसकी शुद्धता नष्ट हो जाएगी। इसलिए उसे भस्म से ढँकता है। इस प्रकार ढँकता है कि कहीं खाली न रहे। चूँकि कहीं भी अगर नग्न रह गया तो वहीं से असुर उसमें घुसकर उसके सारांश को चुरा लेंगे। इसलिए अच्छी तरह भस्म से आच्छादित करता है।।16।।

[अभिवासनविधिः]

1.2.2.17. सोऽभिवासयति। (त्य) अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयादिति नेदेतदनु यज्ञो वा यजमानो वा ताम्याद्यदिदमभिवासयामीति तस्मादेवमभिवासयति।।17।।

ऋजुपाठः–सोऽभिवासयति–"अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्"–(1 अ. 23 मं.) इति। नेदेतदनु यज्ञो वा यजमानो वा ताम्याद्–यदिदमभिवासयामीति। तस्मादेवमभिवासयति।।17।।

सा.भा.–सोऽभिवासयतीत्यादिर्मन्त्रविधिः। 'अतमेरुः' अतमनशीलः। इज्यतेऽनेनेति 'यज्ञः' पुरोडाशः, स ग्लानिरहितोऽभूत्। अतो यजमानस्य पुत्रादिरपि तथा भूयादिति मन्त्रार्थः। इममर्थं प्रतिपादयति–**नेदेतदिति।** यदिदमभिवासनम्, 'एतदनु' एतस्यानन्तरमित्यर्थः। **तस्मादिति।** अतमेरुरिति–मन्त्रप्रयोगेणाभिवासन-कृततमनाभावादित्यर्थः।।17।।

अन्वयः–सः (अध्वर्यु) 'अतमेरुः' यज्ञो अतमेरुः यजमानस्य प्रजा भूयात् इति (मन्त्रेण) अभिवासयति। य इदम् अभिवासयामि इति! एतत् अनु यज्ञो वा यजमानो वा न ताम्यात् इति। तस्मात् एवम् अभिवासयामि।।17।।

पदार्थः–सः = वह (अध्वर्यु), **अतमेरुः** = ग्लानिरहित, **यज्ञः** = यज्ञ का साधन पुरोडाश होवे, **अतमेरुः** = ग्लानिरहित, **यजमानस्य** = यजमान की, **प्रजाः**

= सन्तान, **भूयात्** =हों, **इति** = इस भाव वाले मन्त्रांश से, **अभिवासयति** = राख (भस्म) से आच्छादित करता है। **यत्** = जो, **इदम्** = इसे, **अभिवासयामि** = आच्छादित करता हूँ, **इति** = इससे, **यज्ञो** = यज्ञ का साधनभूत पुरोडाश, **वा** = तथा, **यजमानो** = यजमान, **वा** = भी, **इत्** = कभी, **एतत्** = इसके, **अनु** = बाद (पश्चात्), **न** = नहीं, **ताम्यात्** = ग्लानियुक्त हो, **तस्मात्** = इसलिए, **एवम्** = इस प्रकार, **अभिवासयति** = आच्छादित करता है॥17॥

रेणु व्याख्या–वह अध्वर्यु 'अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्' (यजु. 1.23) इस मन्त्रांश को पढ़कर कहता है कि–'यज्ञ का साधनभूत पुरोडाश एवं यजमान की प्रजा ग्लानिरहित हो' इस भाव से अंगार की राख (भस्म) से पुरोडाश को ढँकता है, फिर कहता है कि जो यह इसे मैं आच्छादित कर रहा हूँ इससे बाद में यज्ञ का साधनभूत पुरोडाश एवं यजमान कभी भी ग्लानियुक्त न हो। इसलिए इस प्रकार समन्त्रक भस्म से पुरोडाश को आच्छादित करता है॥17॥

[पात्र्यङ्गुलिप्रक्षालनोदकनिनयनम्]

1.2.2.18. (त्यु) अथ पात्रीनिर्णेजनम्। (म) अङ्गुलिप्रणेजनमाप्त्येभ्यो निनयति तद्यदाप्त्येभ्यो निनयति॥18॥

इति प्रथमप्रपाठके षष्ठं संलग्नब्राह्मणम् 6 (काण्डिका: 121) (2.2) ॥ समाप्तश्च प्रथमः प्रपाठकः॥1॥

ऋजुपाठः–अथ पात्रीनिर्णेजनमङ्गुलिप्रणेजनमाप्त्येभ्यो निनयति। तद्यदाप्त्येभ्यो निनयति॥18॥

सा.भा.–पात्र्यङ्गुलिप्रक्षालनोदकस्य निनयनं विधत्ते–**अथेति।** निर्णिज्यते शोध्यतेऽनेनेति 'निर्णेजनम्' अङ्गुलिप्रक्षालनम्, पात्रीनिर्णेजनं चोदकम्। अद्भ्यो जातत्वात् 'आप्त्याः' त्रितादयस्तेभ्यो निनयेदित्यर्थः। विहितं निनयनं स्तोतुमनुवदति–**तद्यदिति**॥18॥6॥ (2.2)

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे माध्यन्दिनशतपथभाष्ये प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्, प्रपाठकश्च प्रथमः समाप्तः।

अन्वयः–अथ पात्री निर्णेजनं (विधत्ते)। अङ्गुलि प्रणेजनम् आप्त्येभ्यो निनयति। तत् यत् आप्त्येभ्यो निनयति (तदग्रे प्रतिपादयिष्यते)॥18॥

पदार्थः–अथ = उसके बाद, **पात्रीनिर्णेजनम्** = पुरोडाशपात्री को धोकर इसके जल को तथा, **अङ्गुलिप्रणेजनम्** = अङ्गुलियों को धोकर उस धोवन जल को, **आप्त्येभ्यो** = आप्त्य देवों के लिए, **निनयति** = गिराते हुए डालता है। **तत्** = वह, **यत्** =जो, **आप्त्येभ्यो** = आप्त्य देवों के लिए, **निनयति** = डालता है (उसका प्रयोजन आगे कहा जाएगा)।।18।।

रेणु व्याख्या–पुरोडाश को भस्म से आच्छादित करने के बाद अब पुरोडाशपात्री जिसमें आटा गूँथा गया था उसके धोवन जल को तथा हाथ में आटा गूँथते समय जो अंगुलियों में आटा लगा था उसे धोकर उस धोवन जल को नीचे की ओर गिराता है। यह वस्तुतः आप्त्य (त्रित) देवों के लिए पात्रीप्रक्षालन एवं अंगुलि प्रक्षालन जल डालता है, उसका प्रयोजन आगे प्रतिपादित किया जाएगा।।18।।

इस प्रकार माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के प्रथमकाण्ड के

द्वितीयाध्याय के द्वितीयब्राह्मण की रेणु हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।।

प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

[आप्त्योत्पत्त्युपाख्यानम्]

1.2.3.1. चतुर्द्धा विहितो ह वा ऽअग्रेऽग्निरास। स यमग्रेऽग्निꣳहोत्राय प्रावृणत स प्राधन्वद्यं द्वितीयं प्रावृणत स प्रैवाधन्वद्यं तृतीयं प्रावृणत स प्रैवाधन्वदथ योऽयमेतर्ह्यग्निः स भीषा निलिल्ये सोऽपः प्रविवेश तं देवाऽ अनुविद्य सहसैवाद्भ्यऽआनिन्युः सोऽपोऽभितिष्ठेवावष्ठ्यूता स्थ या ऽअप्रपदनꣳस्थ याभ्यो वा मामकामं नयन्तीति ततऽ आप्त्याः सम्बभूवुस्त्रितो द्वित एकतः॥1॥

ऋजुपाठः—चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास। स यमग्रेऽग्निं होत्राय प्रावृणत स प्राधन्वत्। यं द्वितीयं प्रावृणत—स प्रैवाधन्वत्। यं तृतीयं प्रावृणत—स प्रैवाधन्वत्। अथ योऽयमेतर्ह्यग्निः—स भीषा निलिल्ये। सोऽपः प्रविवेश। तं देवा अनुविद्य सहसैवाद्भ्य आनिन्युः। सोऽपोऽभितिष्ठेव अवष्ठ्यूता स्थ—या अप्रपदनं स्थ, याभ्यो वो मामकामं नयन्तीति। तत आप्त्याः सम्बभूवुः—त्रितो, द्वित, एकतः॥1॥

सा.भा.—निर्णेजननिनयनस्याप्त्यभागत्वमुपपादयितुं तावत्तेषामुत्पत्तिमाह—**चतुर्द्धा** इत्यादिना। पुरा खल्वग्निः शरीरचतुष्टयधारणेन चतुर्विधो बभूव। तत्र 'यम्' अग्निं 'सः' अध्वर्युः 'होत्राय' होतृकर्म्मणे 'प्रावृणत' प्रवृतवान्। व्यत्ययेन बहुवचनम्; (पा.सू. 3।1।85। इहास्ति चेयं कारिका—"सुप्तिङ्डुपग्रहलिङ्गनराणां, कालहलच्स्वरकर्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन" इति।) यद्वा सुपां सुपो भवन्तीति तच्छब्दाज्जसः स्थाने सुः, (पा.सू. 7।1।39) ते देवा इत्यर्थः। 'सः' अग्निः 'प्राधन्वत्' प्रागच्छत्, अम्रियतेत्यर्थः। "धवि गमने" (भ्वा.प. 598)—इति धातुः। **अथ योऽयमित्यादि।** एवं त्रिष्वप्यग्निषु प्रगतेषु 'अथ' अनन्तरभावी 'योऽयम्' इदानीन्तनश्चतुर्थोऽग्निः 'सः' अयम् 'भीषा'

पूर्वाग्निवन्मरणमयेन 'निलिल्ये' निलीनोऽन्तर्हितो बभूव। स निलीय चापः प्रविवेश। 'तम्' अप्सु प्रविष्टं देवाः 'अनुविद्य' ज्ञात्वा, 'सहसैव' बलात् 'अद्भ्यः' सकाशात् 'आनिन्युः' आजह्रुः। 'सः' च बलादानीयमानोऽग्निरपः 'अभि'–लक्ष्य 'तिष्ठेव' ष्ठीवनं कृतवान्। "ष्ठिवु निरसने" (भ्वा.प. 561)–इत्यस्माल्लिट्। केनाभिप्रायेण ष्ठीवनमिति तं दर्शयति–हे आपः! 'याः' यूयं भीतस्य मम 'अप्रपदनं स्थ' अनाश्रयभूताः स्थ, 'याभ्यः' च 'वः' पञ्चम्यर्थे चतुर्थी, (पा.सू. 3।1।85) युष्मत्सकाशात् 'अकामम्' इच्छारहितं मां बलान्नयन्ति, ता यूयम् 'अवष्ठ्यूता स्थ' ष्ठीवनेन दूषिता भवतेति। यथा लोके परैः प्रार्थितं कार्य्यं कर्तुमक्षमः ष्ठीवनेन निन्द्यते, तद्वदपां निन्दा विवक्षिता। **तत** इत्यादि। 'ततः' निष्ठीवनलक्षणवीर्यधारणात् ताभ्योऽद्भ्यः सकाशात् त्रितादिसंज्ञका आप्त्या उत्पन्नाः। अद्भ्यो जातत्वाच्च तेषाम् 'आप्त्य' इति संज्ञा।।1।।

अन्वयः–अग्रे ह वै अग्निः चतुर्धा विहितः आस। यम् अग्निम् अग्रे सः (देवाः) होत्राय प्रावृणत सः प्राधन्वत् यं द्वितीयं प्रावृणत सः प्र एव अधन्वत्। यं तृतीयं प्रावृणत सः प्र एव अधन्वत्। (तदनन्तरं) यः अयम् एतर्हि (इदानीन्तनः) अग्निः (अस्ति) सः भीषा निलिल्ये, अपः प्रविवेश। तम् अनुविद्य देवाः सहसा एव अद्भ्य आनिन्युः। सः अप अभि (लक्ष्य) तिष्ठेव (हे आपः यूयं) अवष्ठ्यूताः स्थ, याः अप्रपदनं स्थ, याभ्यो वः माम् अकामं नयन्ति इति। तत आप्त्याः सम्बभूवुः त्रितः द्वितः एकतः।।1।।

पदार्थः–**अग्रे** = पहले, **ह** = प्रसिद्ध, **वै** = निश्चितरूप से, **अग्निः** = अग्नि, **चतुर्द्धा** = चार भागों में, **विहितः** = विभक्त, **आस** = था। **यम्** = जिस, **अग्निम्** = अग्नि को, **अग्रे** = पहले, **सः** = देवताओं ने, **होत्राय** = होता (हवन करने वालों) के रूप में, **प्रावृणत** = वरण किया था, **सः** = वह, **प्राधन्वत्** = निकलकर भाग गया। **यं** = जिसको, **द्वितीयं** = द्वितीय अग्नि को, **प्रावृणत** = वरण किया था, **सः** = वह, **प्र** = शीघ्र, **एव** = ही, **अधन्वत्** = भाग गया, **यं** = जिस, **तृतीयं** = तृतीय अग्नि को, **प्रावृणत** = वरण किया था, **सः** = वह, **प्र** = शीघ्र, **एव** = ही, **अधन्वत्** = भाग गया। तब, **यः** = जो, **अयम्** = यह, **एतर्हि** = वर्तमान, **अग्निः** = अग्नि है, **सः** = वह भी, **भीषा** = डर के मारे, **निलिल्ये** = छुप गया, कहाँ? तो, **अपः** = जल में, **प्रविवेश** = प्रवेश कर गया। **तम्** = उस (अग्नि) को, **अनुविद्य** = खोजकर, **देवाः** = देवताओं ने, **सहसा** = बलपूर्वक, **एव** = ही, **अद्भ्यः** = जल में से, **आनिन्युः** = लाया। **सः** = वह, **अपः** = जल को, **अभि** = अभिलक्षित कर, **तिष्ठेव** = थूक दिया। कहा कि हे जल! तुम, **अवष्ठ्यूताः** = थूके हुए, **स्थ** = हो, **याः** = जो, **अप्रपदनं** = रक्षा

के स्थान नहीं होने से अनाश्रयभूत, **स्थ** = हो, **याभ्यः** = जिन, **वः** = तुम जलों में से, **माम्** = मुझको, **अकामम्** = नहीं चाहते हुए (मेरी इच्छा के विपरीत), **नयन्ति** = ये देवगण खींचकर ले जा रहे हैं, **इति** = ऐसा कहा। **तत** = उस जल से, **आप्त्याः** = आप्त्य देवगण, **सम्बभूवुः** = उत्पन्न होकर निकले, **त्रितः** = त्रित नामवाले, **द्वितः** = द्वित नामवाले तथा, **एकतः** = एकत नामवाले।।1।।

रेणु-व्याख्या—यहाँ आत्प्योदक निनयन के प्रसंग द्वारा आप्त्य देवताओं की उत्पत्ति का वृत्तान्त प्रस्तुत करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है कि—पहले यह अग्नि चार भागों में विभक्त शरीर वाला था। अग्नि के उन चारों शरीरों में से जिस शरीर का सबसे पहले देवताओं ने होता के लिए वरण किया, वह अग्नि का शरीर वहाँ से निकलकर भाग गया। तब दूसरे शरीर का वरण किया, अग्नि का दूसरा शरीर भी बहुत शीघ्र ही वहाँ से भाग गया। उसके बाद देवताओं ने अग्नि के तीसरे शरीर को वरण किया था, वह भी शीघ्र ही भागने में समर्थ हो गया। अग्नि के तीनों शरीरों के भाग जाने पर जो यह वर्तमान अग्नि है वह भी डरकर छुप गया। छुपने का समुचित स्थान उसने जल को माना और जल में प्रविष्ट हो गया। देवताओं ने शोधकर उसे जल में से खोज निकाला। इस पर क्रुद्ध अग्नि ने जलों पर थूक दिया। थूकते हुए कहा कि तुम रक्षा के स्थान नहीं हो, क्योंकि मैं इन देवताओं की पकड़ से बचने के लिए तुम्हें अपना छुपने का स्थान बनाया था, जहाँ से देवगण मुझे खोज लिये, मुझे न चाहते हुए भी बलपूर्वक तुममे से मुझे खींचकर ले जा रहे हैं और तुम चुप बैठे हो, इसलिए मैंने तुम पर थूका है। इस प्रकार जल से आप्त्य देव निकले तो जलों से उत्पन्न हुए ऐसा कहा जाता है। उस थूके हुए जल में आप्त्य देव त्रित, द्वित तथा एकत नामवाले प्रसिद्ध होकर निकले। इस कथा से यह स्पष्ट हुआ कि अग्नि के थूकने के कारण ही जल में फेन बनने लगे हैं, पहले ऐसा नहीं होता था।।1।।

[आप्त्यानां पात्रीनिर्णेजनोदकभागप्रतिपादनम्]

1.2.3.2. (स्त) तऽइ॒न्द्रेण सह॒ चेरुः। (यँ॒) य॒थेदं॒ ब्राह्मणो रा॒जानमनुच॒रति स य॒त्र त्रि॒शीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्व॒रूपं जघा॒न त॒स्य हैते॒ऽपि व्वध्यस्य व्विदा॒ञ्चक्रुः श॒श्वद्धैनं त्रित॒ऽएव॒ जघानात्य॒ह तदिन्द्रो॒ऽमुच्यत देवो हि सः।।2।।

ऋजुपाठः–त इन्द्रेण सह चेरुः यथेदं ब्राह्मणो राजानमनुचरति। स यत्र त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान तस्य हैतेऽपि वध्यस्य विदाञ्चक्रुः। शश्वद्धैनं त्रित एव जघान। अत्यह तदिन्द्रोऽमुच्यत। देवो हि सः॥2॥

सा.भा.–अथ तेषां पात्रीनिर्णेजनोदकं भाग इत्येतत्प्रतिपादनायाह–**त इन्द्रेणेति**। यथेदानीम् 'ब्राह्मणः' पुरोहितो देशाधिपतिं 'राजानम्' 'अनु'–सृत्य चरति, तद्वदेव 'ते' त्रितादयोऽपीन्द्रेण सार्द्धं तदनुसारेणावस्थिता इत्यर्थः। 'सः' चेन्द्रः 'यत्र' यस्मिन् समये सोमपानादिसाधनैस्त्रिभिः शिरोभिरुपेतं त्वष्टुः पुत्रं 'विश्वरूपं' जघान, तस्मिन् समये ते त्रितादयोऽपि 'तस्य वध्यस्य' कर्मणि षष्ठी, (पा.सू. 2.3.50) तं 'वध्यम्' वधार्हम् 'विदाञ्चक्रुः' ज्ञातवन्तः। "उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्" (पा.सू. 3.1.38)–इति विदेर्ज्ञानार्थादाम् प्रत्ययः। अनन्तरं च 'एनम्' विश्वरूपं त्रित एवेन्द्रसहायार्थं जघान। इन्द्रश्च 'तत्' हननजनितात्पापात् 'अत्यमुच्यत' अतिमुक्तोऽभवत्। तत्र हेतुमाह–**देवो हीति**। यस्मात् स इन्द्रो देवः, अतोऽस्मिन् पापसंश्लेषो न युक्त इत्यर्थः॥2॥

अन्वयः–ते (आप्त्याः) इन्द्रेण सह (तथा) चेरुः यथा ब्राह्मणो राजानम् अनुचरति। सः (इन्द्रः) यत्र (यदा) त्रिशीर्षाणं त्वाट्रं विश्वरूपं जघान तस्य वध्यस्य (कर्मणि षष्ठी) (तं वध्यं) एतेऽपि ह विदाञ्चक्रुः। शश्वत् एनं ह त्रित एव जघान। अह इन्द्रः तत् अतिमुच्यत हि सः देवः॥2॥

पदार्थः–**ते** = वे आप्त्य देवगण, **इन्द्रेण** = इन्द्र के, **सह** = साथ, **चेरुः** = इस प्रकार चले, **यथा** = जिस प्रकार, **ब्राह्मणः** = पुरोहित, **राजानम्** = राजा (यजमान) का, **अनुचरति** = अनुगमन करता है। **सः** = वह इन्द्र, **यत्र** = जिस समय, **त्रिशीर्षाणं** = तीन सिरवाले, **त्वाष्ट्रं** = त्वष्टा के पुत्र, **विश्वरूपम्** = विश्वरूप नामक दैत्य को, **जघान** = मारा, **तस्य** = उस, **वध्यस्य** = वध के योग्य को, **एतेऽपि** = ये आप्त्य भी, **ह** = निश्चित रूप से, **विदाञ्चक्रुः** = जान लिये। **शश्वत्** = वस्तुतः, **एनं** = इस दैत्य (विश्वरूप) को, **ह** = निश्चय, **त्रित** = त्रित नामवाले आप्त्य ने, **एव** = ही, **जघान** = इन्द्र की सहायता करके मारा। **अह** = जिससे, **इन्द्रः** = इन्द्र, **तत्** = उस वध के पाप से, **अतिमुच्यत** = पूर्णतः मुक्त कर दिया गया। **हि** = क्योंकि, **सः** = वह, **देवः** = इन्द्र देव है॥2॥

रेणु-व्याख्या–वे त्रित, द्वित एवं एकत तीनों नाम से प्रसिद्ध आप्त्य देव इन्द्र के साथ उसी प्रकार चल पड़े जिस प्रकार कोई पुरोहित राजा के पीछे-पीछे चलता है। वह इन्द्र जिस समय तीन सिरवाले त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप नामक असुर को मारा था, उस समय उस वध के योग्य को इन आप्त्य देवों ने भी जान

लिया था। वस्तुतः उस असुर को इन्द्र ने नहीं मारा अपितु इन्द्र की सहायता में इन्द्र के पीछे-पीछे चलते हुए इन आप्त्यदेवों में से त्रित आप्त्य ने ही निश्चित रूप से उसे मारा था। जिससे इन्द्र उस वध के पाप से पूर्णरूपेण मुक्त कर दिया गया। क्योंकि इन्द्र देव है और देव पाप के भागी नहीं होते इसलिए आप्त्य ने इन्द्र की सहायता कर इस महान् पाप से इन्द्र को बचा लिया।।2।।

[विश्वरूपहननानन्तरं जनैः कृतः संवादः]

1.2.3.3. (स तऽ) तऽउ हैत ऽऊचुः। (रु) उपैवेम ऽएनो गच्छन्तु येऽस्य व्वध्यस्यावेदिषुरिति किमिति यज्ञऽएवैषु मृष्टामिति तदेष्वेतद्यज्ञो मृष्टे यदेभ्यः पात्रीनिर्णेजनमङ्गुलिप्रणेजनं निनयन्ति।।3।।

ऋजुपाठः—त उ हैत ऊचुः—उपैवेम एनो गच्छन्तु येऽस्य वध्यस्यावेदिषुरिति। किमिति। यज्ञ एवैषु मृष्टामिति। तदेष्वेतद्यज्ञो मृष्टे—यदेभ्यः पात्रीनिर्णेजनमङ्गुलिप्रणेजनं निनयन्ति।।3।।

सा.भा.—एवं विश्वरूपहननानन्तरं जनैः कृतं संवादं दर्शयति—**त उ हेति**। 'ते' लौकिका जना विश्वरूपहननानन्तरमेतदूचुः। एतच्छब्दपरामृश्यं दर्शयति—**उपैवेति**। ये खल्वस्य वध्यस्य 'अवेदिषुः' अज्ञासिषुः, इमे 'एनः' पापमुपगच्छन्तु। एवमुपगन्तव्यं तदेनः किंरूपमिति प्रश्नपूर्वकमाह—**किमितीति**। 'एषु' त्रितादिषु 'यत्' विश्वरूपवधजनितमेनः, यज्ञ एव 'तत्' एनः 'मृष्टाम्' मृजीत, अश्लेषयदित्यर्थः। अतः "यत्" एषां त्रयाणां पात्रीनिर्णेजनादि निनयनम्, 'एतत्' एतेन 'एषु' त्रितादिषु 'तत्' विश्वरूपहननजनितमेनो यज्ञः 'विमृष्टे' संश्लेषयति। तस्मादवहननपेषणादिजनितस्यैनसो रूपं पात्र्यादिनिर्णेजनमाप्त्येभ्यो निनेतव्यमित्यर्थः।।3।।

अन्वयः—ते ह एते ऊचुः—ये अस्य वध्यस्य अवेदिषुः (तेषां) उप उ एव इमे एनो गच्छन्तु इति। किमिति? यज्ञ एव एषु मृष्टाम् इति। एभ्यो यत् पात्री निर्णेजनम् अङ्गुलिप्रणेजनं (च) निनयन्ति (तेन) तत् एषु एव एतत् यज्ञो मृष्टे।।3।।

पदार्थः—**ते** = वे लोग, **ह** = प्रसिद्ध, **एते** = ये, **ऊचुः** = बोले, **ये** = जो, **अस्य** = इसके, **वध्यस्य** = वधार्ह विश्वरूप के विषय में, **अवेदिषुः** = जानते थे, (उनके), **उप** = पास, **उ** = निश्चय, **एव** = ही, **इमे** = ये, **एनः** = पाप, **गच्छन्तु** = जायँ, **इति** = ऐसा कहा। **किमिति** = कैसे? **यज्ञ** = यज्ञ, **एव** = ही, **एषु** = इनमें (त्रितादियों में), **मृष्टाम्** = अपना पाप पोंछ (थोंप) दें, **इति** = ऐसा कहा।

एभ्यो = इसलिए इन आप्त्यों के निमित्त, **यत्** = जो, **पात्रीनिर्णेजनं** = पात्री को धोये जाने का जल तथा **अङ्गुलिप्रणेजनं** = अध्वर्यु के अङ्गुलियों के धोये जाने वाले जल, **निनयन्ति** = डालते हैं, उससे, **तत्** = वह पाप, **एषु** = इन आप्त्यों में, **एव** = ही, **एतत्** = यह, **यज्ञः** = यज्ञ, **मृष्टे** = थोंप (पोंछ) देता है।।3।।

रेणु-व्याख्या–त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप का वध (यह प्रसंग आगे विस्तारपूर्वक बताया जाएगा) जब हुआ। तो वध का प्रायश्चित्त किसको लगेगा? इस प्रसंग में वहाँ कुछ लोगों के द्वारा आपस में संवाद किया गया जिसका संक्षिप्त निदर्शन यहाँ प्रस्तुत है। आपसी वार्तालाप के आधार पर सब लोगों ने एक स्वर से यह कहा कि–जो विश्वरूप को इस प्रकार जानते हैं कि यह वध के योग्य है उन्हें ही यह पाप फल भोगना होगा। अर्थात् यह पाप उन्हें ही प्राप्त होना चाहिए। तो पुनः यह प्रश्न उठा कि यह होगा कैसे? तो उत्तर आया कि यज्ञ अपना अपराध उनपर पोंछ (थोंप) देगा। फलतः यज्ञ ने अपना अपराध त्रितादि आप्त्यों तक पहुँचा दिया, क्योंकि वे इस बात को जानते थे। इसी कारण पात्री को धोकर वह धोवन जल तथा अध्वर्यु अपनी अङ्गुलियों को धोकर उस धोवन जल को त्रित के निमित्त गिराता है। ऐसा करने से वह पाप त्रितादि आप्त्यों को लग जाता है और इन्द्र जो देव है, वह निष्पाप होकर देव बना रह जाता है।।3।।

(अदक्षिणाकयज्ञदूषणम्)

[दक्षिणावतैव यागेन यष्टव्यं नादक्षिणेति कथनम्]

1.2.3.4. त ऽउ हाप्त्या ऽ ऊचुः। (र) अत्येव व्वयमिदमस्मत्परो नयामेति कमभीति यऽएवादक्षिणेन हविषा यजाता ऽइति तस्मान्नादक्षिणेन हविषा यजेताप्त्येषु ह यज्ञो मृष्ट ऽआप्त्या ऽ उ ह तस्मिन्मृजते योऽदक्षिणेन हविषा यजते।।4।।

ऋजुपाठः–त उ हाप्त्या ऊचुः–अत्येव वयमिदमस्मत्परो नयामेति। कमभीति। य एवादक्षिणेन हविषा यजाता इति। तस्मान्नादक्षिणेन हविषा यजेत। आप्त्येषु य यज्ञो मृष्टे। आप्त्या उ ह तस्मिन् मृजते–योऽदक्षिणेन हविषा यजते।।4।।

सा.भा.–अथ तस्यैनसस्तैरपि कृतां निष्कृतिं दर्शयन् दक्षिणावतैव यागेन यष्टव्यं नादक्षिणेनेति प्रसङ्गादाह–**त उ हेति**। वयमपि 'इदम्' एनः 'परः' परस्तादन्यत्राधारान्तरे

'अस्मत्' अस्मत्तो नयामेति योजना। कमभीति। 'कम्' पुरुषम्—अभिलक्ष्येत्यर्थः। य एव दक्षिणारहितेन हविषा यतेत, तस्मिन्निति शेषः। अदक्षिणयागनिषेधं विपक्षबाधोपन्यासेनोपपादयति—**आप्त्येष्विति। मृष्टे**—इति। "मृजू शुद्धौ" (अ.प. 56) इत्यस्माल्लट् अदादित्वाच्छपो लुक् (पा.सू. 2.4.72)।।4।।

अन्वयः—ते ह आप्त्या 'वयम् इदम् अस्मत्परः अति एव नयाम इति उ ऊचुः।' कम् अभि इति (पृष्टे सति स उत्तरयति) य एव अदक्षिणेन हविषा यजातै इति। (एवम्) आप्त्येषु यज्ञो ह मृष्टे। आप्त्याः ह यो अदक्षिणेन हविषा यजते तस्मिन् उ मृजते। तस्मात् अदक्षिणेन हविषा न यजेत्।।4।।

पदार्थः—**ते** = वे, **ह** = प्रसिद्ध, **आप्त्याः** = त्रितादि आप्त्यों ने—**वयम्** = हम, **इदम्** = इस पाप को, **अस्मत्** = अपने से, **परः** = दूर, **अति** = पूर्णतया अतिक्रमित कर, **एव** = ही, **नयाम** = ले जाएँ, **इति** = ऐसा, **उ** = निश्चयपूर्वक, **ऊचुः** = बोले। **कम्** = किसकी, **अभि** = ओर (ऐसा पूछे जाने पर), **य** = जो, **एव** = ही, **अदक्षिणेन** = बिना दक्षिणा के, **हविषा** = हवि से, **यजातै** = यजन करें, **इति** = ऐसा उत्तर दिया। इस प्रकार, **आप्त्येषु** = आप्त्यों पर, **यज्ञों** = यज्ञ, **ह** = प्रसिद्ध, **मृष्टे** = अपना पाप पोंछता है, और **आप्त्याः** = आप्त्यगण, **ह** = भी, **यो** = जो, **अदक्षिणेन** = दक्षिणारहित, **हविषा** = हवि से, **यजते** = यजन करता है, **तस्मिन्** = उस पर, **उ** = ही, **मृजते** = पाप पोंछता है। **तस्मात्** = इसलिए, **अदक्षिणेन** = दक्षिणा के बिना, **हविषा** = हवि से, **न** = नहीं, **यजते** = याग करना चाहिए।।4।।

रेणु-व्याख्या—जब लोगों के द्वारा निर्णय किए जाने पर यज्ञ ने अपना पाप आप्त्यों को लगा दिया तब आप्त्यों ने कहा कि हम भी इस पाप को अपने से दूर पूर्णतया अतिक्रमित कर ले जायें। तब लोगों ने पूछा कि किस तरह? तो आप्त्यों ने उत्तर देते हुए कहा कि 'जो बिना दक्षिणा दान किये ही हवि से याग करता है उस तक'। वस्तुतः यज्ञ ने विश्वरूपवधजनित पाप को आप्त्य पर पोंछा (थोंपा) था, आप्त्यों ने भी उसे अदक्षिणाक यज्ञ करने वाले यजमान पर (थोंपने) पोंछने की बात स्पष्ट की है। इसलिए बिना दक्षिणा की हवि से याग नहीं करना चाहिए।

यदि कोई यजमान दक्षिणारहित हवि से याग करता है तो ऐसा ही होता है कि यज्ञ अपना पाप आप्त्य तक तथा आप्त्य अपना पाप उस यजमान तक जो अदक्षिणाक याग करता है, पहुँचा देगा। इसलिए दक्षिणारहित हवि से यज्ञ नहीं करना चाहिए "हतयज्ञस्त्वदक्षिणः" यह शास्त्र वाक्य इसी हेतु से प्रसिद्ध हुआ।।4।।

[दर्शपूर्णमासस्य का दक्षिणेति? विचारः]

1.2.3.5. ततो देवाः। (ऽ) एतां दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणामकल्पयन्यदन्वाहार्यं नेददक्षिणꣳ हविरसदिति तन्नाना निनयति तथैभ्योऽसमदं करोति तदभितपति तथैषाꣳ शृतं भवति स निनयति त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वेति पशुर्ह वाऽएष आलभ्यते यत्पुरोडाशः।।5।।

ऋजुपाठः–ततो देवा एतां दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणामकल्पयन्–यदन्वाहार्यम्। नेददक्षिणं हविरसदिति। तन्नाना निनयति। तथैभ्योऽसमदं करोति। तदभितपति–तथैषां शृतं भवति। स निनयति–"त्रितात त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा"–(1 अ. 23 मं.) इति। पशुर्ह वा एष आलभ्यते यत्पुरोडाशः।।5।।

सा.भा.–का तर्हि दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणेति तामाह–**तत** इति। दर्शपौर्णमासिकं हविर्दक्षिणारहितं नैव भवेदित्यन्वाहार्यरूपां दक्षिणामकल्पयन्नित्यर्थः। अन्वाहरति–यज्ञसम्बन्धिदोषजातं परिहरत्यनेनेति व्युत्पत्त्याऽन्वाहार्यो नाम–ऋत्विग्भ्यो देय ओदनः। तथा च तैत्तिरीयकम्–"यद्वै यज्ञस्य क्रूरं यद्विलिष्टं, तदन्वाहार्येणान्वाहरति, तदन्वाहार्यस्यान्वाहार्यत्वम्"–(तै. सं. 1.7.3.9.) इति। **तन्नानेति**। 'तत् आप्त्यानां निनयनं पृथक् पृथगसंसृष्टमेव कर्तव्यम्।' 'तथा' सति 'एभ्य'आप्त्येभ्यः 'असमदम्' अकलहं करोति। संसर्गे हि मदीयं त्वदीयमिति कलहः स्यादित्यभिप्रायः। निनीतस्योदकस्याङ्गारेण प्रतपनं विधत्ते–**तदभितपतीति**। 'तथा' सत्येषां 'तत्' जलं 'शृतम्' पक्वं भवतीत्यर्थः। विहितं निनयनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते–**स** इति। एवं संस्कृतपुरोडाशं पशुत्वेन स्तौति–**पशुर्हेति**।।5।।

अन्वयः–ततो देवाः दर्शपूर्णमासयोः एतां दक्षिणाम् अकल्पयन्–यत् अन्वाहार्यम्। इत् अदक्षिणं हविः न असत् इति। तत् नाना निनयति तथा एभ्यः असमदं करोति। (यथा) एषां शृतं भवति तथा तत् अभितपति। सः त्रिताय त्वा द्विताय त्वा, एकताय त्वा इति (मन्त्रेण) निनयति। (प्रार्थयति च) यत् एषः पुरोडाशः (तत्) वा पशुः ह आलभ्यते।।5।।

पदार्थः–**ततो** = उसके बाद, **देवाः** = देवगणों ने, **दर्शपूर्णमासयोः** = दर्शेष्टि एवं पूर्णमासेष्टि के यागों में, **एताम्** = यह (इसको), **दक्षिणाम्** = दक्षिणा के रूप में, **अकल्पयन्** = विचारकर योजनानुसार सुनिश्चित की, **यत्** = जो,

अन्वाहार्यम् = अन्वाहार्य है। **इत्** = इसके बाद से, **अदक्षिणं** = दक्षिणा रहित, **हविः** = हवि, **न** = नहीं, **असत्** = हो सके, **इति** = ऐसा विचार किया। **तत्** = उस पात्री अंगुलि निर्णेजन जल को, **नाना** = तीनों आप्त्यों में पृथक्-पृथक्, **निनयति** = बाँटते हुए डालता है, **तथा** = ऐसा करने से, **एभ्यः** = इन आप्त्यों के लिए, **असमदं** = कलह को (परस्पर झगड़े/संशय को) दूर करता है, जिस प्रकार, **एषां** = उन आप्त्यों के लिए, **शृतं** = पक्व, **भवति** = हो जाता है, **तथा** = उस प्रकार, **तत्** = उसे, **अभितपति** = सर्वतो भावेन तपाता है। **सः** = वह (अध्वर्यु) **त्रितायत्वा** = त्रित आप्त्य के लिए तुम्हें, **द्विताय त्वा** = द्वित आप्त्य के लिए तुम्हें, **एकताय त्वा** = एकत आप्त्य के लिए तुम्हें, **इति** = ऐसा यजु पढ़कर, **निनयति** = जल प्रदान करता है। पुनः प्रार्थना करता है कि, **यत्** = जो, **एषः** = यह, **पुरोडाशः** = पुरोडाश है (वह), **वा** = निश्चित रूप से, **पशुः** = पशु, **ह** = ही, **आलभ्यते** = आलंभन किया जाता है॥5॥

रेणु-व्याख्या–अब अदक्षिणाक यज्ञ को पाप युक्त कहने के बाद यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि दर्शपूर्णमास की दक्षिणा क्या होनी चाहिए? इसका समाधान देते हुए देवों ने विचारकर दर्शपूर्णमास याग में इस पदार्थ को दक्षिणा के रूप में सुनिश्चित की जो अन्वाहार्य है। अन्वाहार्य का अर्थ करते हुए सायण ने कहा है–'ऋत्विग्भ्यो देय ओदनः' अर्थात् ऋत्विजों को दिया जाने वाला चावल (भात) अन्वाहार्य कहलाता है। तैत्तिरीय संहिता में भी–'यद्वै यज्ञस्य क्रूरं यद्विलिष्टं तदन्वाहार्येणान्वाहरति तदन्वाहार्यस्यान्वाहार्यत्वम् (तै.सं. 1.7.3.9.) अर्थात् यज्ञ की क्रोधाग्नि की क्रूरता तथा दोषादि न्यूनताओं को जो पूर्ण करे उसे अन्वाहार्य कहते हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र पर प्रसिद्ध पद्धतिकार देवयाज्ञिक ने भी "अन्वाहार्यं दक्षिणार्थमोदनं चतुर्णामृत्विजां तृप्तिपर्यन्तभोजनसमर्थं दक्षिणाग्नावधिश्रयति" (दे.या.प्र. पृ. 40) अर्थात् इष्टियों में चार ऋत्विक् होते हैं। उन चारों के पेट भर खाने योग्य दक्षिणाग्नि पर पकाया गया चावल (भात) अन्वाहार्य है, जो दक्षिणास्वरूप प्रदान किया जाता है। (दे.या.प.पृ. 40) इसका उद्देश्य है कि इसके बाद से पुरोडाश रूप हवि बिना दक्षिणा के न रहे। इन आप्त्यों के निमित्त जो पात्री का धोवन एवं अध्वर्यु के अंगुलियों के धोवन जल को निकालता है वह भी तीनों आप्त्यों के लिए अलग-अलग निकालता है ताकि उन तीनों में परस्पर कलह न हो, यह संशय न हो कि किसका भाग है? वह भी इनके लिए जिस प्रकार पक्व (पका हुआ) हो ऐसा करने के लिए उस जल को सर्वतोभावेन गरम करता है। तत्पश्चात् अध्वर्यु त्रित के लिए, द्वित के लिए, एकत के लिए

ऐसा अलग-अलग नाम निर्देश पूर्वक उस जल को गिराता है। यह जो पुरोडाश है मानो यज्ञ का पशु है। पुरोडाश का प्रथन पशु का आलभन स्वरूप है। इस विषय में अग्रिम ब्राह्मण को देखें।।5।।

[पुरोडाशस्य पशुरूपतामुपपादयितुमितिहासः]

[पुरोडाशब्राह्मणम्]

1.2.3.6. पुरुष थ्ठं ह वै देवाः। (ऽ) अग्रे पशुमालेभिरे तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽश्वं प्रविवेश तेऽश्वमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम स गां प्रविवेश ते गामालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽविं प्रविवेश तेऽविमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम् सोऽजं प्रविवेश तेऽजमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचकाम।।6।।

ऋजुपाठः—पुरुषं ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽश्वं प्रविवेश। तेऽश्वमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। स गां प्रविवेश। ते गामालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽविं प्रविवेश। तेऽविमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽजं प्रविवेश। तेऽजमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम।।6।।

सा.भा.—अस्य पशुरूपतामुपपादयितुमितिहासमुदाहरति—**पुरुषथ्ठंहे**ति। **मेधोऽपचक्रामेति।** यज्ञियः सारांशो 'मेधः' 'तस्य' संज्ञप्तस्य पुरुषस्य सकाशादपक्रान्तो बभूवेत्यर्थः।।6।।

अन्वयः—देवा ह वै अग्रे पुरुषं पशुम् आलेभिरे। तस्य आलब्धस्य (पुरुषस्य) मेधः अपचक्राम। सः अश्वं प्रविवेश। ते (देवाः) अश्वम् आलभन्त। आलब्धस्य तस्य (अश्वस्य) मेधः अपचक्राम। सः गां प्रविवेश। ते गाम् आलभन्त। आलब्धस्य तस्य (गोः) मेधः अपचक्राम। सः अविं प्रविवेश। ते अविम् आलभन्त। आलब्धस्य तस्य मेधः अपचक्राम। सः अजं प्रविवेश। ते अजम् आलभन्त। तस्य आलब्धस्य मेधः अपचक्राम।।6।।

पदार्थः—**देवाः** = इन्द्र आदि स्वर्गस्थ देवताओं ने, **ह** = प्रसिद्ध, **वै** = निश्चितरूपेण, **अग्रे** = सबसे पहले, **पुरुषं** = पुरुष रूपी, **पशुम्** = पशु को,

आलेभिरे = यज्ञ में लाकर आलभन किया अर्थात् प्राप्त किया। **तस्य** = उसका, **आलब्धस्य** = प्राप्त किये हुए पुरुष पशु का, **मेधः** = यज्ञीय सारांश, **अपचक्राम** = निकलकर चला गया। **सः** = वह (पुरुष में से निकला हुआ यज्ञ का सारभाग), **अश्वं** = अश्व (घोड़े) में, **प्रविवेश** = प्रविष्ट हो गया (घुस गया)। **ते** = वे देवगणों ने, **अश्वम्** = अश्व (घोड़े) को, **आलभन्त** = प्राप्त किया, **आलब्धस्य** = प्राप्त किये हुए, **तस्य** = उस घोड़े का, **मेधः** = यज्ञीय सारभाग, **अपचक्राम** = निकल गया, **सः** = वह (अश्व से निकला हुआ भाग), **गां** = गाय के शरीर में, **प्रविवेश** = घुस गया। **ते** = वे देवगणों ने, **गाम्** = गाय को, **आलभन्त** = प्राप्त किया, **आलब्धस्य** = प्राप्त किए हुए का, **तस्य** = गाय का, **मेधः** = यज्ञ का सारभाग, **अपचक्राम** = निकल गया। **सः** = वह (यज्ञीय सारांश), **अविं** = अवि (भेंड़) के शरीर में, **प्रविवेश** = घुस गया। **ते** = वे देवगणों ने, **अविम्** = भेंड़ को, **आलभन्त** = (भेंड) प्राप्त किया। **आलब्धस्य** = प्राप्त किये हुए का, **तस्य** = भेंड़ का, **मेधः** = यज्ञीय सारांश, **अपचक्राम** = निकल गया। **सः** = वह सारभाग, **अजं** = बकरे में, **प्रविवेश** = घुस गया, **ते** = वे देवगणों ने, **अजम्** = बकरे को, **आलभन्त** = प्राप्त किया, **तस्य** = उस बकरे का, **आलब्धस्य** = प्राप्त किये हुए का, **मेधः** = यज्ञीय सारांश, **अपचक्राम** = निकल गया।।6।।

रेणु-व्याख्या—पूर्व मन्त्र में पुरोडाश को पशुरूप कहा गया। पशुशब्द का अर्थ व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है 'सर्वमविशेषेण पश्यति इति पशुः' अर्थात् जो देखता है वह पशु है। पशु शब्द की निष्पत्ति भी 'दृश्' धातु में 'कु' प्रत्यय करके पशादेश होने पर की गई है। तात्पर्य यह हुआ कि इस संसार में जो भी जीव दर्शनक्षमतासम्पन्न हैं वे सब पशु हैं। पुराणों में जड़ पदार्थों में दृष्टि होने की बात कही गई है। यथा—"वल्ली वेष्टयते वृक्षं...तस्मात् पश्यन्ति पादपाः।" महा. शान्ति, 184.13 अर्थात् लताएँ वृक्ष को चारों ओर से लपेट लेती हैं और ऊपर तक चढ़ जाती हैं, इससे स्पष्ट होता है कि लताएँ देखती हैं। इसी प्रकार चेतन जीव की तरह सुनना, सूँघना, खाना, पीना, जन्मना, स्थित होना, बदलना, बढ़ना, ह्रास होना, नष्ट हो जाना आदि समस्त कर्म करते हैं। अतः समस्त जड़-चेतनात्मक जगत् पशु है, और उस पशु का स्वामी शिव हैं इसलिए शिवजी को पशुपति कहा जाता है। उन समस्त पशुओं में पुरुष, अश्व, गो, अवि और अज इन पाँच पशुओं में यज्ञीय सारांश के भ्रमण करने का प्रसंग एक ऐतिहासिक घटना क्रम द्वारा स्पष्ट करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं, कि—जब देवताओं ने यज्ञ करने के लिए हवि का चिन्तन किया तो सबसे पहले पुरुषरूपी पशु को प्राप्त किया। यहाँ याज्ञवल्क्य

ने प्राप्ति के अर्थ में 'लभ्' धातु का प्रयोग करते हुए 'आलेभिरे' तथा 'अलभन्त' का प्रयोग किया है। पाणिनि के धातुपाठ में 'डुलभष् प्राप्तौ' (धा.धा. 975) का पाठ है जिसका अर्थ है प्राप्त करना। "आ" उपसर्ग पूर्वक "लभ्" धातु का प्रयोग स्पर्श के अर्थ में गृह्यसूत्रकारों ने किया है। यथा विवाहसंस्कार क्रम में 'हृदयमालभते' यहाँ आलभन का अर्थ स्पर्श है, किन्तु श्रौतयज्ञों में आलभन प्राप्त्यर्थक प्रयुक्त हुआ है। लिट्लकार प्रथमपुरुष बहुवचन में 'लेभिरे' तथा लङ्लकार प्रथम पुरुष बहुवचन में अलभन्त रूप बनता है।

इस प्रकार देवों ने जब उस पुरुष रूप पशु को पकड़ा तो मेध अर्थात् यज्ञ का सारतत्त्व उसमें से निकल गया। यहाँ 'मेध' शब्द भी अनेकार्थक है। 'मेधृ-मेधाहिंसनयोः सङ्गमे च' (पा.धा. 870) के अनुसार मेध शब्द का इकट्ठा करना, संगति करना, मेल करना, समझना, मारना, दुःख देना इन अर्थों में प्रयोग होता है। यद्यपि लोक में मेध का हिंसार्थक प्रयोगबाहुल्य है। पाश्चात्यों ने इसी अर्थ पर जोर दिया है। अश्वमेध का अंग्रेजी रूपान्तर 'Horse-sacrifice' अर्थात् अश्व-बलिदान किया है। इस प्रकार यद्यपि अंग्रेजी के Sacfifice शब्द के भी त्याग, कुर्बानी, बलि इत्यादि अनेक अर्थ हैं। किन्तु दुःख के साथ कहना पड़ रहा है कि–यज्ञ शब्द का अर्थ 'देवता द्रव्यं त्यागः' (का.श्रौ.सू. 1.2.1) के अनुसार देवता को उद्दिष्ट कर हवि का त्याग (समर्पण) याग है। इस मूलार्थ से भटकाकर 'वध' अर्थ की ओर प्रेरित कर देना एक राजनैतिक खुराफात (असन्तुलन) है जिसे भारतीयों को आज तक ढोना पड़ रहा है। अतः हमें सचेत होकर शास्त्र की मर्यादा के अनुसार अर्थ ग्रहण करना चाहिए जो कि ब्राह्मण ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हुआ है। 'मेदो वै मेधः' (श.प.ब्रा. 3.8.4.6.) अर्थात् सारभाग मेध है।[1]

इस प्रकार पुरुष में से वह यज्ञीय सारांश निकलकर अश्व में प्रविष्ट हो गया। तब देवों ने घोड़ा को हवि के रूप में ग्रहण किया। घोड़े में से वह यज्ञीय तत्त्व निकलकर गाय में प्रविष्ट हुआ, गाय को पकड़ने पर उसमें से निकलकर भेड़ में प्रविष्ट हो गया। जब भेंड को हवि रूप में ग्रहण किया तो वह यज्ञ का सारभाग भेंड़ में से निकलकर बकरा में प्रविष्ट हो गया। जब देवों ने बकरे का आलभन किया तो उसमें से यज्ञीय सारांश निकल कर भाग गया। इस प्रकार पाँच पशुओं का आलभन (ग्रहण) हवि के रूप में देवताओं द्वारा किया गया और इन पाँचों पशुओं में से यज्ञ का सार-भाग निकलकर अन्यत्र प्रविष्ट

1. आचार्य सायण ने अपने भाष्य में यज्ञियः सारांशो मेधः ऐसा अर्थ किया है।

होता रहा। ये पाँच पशु–1. पुरुष, 2. अश्व, 3. गो, 4. अवि तथा 5. अज हैं। इसीलिए मेधनाम से ये पाँच पुरुषमेध, अश्वमेध, गोमेध, अविमेध एवं अजमेध आज भी बहुप्रचलित हैं।।6।।

[मेधस्य व्रीहियवरूपेण परिणतिः]

1.2.3.7. स इमां पृथिवीं प्रविवेश। तं खनन्त ऽइवान्वीषुस्तमन्वविन्दंस्ताविमौ व्रीहियवौ तस्मादप्येतावेतर्हि खनन्त इवैवानुविन्दन्ति स यावद्वीर्यवद्ध वाऽअस्यैते सर्व्वे पशव आलब्धाः स्युस्तावद्वीर्यवद्धास्य हविर्हविरेव भवति य एवमेतद्वेदात्रो सा सम्पद्यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति।।7।।

ऋजुपाठः–स इमां पृथिवीं प्रविवेश। तं खनन्त इवान्वीषुः। तमन्वविन्दन्। ताविमौ व्रीहियवौ। तस्मादप्येतावेतर्हि खनन्त इवैवानुविन्दन्ति। स यावद्वीर्यवद्ध वा अस्यैते सर्वे पशव आलब्धाः स्युः, तावद्वीर्यवद्धास्य हविः। हविरेव भवति–य एवमेतद् वेद। अत्रो सा सम्पद्–यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति।।7।।

सा.भा.–स इमामित्यादि। एवं पुरुषाश्वादिपशुष्वालब्धेषु ततस्ततो निष्क्रान्तः 'सः' मेधोऽन्तत इमां पृथिवीं प्रविष्टवान्। 'तम्' मेधं पृथिवीं 'खनन्तः' विदारयन्त इव 'अन्वीषुः' देवा अन्वैच्छन्। "इषु इच्छायाम्–" (तु.प. 71)–इत्यस्माल्लिटि। ईदृग्विधं मेधं पृथिव्यां देवा अलभन्त। **ताविमौ व्रीहियवाविति।** स एव मेधो व्रीहियवरूपेण परिणत इत्यर्थः। **तस्मादपीत्यादि।** 'तस्मात्' मेधपरिणामरूपत्वादेव, इदानीमपि 'एतौ' व्रीहियवौ मेधवत्कर्षणलक्षणेन खननेन लभन्ते कर्षकाः। अतः खननप्राप्यत्वदर्शनान्मेधपरिणामरूपत्वं व्रीहियवयोः स्वध्यवसानमित्यर्थः। एतज्ज्ञानस्य फलमाह–**स यावदिति।** स इति पूर्ववद् बह्वर्थे–एकवचनम्। 'अस्य' यजमानस्य ते 'एते' पुरुषादयः सर्वे पशव आलब्धाः सन्तो यत्परिमाणविशिष्टवीर्यवद् हविः 'स्युः' भवेयुः 'अस्य' व्रीहियवयोः सर्वपशुसारत्वं विदुषो यजमानस्य तन्निष्पादितं पुरोडाशादिकं 'हविः' 'तावद्वीर्यवद्' 'हविरेव' भवति। एवं सर्वपशुसारत्वात् पुरोडाशः पशुरूप एव संस्क्रियत इत्यर्थः। इत्थं सर्वपशुसारतया पुरोडाशस्य पशुत्वं प्रतिपाद्य सम्पत्त्यापि तद्दर्शयति–**अत्रो सेति।** लोमत्वगादिपञ्चावयवयोगात् 'पाङ्क्तः पशुः'–इति यदाहुरभिज्ञाः 'सा' पाङ्क्तसंपत् 'अत्रो' अत्रापि पुरोडाशे विद्यत इत्यर्थः।।7।।

अन्वयः–सः (मेधः) इमां पृथिवीं प्रविवेश। खनन्त इव तम् अन्वीषुः, तम अन्वविन्दन्। तौ इमौ व्रीहियवौ। तस्मात् एतर्हि अपि एतौ खनन्त इव एव अनुविन्दन्ति। य एवम् एतत् वेद सः यावत् ह वा वीर्यवत् एते पशवः अस्य आलब्धाः स्युः तावत् ह वीर्यवत् एव अस्य हविः भवति। यत् आहुः पाङ्क्तः पशुः इति सा उ अत्र सम्पत्॥7॥

पदार्थः–**सः** = वह (बकरे में से निकला हुआ यज्ञीय तत्त्व) मेध, **इमां** = इस, **पृथिवीं** = पृथिवी में, **प्रविवेश** = प्रविष्ट हो गया। **खनन्तः** = पृथ्वी को खोदते हुए, **इव** = की तरह, **तम्** = उसको, **अन्वीषुः** = खोज करने लगे, **तम्** = उसको, **अन्वविन्दन्** = खोज निकाला। **तौ** = वही, **इमौ** = ये दोनों, **व्रीहियवौ** = व्रीहि एवं यव हैं। **तस्मात्** = इसलिए, **एतर्हि** = यही आजकल, **अपि** = भी, **एतौ** = ये दोनों व्रीहि एवं यव, **खनन्त** = जमीन को खोदते हुए, **इव** = की तरह (क्षेत्रकर्षणादि द्वारा), **एव** = ही, **अनुविन्दन्ति** = लोग प्राप्त करते हैं। **यः** = जो, **एवम्** = इस प्रकार, **एतत्** = इस रहस्य को, **वेद** = जानता है, **सः** = वह, **यावत्** = जितने, **ह** = प्रसिद्ध, **वै** = ही, **वीर्यवत्** = शक्तिवाले, **एते** = ये, **पशवः** = पशुगण हैं वे, **अस्य** = इसके (यजमान के), **आलब्धाः** = प्राप्त किए हुए, **स्युः** = हों, **तावत्** = उतने, **ह** = प्रसिद्ध, **वीर्यवत्** = शक्तिसम्पन्न, **एव** = ही, **अस्य** = इसके, **हविः** = हविरूप, **भवति** = होती है। **यत्** = जो यह, **आहुः** = कहते हैं, **पाङ्क्तः** = पाँच अवयवों वाला, **पशुः** = पशु है, **इति** = ऐसा, **सा** = वह, **उ** = ही, **अत्र** = यहाँ, **सम्पत्** = सम्पत्ति है॥7॥

रेणु-व्याख्या–पूर्व मन्त्रानुसार बकरे के आलभन होने पर यज्ञ का तत्त्व उसमें से निकला और धरती के अन्दर जाकर छुप गया। तब देवों ने विचारकर पृथिवी को खोदना आरम्भ किया। वही क्षेत्रकर्षण कार्य पृथिवी पर सबसे पहले हुआ जिसका उल्लेख ऋग्वेदादि के 'इन्द्रः सीतां निगृह्णातु (ऋ. 4.57.7)' 'शुनं सुफाला' (ऋ. 4.57.8) इत्यादि मन्त्रों में किया गया है। इन्द्रादि देवताओं ने इस भूमि को हल से जोतते हुए जब इसको खोजना शुरू किया तो यह मेध व्रीहि एवं यव के रूप में प्राप्त हुआ। इसलिए आज भी इनको जोतकर (क्षेत्रकर्षणकर) ही प्राप्त करते हैं। इस रहस्य को जो इस प्रकार जानता है वह इस संसार में जितने भी शक्ति सम्पन्न पशु हैं उन सब पशुओं के आलभन से जो परिमाण विशिष्ट यज्ञीय तत्त्व (सारभाग) प्राप्त होता है, उतने ही शक्तिसम्पन्न इन व्रीहि एवं यव के चूर्ण से बने पुरोडाश रूप हवि से प्राप्त करता है। तात्पर्य यह हुआ कि उन पुरुष, अश्व, गो, अवि एवं अज पाँचों पशुओं के सारतत्त्व इस व्रीहि एवं यव में

प्रविष्ट हैं। अतः उन सबकी शक्ति पुरोडाश की हवि से प्राप्त हो जाती है। यह जो कहते हैं कि पशु पाङ्क्त है (पाँच अवयव वाला है), वे पाँचों अवयव लोम, त्वचा, मांस, अस्थि एवं मज्जा इस पुरोडाश में निहित है। क्योंकि यज्ञ भी पाङ्क्त है, यज्ञ की हवि भी पाङ्क्त है और पशु भी पाङ्क्त अर्थात् पाँच अवयवों वाला है। इन अवयवों का वर्णन अग्रिम मन्त्र में होगा।।7।।

[पुरोडाशस्य पशुत्वकल्पनया पाङ्क्त्वप्रतिपादनम्]

1.2.3.8. यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति। यदापऽ आनयत्यथ त्वग्भवति यदा संयौत्यथ माꣳसं भवति सन्तत इव हि स तर्हि भवति सन्ततमिव हि माꣳसं यदा श्रृतोऽथास्थि भवति दारुण इव हि स तर्हि भवति दारुणमिव ह्यस्थ्यथ यदुद्वासयिष्यन्नभिघारयति तं मज्जानं दधात्येषो सा सम्पद्यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति।।8।।

ऋजुपाठः—यदा पिष्टानि, अथ लोमानि भवन्ति। यदाप आनयति, अथ त्वग् भवति। यदा संयौति, अथ मांसं भवति। सन्तत इव हि स तर्हि भवति, सन्ततमिव हि मांसम्। यदा शृतः, अथास्थि भवति। दारुण इव हि स तर्हि भवति, दारुणमिव ह्यस्थि। अथ यदुद्वासयिष्यन्नभिघारयति—तं मज्जानं दधाति। एषो सा सम्पद्—यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति।।8।।

सा.भा.—तामेव सम्पत्तिं दर्शयति—**यदेत्यादिना**। यदा खलु पुरोडाशस्य पिष्टावस्था, 'अथ' अनन्तरमेव पिष्टेषु लोमसम्पत्तिः, लोमवत् पिष्टानां सूक्ष्मत्वाद्, बहुत्वाच्च। यदा खलु संयवनार्थमप आनयति, अथ तस्मिन् समये पुरोडाशस्य त्वग् भवति; त्वचीव श्लक्ष्णीभावदर्शनात्। संयवनावस्थायां मांसधातूत्पत्तिः। संयवनावस्थस्य पुरोडाशस्य, लौकिकमांसस्य च साम्यमाह—**संतत इवेति**। शृतावस्थस्य पुरोडाशस्यास्थ्युत्पत्तिः, तामुत्पत्तिं लौकिकास्थिसादृश्येन प्रतिपादयति—**दारुण** इवेति। शृतावस्थो हि पुरोडाशः 'दारुणः' कठिन इव हि तस्मिन् समये भवति। लौकिकमप्यस्थि कठिनम्। अतः शृतावस्थायां पुरोडाशोऽस्थिमान् भवतीत्यर्थः। **उद्वासयिष्यन्निति।** उद्वासनकाले यत् पुरोडाशस्य 'अभिघारणम्' अस्थ्यन्तर्गतं मज्जाख्यं धातुमेव तेन स्थापयतीत्यर्थः। उक्तां पाङ्क्तत्वसम्पत्तिं निगमयति—**एषो** इति। 'एषा उ' एषैव।।8।।

अन्वयः—यदा पिष्टानि अथ लोमानि भवन्ति। यदा आपः आनयति अथ त्वग् भवति। यदा संयौति अथ मांसं भवति। हि सन्ततम् इव मांसं भवति तर्हि स सन्तत

इव हि (भवति)। यदा शृतः अथ अस्थि भवति। हि दारुणम् इव अस्थि भवति तर्हि स दारुण इव हि (भवति)। अथ यत् उद्वासयिष्यन् अभिघारयति तं मज्जानं दधाति। यत् आहुः पाङ्क्तः पशुः इति एषा उ सा सम्पत्॥8॥

पदार्थः–यदा = जब, **पिष्टानि** = तण्डुल को पीसकर आटारूप बना दिया जाता है, **अथ** = उसके बाद, **लोमानि** = रोएँ की तरह, **भवन्ति** = होते हैं। **यदा** = जब (आटा में), **आपः** = जल, **आनयति** = मिलाता है, **अथ** = तब, **त्वक्** = त्वचा रूप, **भवति** = हो जाती है। **यदा** = जब, **संयौति** = गूँथकर (जल एवं चूर्ण को) मिलाता है, **अथ** = तब, **मांसं** = गूँथा हुआ आटा मांसरूप, **भवति** = हो जाता है। **हि** = क्योंकि, **सन्ततं** = गूँथे हुए लोथड़े, **इव** = के समान, **मांसं** = जीवशरीर का मांस, **भवति** = होती है, **तर्हि** = तब, **सः** = वह पुरोडाश, **संतत** = फैले हुए, (गूँथे हुए), **इव** = के समान, **हि** = ही, **भवति** = होता है। **यदा** = जब, **शृतः** = पक जाता है, **अथ** = तब, **अस्थि** = हड्डी रूप, **भवति** = होता है। **हि** = क्योंकि, **दारुणम्** = कठिन (कठोर), **इव** = की तरह, **अस्थि** = हड्डी, **भवति** = होती है, **तर्हि** = तब, **स** = वह (पुरोडाश), **दारुण** = कठिन, **इव** = के जैसा, **हि** = ही, हो जाता है। **अथ** = तत्पश्चात्, **यत्** = जो, **उद्वासयिष्यन्** = उद्वासन करता हुआ (आज्य को ऊपर की ओर उठाता हुआ), **अभिघारयति** = घृत का सेचन करता है, **तं** = उससे, **मज्जानं** = मज्जा को, **दधाति** = स्थापित (धारण) करता है। **यत्** = जो, **आहुः** = कहते हैं कि, **पाङ्क्तः** पाँच अवयवों से युक्त, **पशुः** = पशु, **इति** = सर्वाङ्गपूर्ण होता है ऐसा, **एषा** = यह, **उ** = ही, **सा** = वह, **सम्पत्** = सम्पत्ति है अर्थात् कहने का भाव है॥8॥

रेणु-व्याख्या–अब पुरोडाश को पशुवत् कल्पित करने के लिए जिस प्रकार पशु को पंचाङ्गपूर्ण कहा गया है उसी प्रकार इस पुरोडाश को भी पाँच अवयवों से पूर्ण बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–जब तण्डुल का चूर्ण बनाते हैं तब वह चूर्ण (आटा) रोएँ (रोम) की तरह होते हैं। जब उसमें जल डाला जाता है तब वह चमड़ों से युक्त होता है। जब जल एवं चूर्ण को मिलाकर गूँथते हुए फैलाते हैं तब वह मांस की तरह हो जाता है। क्योंकि माँस भी सघन फैला हुआ तथा चिपका सा रहता है उसी प्रकार यह पुरोडाश भी हो जाता है। जब उस लोथड़े को अग्नि पर पकाते हैं तब वह कड़ा (कटिन) हो जाता है, वह कठिन रूप हड्डी की तरह है। हड्डी भी कड़ी होती है, उसी रूप को वह भी पकड़ लेता है। जब पकने के बाद आज्य (गर्म घी) को ऊपर उठाकर उसपर अभिघारण करता (टपकाता) है तब समझो वह मज्जा से युक्त हो जाता है। इस प्रकार यह

जो कहा गया कि पशु पाँच अवयवों वाला है, वे पाँचों अवयव इस पुरोडाश में भी स्थापित हो जाते हैं। फलतः पुरोडाश भी पाङ्क्त पशु (पाँच अवयवों वाला पशु) रूप ही हो जाता है। वे पाँचों अवयव, रोम, त्वचा, माँस, हड्डी एवं मज्जा हैं। यही इस कथन का आशय है।।8।।

[अयज्ञियानां पुरुषाश्वगोऽव्यजानामभक्ष्यत्वप्रतिपादनम्]

1.2.3.9. स यं पुरुषमालभन्त। स किम्पुरुषोऽभवद्यावश्वं च गां च तौ गौरश्च गवयश्चाभवतां यमविमालभन्त सऽउष्ट्रोऽभवद्यमजमालभन्त स शरभोऽभवत्तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यमपक्रान्तमेधा हैते पशवः।।9।।1।।

इति द्वितीयप्रपाठके प्रथमं द्वितीयाध्याये तृतीयञ्च ब्राह्मणम्। (2.3.)

ऋजुपाठः–स यं पुरुषमालभन्त–स किम्पुरुषोऽभवत्। यावश्वं च गाञ्च तौ गौरश्च गवयश्चाभवताम्। यमविमालभन्त-सा उष्ट्रोऽभवत्। यमजमालभन्त–स शरभोऽभवत्। तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यम्। अपक्रान्तमेधा हैते पशवः।।9।। (इति पुरोडाशप्रकरणम्।)

सा.भा.–देवैरालब्धानामपक्रान्तमेधानां पुरुषादिपशूनां परिणामविशेषं दर्शयंस्तस्य प्रसङ्गादभक्ष्यतामाह–**स यमित्यादिना।** 'स'–इति पूर्ववद् बहुवचनस्थाने एकवचनम्; ते देवा इत्यर्थः। **एतेषामिति।** किम्पुरुषादीनां पशूनां मांसं 'नाशितव्यं' न भक्षितव्यम्। तत्र हेतुमाह–**अपक्रान्तेति।** अपक्रान्तमेधत्वेनायज्ञियत्वादित्यर्थः।।9।।1 (2.3.)

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे माध्यन्दिनशतपथभाष्ये प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्।।

अन्वयः–सः यं पुरुषम् आलभन्त स किम्पुरुषः अभवत्। यौ अश्वं च गां च तौ गौरः च गवयश्च अभवताम्। यम्, अविम् आलभन्त स उष्ट्रोऽभवत्। यम् अजम् आलभन्त स शरभः अभवत्। एते ह पशवः अपक्रान्तमेधाः (सन्ति) तस्मात् एतेषां पशूनां (मांसं) न अशितव्यम्।।9।।

पदार्थः–**सः** = वे देवों ने, **यं** = जिस, **पुरुषम्** = पुरुष को, **आलभन्त** = प्राप्त किया था, **सः** = वह, **किम्पुरुषः** = किम्पुरुष (निन्दित पुरुष), **अभवत्** = हो गया। **यौ** = जो दो, **अश्वं** = घोड़े को, **च** = और, **गां** = गाय को, **च** = और (प्राप्त किया), **तौ** = वे दोनों, **गौरश्च** = गौरमृग, **च** = और, **गवयश्च**

= गो सदृश जंगली पशु (नीलगाय आदि), **अभवताम्** = हो गये। **यम्** =जिस, **अविम्** = अवि (भेंड़) को, **आलभन्त** = प्राप्त किया था, **स** = वह, **उष्ट्रः** = ऊँट, **अभवत्** = हो गया, **यम्** = जिस, **अजम्** = बकरे को, **आलभन्त** = प्राप्त किया था, **सः** = वह, **शरभः** = टिड्डी अथवा हाथी का बच्चा (एक आठ पैर वाले जन्तु का नाम शरभ है जो सिंहघाती होता है), **अभवत्** = हो गया। **एते** = ये, **ह** = प्रसिद्ध, **पशवः** = पशुगण, **अपक्रान्तमेधाः** = यज्ञ तत्त्व से विहीन (अयज्ञिय) हैं, **तस्मात्** = इसलिए, **एतेषां** = इन, **पशूनां** = पशुओं के (मांस को), **न** = नहीं, **अशितव्यम्** = खाना चाहिए।।9।।

रेणु-व्याख्या–यह तो प्रतिपादन किया गया पूर्व मन्त्र में कि उक्त पुरुष, अश्व, गो, भेंड, एवं बकरा में से यज्ञीय तत्त्व निकलकर व्रीहि एवं जौ में प्रविष्ट हो गया जिसे देवताओं ने कृषिकर्म द्वारा प्राप्त किया। अब उन पशुओं के अयज्ञीय होने की बात को स्पष्ट करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–देवताओं ने जिस पुरुष का आलभन किया था, उसमें से जब मेध निकला तो वह पुरुष किम्पुरुष अर्थात् "किं क्षपे" (अष्टा. 2.1.64) सूत्र से निन्दित पुरुष हो गया। जिस अश्व का आलभन किया, उस अश्व में से जब मेध निकल गया तो वह गौरमृग हो गया। जिस गाय का आलभन किया, उस गाय में से जब मेध निकल गया तो वह 'गवय' अर्थात् गाय जैसा जंगली पशु (नीलगाय) हो गया। जिस भेंड का आलभन किया था, उस भेंड़ में से जब मेध निकल गया तब वह भेंड़ ऊँट हो गया। इसी तरह जिस बकरा का आलभन किया था उसमें से जब मेध निकल गया तब वह बकड़ा 'शरभ' हो गया।

शरभ शब्द का अर्थ आचार्य महीधर ने अपने शुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिन संहिता के भाष्य में "शरभोऽष्टापदो मृगविशेषः सिंहघाती" (शु.य.सं.-13-51 मन्त्रभाष्य) किया है। अर्थात् आठ पैरों वाला ऐसा मृग जो सिंह को भी मार देता है। तात्पर्य यह हुआ कि सिंह सबसे उग्र हिंसक जानवर है। परन्तु शरभ जो अष्टपाद जानवर है वह उस सिंह की भी हत्या कर देता है। अतः सिंह से भी अधिक उग्र एवं क्रूर हिंसक पशु यह शरभ है।

चयनयाग के प्रसङ्ग में इन पाँचों पशुओं की हिंसा का निषेध करते हुए शुक्लययजुर्वेदीय माध्यन्दिन संहिता के 13वें अध्याय के 47 मन्त्र से 51 मन्त्र तक इस प्रसङ्ग का उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार ये पाँचों पशु जिनका आलभन किया गया वे सब मेध के निकल जाने पर विकृत (निन्दित) हो गये। उनमें से यज्ञीय तत्त्व खो चुका है। इसलिए इन पाँचों पुरुष, अश्व, गो, अवि एवं अज के मांस नहीं खाने चाहिए।

आजकल मांसभक्षण कहीं-कहीं परम्परा का रूप धारण कर चुका है। उसके अन्तर्गत शुभ एवं अशुभ कार्यों में कहीं-कहीं बलिप्रदान की प्रथा जोरों पर है। ऐसे समाज को सचेत होकर यह जान लेना चाहिए कि यज्ञ के नाम पर जो हिंसा (समाज में) प्रचलित है, वह वेदनिन्दित है। अतः उसका सर्वथा परित्याग करना चाहिए।।9।।

इस प्रकार माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण के प्रथम काण्ड
के द्वितीयाध्याय के तृतीयब्राह्मण की रेणु हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।।

प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

[वेदिकाकरणम्]

[स्फ्यस्य वज्ररूपत्ववर्णनम्]

1.2.4.1. इन्द्रो ह यत्र व्वृत्राय व्वज्रं प्रजहार। स प्रहृतश्चतुर्धाऽभवत्तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद्वा यूपस्तृतीयं वा यावद्वा रथस्तृतीयं वा यावद्वाथ यत्र प्राहरत्तच्छकलोऽशीर्यत स पतित्वा शरोऽभवत्तस्माच्छरो नाम यदशीर्यतैवमु स चतुर्द्धा व्वज्रोऽभवत्॥1॥

ऋजुपाठः—इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार। स प्रहृतश्चतुर्द्धाऽभवत्। तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद्वा, यूपस्तृतीयं वा यावद्वा, रथस्तृतीयं वा यावद्वा। अथ यत्र प्राहरत्तच्छकलोऽशीर्यत। स पतित्वा शरोऽभवत्। तस्माच्छरो नाम—यदशीर्यत। एवमु स चतुर्द्धा वज्रोऽभवत्॥1॥

सा.भा.—अथ वेदिकरणार्थं स्फ्यादानविधिमनुसृत्य स्फ्यस्य वज्ररूपत्वं वक्तुमितिहासमाचष्टे—**इन्द्रो** हेति। **तस्ये**त्यादि। 'तस्य' चतुर्द्धा विभक्तस्य वज्रस्य स्फ्यस्तृतीयोंऽशः। न्यूनाधिकराहित्येन तृतीयांशत्वज्ञानं दुर्लभमित्यभिप्रेत्य पक्षान्तरमाह—**यावद्वेति**। तृतीयात् भागान्न्यूनमधिकं वा यावदेव किञ्चित्तावानेव स्फ्य इत्यर्थः। एवं यूपस्तृतीयमित्यादौ योजना। चतुर्थभागस्य परिणामप्रकारमाह—**अथ यत्रेति। तच्छकल** इति। 'तत्' तत्र देशे प्रहृतः स वज्रः शकलो भूत्वा 'अशीर्यत' शीर्णोऽभूत्। स च शीर्णो भूमौ पतित्वा शरात्मना परिणत इत्यर्थः। शरशब्दं निर्वक्ति—**तस्मादिति।** चतुर्द्धाभवनमुपसंहरति—**एवमिति**॥1॥

अन्वयः—यत्र इन्द्रो ह वृत्राय वज्रं प्रजहार। प्रहृतः स चतुर्द्धा अभवत्। तस्य तृतीयं (तृतीयांशेन) वा यावद्वा स्फ्यः, तृतीयं वा यावद्वा यूपः, तृतीयं वा यावद्वा रथः (अभवत्)। अथ यत्र (यो भागः) प्राहरत् (वृत्रमहनत्) तत् शकलः अशीर्यत। स पतित्वा शरः अभवत्। यत् अशीर्यत तस्मात् शरो नाम (अस्ति)। एवं स उ वज्रः चतुर्द्धा अभवत्॥1॥

पदार्थः–**यत्र** = जिस संग्राम में, **इन्द्रः** = इन्द्र ने, **ह** = निश्चितरूप से, **वृत्राय** = वृत्र के लिए, **वज्रं** = वज्र का, **प्रजहार** = प्रहार किया, **प्रहृतः** = प्रहार किया हुआ, **सः** = वह वज्र, **चतुर्द्धा** = चार भागों में विभक्त, **अभवत्** = हो गया। **तस्य** = उसका, **तृतीयं** = तृतीय भाग, **वा** = अथवा, **यावद्वा** = जितना भी भाग एक भाग था वह, **स्फ्यः** = काष्ठनिर्मित तलवार की आकृति का यज्ञपात्र विशेष बन गया। **तृतीयं** = तीसरा भाग, **वा** = अथवा, **यावद्वा** = जो भी एक भाग था वह, **यूपः** = यूप बन गया। **तृतीयं** = तीसरा भाग, **वा** = अथवा, **यावद्वा** = जो भी एक भाग था वह, **रथः** = रथ बन गया। **अथ** = तत्पश्चात्, **यत्र** = जो भाग, **प्राहरत्** = वृत्र को लगा अर्थात् जिस भाग से वृत्र मारा गया, **तत्** = वह; **शकलः** = टुकड़ा होकर, **अशीर्यत** = टूट गया। **सः** = वह, **पतित्वा** = गिरकर, **शरः** = बाण, **अभवत्** = हो गया। **यत्** = जो, **अशीर्यत** = वह टूट गया, **तस्मात्** = इस कारण से (टूटने के कारण), **शरो** = शर (बाण), **नाम** = नाम से प्रसिद्ध हुआ। **एवम्** = इस प्रकार, **सः** = वह, **उ** = ही, **वज्रः** = वज्र, **चतुर्द्धा** = चार प्रकार का, **अभवत्** = हुआ।।1।।

रेणु-व्याख्या–इन्द्र एवं वृत्रासुर का युद्ध इतिहास पुराणों में विस्तार पूर्वक वर्णित हुआ है। वह देव-दानव युद्धों में एक अभूतपूर्व युद्ध था। उस युद्ध में इन्द्र ने वृत्र पर वज्र का प्रहार कर उस दैत्य का वध किया था ऐसा सर्वविदित ही है।

यहाँ लकड़ी से निर्मित तलवार की आकृति वाले यज्ञपात्र का वज्रत्व स्पष्ट करने के उद्देश्य से इस ऐतिहासिक प्रसंग को याज्ञवल्क्य ने प्रस्तुत किया है। ऋषि कहते हैं कि–जिस संग्राम में इन्द्र ने वृत्र के लिए वज्र का प्रहार किया था, वह प्रहार किया हुआ वज्र चार भागों में बँट गया अर्थात् उस वज्र के चार टुकड़े हो गए। चारों टुकड़ों से चार वस्तु की उत्पत्ति हुई। जैसा कि पूर्व मन्त्र में मेध के निकलने से पाँच पुरुषादि पशुओं से पाँच अवान्तर पशु उत्पन्न हुए ऐसा वर्णित है, उसी तरह यहाँ उस वज्र के जब चार टुकड़े हुए तो चारों टुकड़ों से चार पदार्थ की उत्पत्ति हुई। उस उत्पत्ति के क्रम को स्पष्ट करते हुए ऋषि ने कहा है कि उस चार भागों में विभक्त वज्र के एकभाग से स्फ्य अर्थात् तलवार की आकृति का काष्ठनिर्मित यज्ञपात्र विशेष हुआ। दूसरे भाग से यूप, तीसरे भाग से रथ और चौथा भाग पुनः टूटकर नीचे गिर गया जो बाण के रूप में परिणत हो गया। 'श्रृ' धातु का प्रयोग हिंसा अर्थ में किया जाता है। इस प्रकार वह जो

टूट गया इस कारण उसका नाम 'अशीर्यत इति तस्मात् शरः' 'शर' यह प्रसिद्ध हुआ। उक्त कथानक द्वारा वज्र के चार विभागों में से एक 'स्फ्य' भी वज्ररूप ही है यह कथन सिद्ध होता है। चूँकि मानव से उत्पन्न मानव एवं वृक्षादि से उत्पन्न वृक्षादि ही होता है। अतः वज्र से उत्पन्न स्फ्य, यूप, रथ एवं बाण (शर) ये सब वज्र ही हैं।।1।।

[वज्रावयवानां स्फ्यादीनां ब्राह्मणराजन्ययोर्व्यवस्थया विनियोगकथनम्]

1.2.4.2. (त्त) त॒तो द्वा॒भ्यां ब्राह्मणा॒ यज्ञे च॒रन्ति। द्वा॒भ्याꣳराज॒न्यबन्धवः संव्याधे यू॒पेन च स्फ्ये॒न च ब्राह्मणा र॒थेन च शरे॒ण च राज॒न्यबन्धवः।।2।।

ऋजुपाठः–ततो द्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति। द्वाभ्यां राजन्यबन्धवः संव्याधे। यूपेन च स्फ्येन च ब्राह्मणाः, रथेन च शरेण च राजन्यबन्धवः।।2।।

सा.भा.–तेषां वज्रावयवानां स्फ्यादीनां ब्राह्मणराजन्ययोर्व्यवस्थया विनियोगमाह–**तत** इति। 'राजन्यबन्धवः' क्षत्रियजातीयाः 'संव्याधे' युद्धे चरन्तीत्यनुषङ्गः। द्वाभ्यामिति सङ्गृह्योक्तं विभजति–**यूपेन चेति**।।2।।

अन्वयः–ततो यज्ञे ब्राह्मणाः द्वाभ्यां चरन्ति। संव्याधे (युद्धे) राजन्यबन्धवः द्वाभ्याम्। यूपेन च स्फ्येन च ब्राह्मणाः। रथेन च शरेण च राजन्यबन्धवः।।2।।

पदार्थः–**ततो** = उसके बाद, **यज्ञे** = यज्ञ में, **ब्राह्मणाः** = ब्राह्मणलोग, **द्वाभ्यां** = दो टुकड़ों से, **चरन्ति** = कार्य करते हैं। **संव्याधे** = युद्ध में, **राजन्यबन्धवः** = क्षत्रिय बन्धु, **द्वाभ्यां** = दो टुकड़ों से कार्य करते हैं। **यूपेन** = यूप से, **च** = और, **स्फ्येन** = स्फ्य से, **च** = और, **ब्राह्मणाः** = ब्राह्मण लोग, तथा, **रथेन** = रथ से, **च** = और, **शरेण** = बाण से, **च** = और, **राजन्यबन्धवः** = क्षत्रिय बन्धु कार्य सम्पादित करते हैं।।2।।

रेणु-व्याख्या–वज्र के जो चार टुकड़े हुए उन टुकड़ों से जो चार वज्रावयवभूत चार पदार्थ उत्पन्न हुए उनके विनियोग का प्रसंग यहाँ ब्राह्मण एवं क्षत्रियवर्णों की व्यवस्था द्वारा स्पष्ट करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–उन चारों वज्र के अवयवों में से दो अवयवों का विनियोग (प्रयोग) कर ब्राह्मण यज्ञानुष्ठान कर्म सम्पादित करते हैं। किन-किन अवयवों का प्रयोग कौन करते हैं? इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–यूप एवं स्फ्य के प्रयोग द्वारा ब्राह्मण अपना ब्रह्मकर्म (यज्ञ) करते हैं तथा रथ एवं शर (बाण) के प्रयोग द्वारा राजन्यबन्धु युद्ध में कौशल प्रदर्शन पूर्वक अरिदलविनाशन करते हैं।।2।।

[स्फ्यादानस्य हेतुत्वोपपादनम्]

1.2.4.3. स यत्स्फ्यमादत्ते। यथैव तदिन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छदेवमेवैष एतं पाप्मने द्विषते भ्रातृव्याय वज्रमुद्यच्छति तस्माद्वै स्फ्यमादत्ते।।3।।

ऋजुपाठः–स यत् स्फ्यमादत्ते–तथैव तदिन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्, एवमेवैष एतं पाप्मने द्विषते भ्रातृव्याय वज्रमुद्यच्छति। तस्माद्वै स्फ्यमादत्ते।।3।।

सा.भा.–अथ तस्य स्फ्यादानं विधत्ते–**स यदिति**। तच्छब्दयच्छब्दाभ्यां प्रसिद्धिरभिधीयते। 'सः' प्रसिद्धोऽध्वर्युरित्यर्थः। **एवमेवैष** इत्यादि। वृत्रवधार्थमिन्द्रवद् विद्वेषणशीलं पापरूपं शत्रुं हन्तुं स्फ्यलक्षणं वज्रमुद्यच्छतीत्यर्थः।।3।।

अन्वयः–सः (अध्वर्युः) यत् स्फ्यम् आदत्ते (तस्य प्रयोजनमिहोच्यते)। यथैव इन्द्रो वृत्राय तत् वज्रम् उदयच्छत्। एवमेव एष (अध्वर्युः) एतं (व्रजं) पाप्मने, द्विषते भ्रातृव्याय वज्रम् उद्यच्छति। तस्माद्वै स्फ्यमादत्ते।।3।।

पदार्थः–**सः** (वह अध्वर्यु), **यत्** = जो, **स्फ्यम्** = स्फ्य (वज्र) को, **आदत्ते** = लेता है (उसका प्रयोजन कहते हैं), **यथैव** = जिस प्रकार ही, **इन्द्रः** = इन्द्र ने, **वृत्राय** = वृत्र को मारने के लिए, **तत्** = उस, **वज्रम्** = वज्र को, **उदयच्छत** = उठाया था, **एवमेव** = उसी प्रकार, **एष** = यह (अध्वर्यु), **एवं** = इस (स्फ्यरूप वज्र को), **पाप्मने** = पापी, **द्विषते** = द्वेषकारी, **भ्रातृव्यस्य** = शत्रु के लिए, **वज्रम्** = वज्र को, **उद्यच्छति** = उठाता है। **तस्मात्** = इसलिए, **वै** = ही निश्चित रूप से, **स्फ्यम्** = स्फ्य को, **आदत्ते** = लेता है।।3।।

रेणु-व्याख्या–अब यज्ञों में स्तम्बयजुर्हरण[1] के लिए अध्वर्यु वज्ररूप स्फ्य को हाथ में लेता है। यहाँ याज्ञवल्क्य इसका हेतु स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–वह जो स्फ्य ग्रहण करता है, सो जिस प्रकार इन्द्र ने वृत्रासुर का वध करने हेतु वज्र उठाया था, उसी प्रकार यहाँ यज्ञ में पापियों के, द्वेषकारियों के तथा शत्रुओं के विनाशार्थ अध्वर्यु स्फ्य को हाथ में लेता है।।3।।

---

1. जिस जगह वेदि बनानी होती है उस जगह दर्भ रखना स्तम्बयजुर्हरण कहलाता है। स्तम्बयजुर्हरिष्यन् का.श्रौ.सू. 2.6.7., आददेऽध्वरमिति (1.24.) मन्त्रेणासादित तृणसहितं स्फ्यमादाय सव्ये हस्ते सतृणं स्फ्यं निधाय दक्षिणेन हस्तेनालभ्य 'इन्द्रस्य बाहुरिति' स्वरेण जपति (देवयाज्ञिकः पृ. 42)।

[स्फ्यादानविधिः]

1.2.4.4. तमादत्ते। देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इति सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूतऽएवैनमेतदादत्तेऽश्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू तत्तयोरेव बाहुभ्यामादत्ते न स्वाभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा भागदुघस्तत्तस्यैव हस्ताभ्यामादत्ते न स्वाभ्यां व्वज्रो वा एष तस्य न मनुष्यो भर्त्ता तमेताभिर्देवताभिरादत्ते।।4।।

ऋजुपाठः—तमादत्ते—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः।"—(1 अ. 24 मं.) इति। सविता वै देवानां प्रसविता, तत्सवितृप्रसूत एवैनमेतदादत्ते अश्विनोर्बाहुभ्यामिति। अश्विनावध्वर्यू, तत्तयोरेव बाहुभ्यामादत्ते; न स्वाभ्याम्। पूष्णो हस्ताभ्यामिति। पूषा भागदुघः, तत्तस्यैव हस्ताभ्यामादत्ते; न स्वाभ्याम्। पूष्णो हस्ताभ्यामिति। पूषा भागदुघः, तत्तस्यैव हस्ताभ्यामादत्ते; न स्वाभ्याम्। वज्रो वा एषः। तस्य न मनुष्यो भर्त्ता। तमेताभिर्देवताभिरादत्ते।।4।।

सा.भा.—विहितमादानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—**तमादत्त** इति। देवस्य त्वेति मन्त्रस्य प्रागाम्नातमपि ब्राह्मणं विधेयविशेषे योजयितुं पुनराम्नायते—**सविता वा** इत्यादिना। **न स्वाभ्यामिति।** देवसम्बन्धिभ्यामेव बाहुभ्यां स्फ्यादानम्, न तु स्वकीयाभ्याम्। युक्तञ्चैतदित्याह—**वज्रो वा** इति। एष स्फ्यो वज्रः; तत्परिणामत्वात्। न हि मनुष्यस्तद्वज्रं भर्तुं शक्नोति, अतो देवस्य त्वेति मन्त्रं प्रयुञ्जानस्तं स्फ्यलक्षणं वज्रं सविताख्यादिदेवताभिरेव 'आदत्ते' आदानं कृतवान् भवति।।4।।

अन्वयः—'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृतं देवेभ्य' इति (मन्त्रेण) तमादत्ते। (यतः) सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एव एनमेतत् आदत्ते। अश्विनोर्बाहुभ्यामिति अश्विनौ अध्वर्यू तत् तयोरेव बाहुभ्यामादत्ते न स्वाभ्यां (बाहुभ्याम्)। पूष्णो हस्ताभ्याम् इति (यद्वदति) यत् पूषा भागदुघः तस्यैव हस्ताभ्याम् आदत्ते न स्वाभ्यां (हस्ताभ्याम्)। एष वज्रो वा (एव), न मनुष्यः तस्य भर्त्ता (तस्मात्) तम् (वज्रं) एताभिर्देवताभिः आदत्ते।।4।।

पदार्थः—**सवितुः** = सविता, **देवस्य** = देवता की, **प्रसवे** = आज्ञा से, **अश्विनोः** = अश्विदेवों की, **बाहुभ्यां** = भुजाओं से, **पूष्णो** = पूषा देवता के, **हस्ताभ्यां** = हाथों से, **त्वा** = तुम्हें (हे वज्र!) **अध्वरकृतं** = हिंसारहित यज्ञ के

सम्पादक, **देवेभ्यः** = देवताओं के लिए, **आददे** = ग्रहण करता हूँ, **इति** = इस मन्त्र (यजु. 1.24) से, **तम्** = उस वज्र को, **आदत्ते** = अध्वर्यु ग्रहण करता है। (क्योंकि), **सविता** = सविता देवता, **वै** = ही, **देवानां** = देवताओं का, **प्रसविता** = प्रेरक है, **तत्** = इसलिए, **सवितृप्रसूत** = सवितादेव से प्रेरित, **एव** = ही, **एनम्** = इस वज्र को, **एतत्** = इस प्रकार, **आदत्ते** = ग्रहण करता है। **अश्विनोः** = अश्विदेवों की, **बाहुभ्यां** = भुजाओं से, **इति** = यह जो कहता है सो, **अश्विनौ** = दोनों अश्विनीदेव, **अध्वर्यू** = अध्वर्यु हैं, **तत्** = इसलिए, **तयोरेव** = उन्हीं दोनों की, **बाहुभ्यां** = भुजाओं से, **आदत्ते** = लेता है, **न** = नहीं, **स्वाभ्याम्** = अपनी भुजाओं से। **पूष्णो** = पूषा देव के, **हस्ताभ्याम्** = हाथों से, **इति** = यह जो कहता है, **तत्** = सो, **पूषा** = पूषादेव, **भागदुघः** = भागों के पूरक हैं, **तस्यैव** = उसके ही, **हस्ताभ्यां** = हाथों से, **आदत्ते** = ग्रहण करता है, **न** = नहीं, **स्वाभ्याम्** = अपने हाथों से। (चूँकि), **एषः** = यह, **वज्रः** = वज्र, **वा** = ही है, **न** = नहीं कदापि, **मनुष्यः** = मानव, **तस्य** = उसका, **भर्त्ता** = धारक हो सकता है, **तस्मात्** = इसलिए, **तम्** = उस वज्र को, **एताभिः** = इन, **देवताभिः** = देवताओं के माध्यम से, **आदत्ते** = ग्रहण करता है।।4।।

रेणु-व्याख्या–यज्ञ में स्फ्य को ग्रहण करता हुआ अध्वर्यु 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः' (यजु. 1.24) इस मन्त्र का पाठ कर यह कहता है कि हे वज्र! मैं तुम्हें, सविता देवता की आज्ञा से, अश्विदेवों की भुजाओं से तथा पूषादेवता के हाथों से हिंसारहित यज्ञसम्पादक देवताओं के लिए, ग्रहण करता हूँ। इस मन्त्र वाक्य के द्वारा उस वज्र को ग्रहण करता है। यहाँ विचार करते हैं कि क्यों ऐसा कहता है? इसका हेतु स्पष्ट करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–सविता देवता ही देवों के प्रेरक हैं, इस प्रकार सविता देवता की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही इस वज्र को ग्रहण करता है। यह जो कहता है कि अश्विदेवों की भुजाओं से..., सो अश्विदेव ही अध्वर्यु हैं, इसलिए उन्हीं की भुजाओं से लेता है न अपनी भुजाओं से। यह जो कहता है कि–पूषादेवता की हाथों से...सो पूषादेवता ही यज्ञभाग का दोहन कर उसे पूर्ण करनेवाले हैं। इसलिए पूषा देवता के हाथों से ही वज्र को ग्रहण करने की इच्छा रखता है न कि अपनी हाथों से। क्योंकि यह वज्र है। यह देवताओं का आयुधविशेष ही है, इसे कोई मानव धारण नहीं कर सकता है। इसलिए इन देवताओं के माध्यम से उस यज्ञायुध (देवताओं के अस्त्र रूप) वज्र (स्फ्य) को अध्वर्यु ग्रहण करता है।।4।।

[स्फ्यस्य तीक्ष्णीकरणम्] (प्रथममन्त्रांश)

1.2.4.5. (त्त आ) आददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इति। (त्य) अध्वरो वै यज्ञो यज्ञकृतं देवेभ्य इत्येवैतदाह तꣳसव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेनाभिमृश्य जपति सꣳश्यत्येवैनमेतद्यज्जपति॥5॥

ऋजुपाठः–आददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इति। अध्वरो वै यज्ञः, यज्ञकृतं देवेभ्य इत्येवैतदाह। तं सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेनाभिमृश्य जपति। संश्यत्येवैनमेतद्–यज्जपति॥5॥

सा.भा.–आदद इति। **अध्वरो वा** इति। 'ध्वरः' हिंसाप्रत्यवायो न विद्यतेऽस्मिन्नित्यध्वरशब्दस्य यज्ञोऽर्थः। अध्वरं करोतीति 'अध्वरकृत्'। तथा च यज्ञकृतं देवेभ्य आदद इत्युक्तं भवतीत्यर्थः। **संश्यत्येवैनमिति।** वक्ष्यमाणं मन्त्रं जपतीति यत्, 'एतत्' एतेनैनं 'संश्यत्येव' सम्यक् तनूकरोति, तीक्ष्णीकरोत्येव। "शो तनूकरणे–" (दिवा. प. 39)–इति धातुः। "ओतः श्यनि"–(पा.सू. 7.3.71.) इत्योकारलोपः॥5॥

अन्वयः–तं (वज्रं) सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेन (पाणिना) अभिमृश्य 'आददेऽध्वरकृतं देवेभ्य' इति जपति। यज्ञो वै अध्वरो यज्ञकृतं देवेभ्य इत्येव एतदाह। यत् एतत् जपति (तेन) एनं संश्यत्येव॥5॥

पदार्थः–तं = उस (वज्र) को, **सव्ये** = वायें, **पाणौ** = हाथ में, **कृत्वा** = रखकर, **दक्षिणेन** = दाहिने (हाथ) से, **अभिमृश्य** = स्पर्श कर, **आददेऽध्वरकृतं** = यज्ञसम्पादक को ग्रहण करता हूँ, **देवेभ्यः** = देवता के लिए (दिव्यगुणों के लिए), **इति** = यह मन्त्र, **जपति** = जपता है। **यज्ञो** = यज्ञ, **वै** = ही, **अध्वर** = हिंसा रहित है, **यज्ञकृतं** = यज्ञसम्पादक को, **देवेभ्यः** = देवों के लिए, (धारण करता हूँ), **इति** = ऐसे, **एव** = ही, **एतत्** = यह, **आह** = कहता है। **यत्** = जो, **एतत्** = यह, **जपति** = पढ़ता है, (उससे), **एवं** = इस स्फ्य रूप वज्र को, **संश्यति** = तीक्ष्ण करता (पैना करता) है, **एव** = ही॥5॥

रेणु-व्याख्या–समन्त्रक देवताओं के आयुध स्फ्यरूप वज्र को अध्वर्यु देवताओं की भुजाओं, हाथों एवं आज्ञा से तुम्हें ग्रहण करता हूँ यह कहकर स्फ्य को दाहिने हाथ से उठाकर वायें हाथ में रखता है तथा उस स्फ्य को तीक्ष्ण (पैना/तेज) बनाने के लिए दाहिने हाथ से अभिमर्शन (स्पर्श) करता हुआ 'आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः'(यजु. 1.24.) मन्त्रांश का पाठ करता है। इस मन्त्र को पढ़कर यह कहता है कि–हे स्फ्य! मैं दिव्यगुणसम्पन्न देवताओं के लिए अध्वरकृत् तुम्हें ग्रहण करता हूँ। अध्वर शब्द

यहाँ यज्ञ का वाचक है।[1] इसलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अध्वर ही यज्ञ है। मन्त्र में अध्वरकृतं शब्द के द्वारा यज्ञकृतं ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् यह वज्र यज्ञसम्पादक है। इसलिए ऐसा कहता हुआ वज्र को तेजधार वाला बनाता है।।5।।

[स्फ्यस्य इन्द्रस्य बाहुरूपत्वोपपादनम्] (द्वितीयमन्त्रांशः)

1.2.4.6. स जपति। (ती) इन्द्रस्य बाहुरसि दुक्षिण ऽइत्येष वै व्वीर्य्यवत्तमो य इन्द्रस्य बाहुर्द्दक्षिणस्तस्मादाहेन्द्रस्य बाहुरसि दुक्षिण इति सहस्त्रभृष्टिः शततेजाऽ इति सहस्त्रभृष्टिर्व्वै स व्वज्रऽ आसीच्छततेजा यं तं व्वृत्राय प्राहरत्तमेवैतत्करोति।।6।।

ऋजुपाठः—स जपति—"इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः"—(1 अ. 24 मं.) इति। एष वै वीर्यवत्तमो य इन्द्रस्य बाहुर्दक्षिणः। तस्मादाह-इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इति। 'सहस्रभृष्टिः शततेजाः' (1 अ. 24 मं.) इति। सहस्रभृष्टिर्वै स वज्र आसीच्छततेजाः। यं तं वृत्राय प्राहरत् तमेवैतत् करोति।।6।।

सा.भा.—विहितं जपमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—**स** इति। इन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरतिशयेन वीर्यवान्, वृत्राख्यासुरवधकारित्वात्। अतः स एव त्वमसीति स्फ्यस्य स्तुतिरिति व्याचष्टे—**एष वा** इति। द्वितीयं भागमनूद्य व्याचष्टे—**सहस्त्रभृष्टिरिति।** सहस्रं भृष्टयोऽश्रयः, यद्वा भर्जनानि हिंसाविशेषा वृत्रवधादिषु येन क्रियन्ते स वज्रः 'सहस्त्रभृष्टिः'। यः 'शततेजाः' अपरिमितदीप्तिः, तादृशो वज्रः। स एव त्वमसीति स्फ्यस्तुतिः। वज्रस्येमां प्रसिद्धिं द्योतयितुं 'वै'—शब्दः। **यं तमिति।** 'तम्' उक्तविधं 'यं' वज्रं वृत्रवधार्थमिन्द्रः प्राहरत्, 'तमेव' तदात्मकमेवानेन मन्त्रभागेन करोतीत्यर्थः।।6।।

अन्वयः—'इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः' इति स जपति। एष वै वीर्यवत्तमो यः इन्द्रस्य दक्षिणो बाहुः तस्मात् इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इति आह। सहस्रभृष्टिः शततेजा इति सहस्त्रभृष्टिर्वै स वज्र आसीत् शततेजाः। तं यं वृत्राय प्राहरत् तम् एव एतत् करोति।।6।।[1]

पदार्थः—**इन्द्रस्य** = इन्द्र की, **बाहुरसि** = भुजा हो, **दक्षिणः** = दाहिनी, **इति** = यह यजु, **जपति** = पढ़ता है। **एष** = यह, **वै** = निश्चय ही, **वीर्यवत्तमः** = अत्यधिक शक्तिशाली है, **यः** = जो, **इन्द्रस्य** = इन्द्रकी, **दक्षिणो** = दाहिनी, **बाहुः** = भुजा है। **तस्मात्** = इसलिए, **इन्द्रस्य** = इन्द्र की, **बाहुरसि** = भुजा

---

1. ध्वरिति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः। अध्वर इति यज्ञनाम। इति च यास्कः। "ध्वर" हिंसाप्रत्यवायो न विद्यतेऽस्मिन्नित्यध्वरशब्दस्य यज्ञोऽर्थः। अध्वरं करोतीति अध्वरकृत्" इत्याह सायणः।

हो, **दक्षिणः** = दाहिनी, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है। **सहस्र** = हजारों, **भृष्टिः** = नोकों (नुकीले धारों) वाला, **शततेजाः** = शतगुणित (अत्यन्त तेजधार) धारों वाला है, **इति** = ऐसा कहता है। (क्योंकि सहस्रभृष्टिः) हजारों भाले के समान नुकीले कील सदृश ज्वालाओं वाला, **वै** = ही (निश्चयरूपेण), **सः** = वह, **वज्रः** = वज्र (स्फ्य), **आसीत्** = था, **शततेजाः** = सौ गुणा तीक्ष्ण धारों वाला। **तं** = इस प्रकार के उपर्युक्त गुणों से युक्त, **यं** = जिस वज्र को, **वृत्राय** = वृत्रासुर वध के लिए (इन्द्र ने), **प्राहरत्** = प्रहार किया था, **तम्** = उस तरह का सामर्थ्य वाला, **एव** = ही, **एतत्** = इस स्फ्यरूप वज्र को, **करोति** = बनाता है॥6॥

रेणु-व्याख्या—अध्वर्यु मन्त्र द्वारा वज्र की स्तुति इन्द्र की दाहिनी भुजा के रूप में करता है। इस मन्त्र में वज्र को इन्द्र की दाहिनी भूजा के रूप में वर्णित करते हुए याज्ञवल्क्य यजुर्वेदीय मन्त्र के खण्ड को उपपादित करते हुए कहते हैं कि—हे वज्र! तुम इन्द्र की दाहिनी भुजारूप हो 'इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः' (यजु. 1.24) इस मन्त्र का पाठ करता हुआ अध्वर्यु वज्र को तेज करता है। चूँकि यह जो इन्द्र की दाहिनी भुजा है, वह अत्यन्त बलवान् (शक्तिशाली) है, इसलिए अत्यन्त बलयुक्त वज्र को 'तुम इन्द्र की दाहिनी भुजा हो' ऐसा कहता है। इसके साथ हजार नोकों वाला तथा सौ गुणा अधिक तेजधार (ज्वालाओं) वाला है, ऐसा इसलिए कहता है कि इन्द्र का जो वज्र था, वह हजारों नुकीले मुँह (भालों की तरह नोक) वाला तथा सौ गुणा तेज ज्वालाओं (धारों) वाला था। इस प्रकार के उक्त गुणों से युक्त जिस वज्र का इन्द्र ने वृत्रासुर के वध हेतु प्रहार किया था, उस तरह का सामर्थ्य वाला ही इस स्फ्यरूप वज्र को भी बनाता है। ऐसी भावना के साथ तीक्ष्ण करता है॥6॥

[वज्रस्य वायुरूपत्वोपपादनम्] (तृतीयमन्त्रांशः)

1.2.4.7. व्वायुरसि तिग्मतेजा ऽइति। (त्ये) एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यदयं योऽयं पवतऽएष हीमाँल्लोकाँस्तिर्य्यङ्ङनुपवते सꣳश्यत्येवैनमेतद्द्विषतो व्वध ऽइति यदि नाभिचरेद्यद्युऽअभिचरेदमुष्य व्वध ऽइति ब्रूयात्तेन सꣳशितेन नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीं नेदनेन व्वज्रेण सꣳशितेनात्मानं वा पृथिवीं वा हिनसानीति तस्मान्नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीम्॥7॥

ऋजुपाठः–"वायुरसि तिग्मतेजाः"–(1 अ. 24 मं.) इति। एतद्वै तेजिष्ठं तेजः–यदयं योऽयं पवते। एष हीमाँल्लोकांस्तिर्यङ्ङनुपवते। संश्यत्येवैनमेतद्–**"द्विषतो वधः"**–(1 अ. 24 मं.) इति, यदि नाभिचरेद् यद्यु अभिचरेद् अमुष्य वध इति ब्रूयात् तेन संशितेन नात्मानमुपस्पृशति, न पृथिवीम्; नेदनेन वज्रेण संशितेनात्मानं वा पृथिवीं वा हिनसानीति। तस्मान्नात्मानमुपस्पृशति, न पृथिवीम्॥7॥

सा. भा.–तृतीयभागमनूद्य व्याचष्टे–**वायुरसीति**। यः 'तिग्मतेजाः' वायुः, स एव त्वमसीति स्तुतिः। वायोस्तिग्मतेजस्त्वमुपपादयति। एतद्वा इति। यः 'अयं' वायुः 'पवते' अन्तरिक्षे चरति, एतत् खलु तेजसां मध्ये तेजस्वितमं तेजः। इममेवातिशयमुपपादयति–**एष हीति**। अग्न्यादितेजोऽन्तरं हि कुत्रचिदेव परिच्छिन्नम्, 'एष हि' वायुरिमान् सर्वान्–लोकान् अनुक्रमेण तिर्यग्वृत्तिः 'पवते' युगपद्व्याप्नोतीत्यर्थः। अस्य प्रयोजनमाह–**सꣳश्यतीति**। 'एतत्' एतेनोक्तविधवायुतादात्म्यप्रतिपादनेनेत्यर्थः। **अमुष्य वध** इति। अभिचारप्रयोगे 'द्विषतो वधः'–इत्यस्य स्थाने 'अमुष्य' देवदत्तस्य वध इति शत्रोर्नाम निर्दिशेदित्यर्थः। एतेन मन्त्रजपात्तीक्ष्णीकृतेन स्फ्येनात्मनोऽन्यस्य च संस्पर्शं निषेधति–**तेनेति**। 'हिनसानि' हिंसितं करवाणीत्यर्थः। "हिसि हिंसायाम्"–(रु.प. 59)–इत्यस्माल्लोटि रूपम्॥7॥

अन्वयः–(हे वज्र! त्वं) तिग्मतेजा वायुः असि इति। योऽयं पवते एतत् वै तेजिष्ठम्? यत् अयं तेजः एष हि इमान् लोकान् तिर्यङ् अनुपवते। 'द्विषतो वध' (1. 24) इति एतत् (मन्त्रेण), एनं संश्यति एव, यदि न अभिचरेत्। यदि उ अभिचरेत् अमुष्य वध इति ब्रूयात्। तेन संशितेन (वज्रेण) आत्मानं न उपस्पृशति, न पृथिवीम्। इत अनेन संशितेन वज्रेण आत्मानं वा पृथिवीं वा न हिनसानि इति। तस्मात् न आत्मानम् उपस्पृशति न पृथिवीम्॥7॥

पदार्थः–(हे वज्र! तुम), **तिग्मतेजा** = तीक्ष्ण तेज (ज्वाला) वाले, **वायुः** = वायुरूप, **असि** = हो, **इति** = ऐसा मन्त्र पढ़ता है, **यः** = जो, **अयं** = यह, **पवते** = बहता हुआ पवित्र करता है, **एतत्** = यह, **वै** = निश्चित ही, **तेजिष्ठम्** = अत्यन्त तेजस्वी है। **यत्** = जो, **अयं** = यह, **तेजः** = तेज (ज्वाला) है, **एष** = यह, **हि** = ही, **इमान्** = इन समस्त, **लोकान्** = लोकों को, **तिर्यङ्** = तिरछे एवं तेज गति से, **अनुपवते** = बहते हुए पवित्र करता है। '**द्विषतो** = द्वेष करने वाले शत्रुओं के, **वधः** = वध हेतु, **इति** = ऐसा, **एतत्** = इस मन्त्र के द्वारा कहता हुआ, **एनं** = इस वज्र को, **संश्यति** = तीक्ष्णकरता है, **एव** = ही, **यदि** =अगर, **न** = नहीं, **अभिचरेत्** = अभिचार करे तो। (किन्तु), **यदि** = अगर, **उ** = निश्चय रूप से, **अभिचरेत्** = अभिचार करे (किसी को

मारना चाहे), (तो) **अमुष्य** = अमुक (शत्रु का नाम लेकर) का, **वधः** = वध हो, **इति** = ऐसा, **ब्रूयात्** = बोले। **तेन** = उस, **संशितेन** = तीक्ष्णीकृत, (वज्र से), **आत्मानं** = अपने शरीर को, **न** = नहीं, **उपस्पृशति** = छूता है, **न** = नहीं, **पृथिवीम्** = पृथिवी को ही छूता है। **इत** = इसके (तीक्ष्णीकरण के) बाद से, **अनेन** = इस, **संशितेन** = पिजाए (पैना किए तीक्ष्णीकृत) हुए, **वज्रेण** = वज्र से, **आत्मानं** = अपना, **वा** = और, **पृथिवीं** = पृथिवी का, **वा** = ही, **न** = नहीं, **हिनसानि** = हिंसा करूँ, **इति** = इस बुद्धि से स्पर्श न करे। **तस्मात्** = इसलिए, **न** = नहीं, **आत्मानं** = अपने शरीर को, **उपस्पृशति** = छूता है और, **न** = न ही, **पृथिवीम्** = पृथिवी को ही स्पर्श करता (छूता) है।।7।।

रेणु-व्याख्या—अध्वर्यु वायें हाथ में लिए हुए वज्र को दायें हाथ से उसका स्पर्श करते हुए वज्र को तेज (धारदार) बनाने के अभिप्राय से 'वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः' (यजु. 1.24) इस मन्त्रांश का पाठकर यह कहता है कि—हे वज्र! जिस प्रकार वायु समस्त संसार को चीरते हुए अत्यन्त तेज गति से बहता हुआ सबको दोषमुक्त (पवित्र) करता है, उसी प्रकार तुम भी तेज धारदार होकर तीक्ष्ण ज्वालाओं के साथ तिरछी गति से चलते हुए हमारे शत्रु, पापी, द्वेषी, असुर, राक्षस, यज्ञविघातकों को नष्ट कर समस्त संसार को हमारे अनुकूल बना दो। इसी भाव को मन में लेकर अध्वर्यु स्फ्य (वज्र) से कहता है कि—तुम तीक्ष्ण ज्वालाओं वाला वायु स्वरूप हो। वायु अत्यन्त तेजस्वी है, वह अपने तेजोबल से समस्त संसार को पवित्र करता है। इस प्रकार अध्वर्यु शत्रुविनाशनार्थ स्फ्य को तेजिष्ठ बनाता है। यदि यजमान का कोई लौकिक शत्रु न हो तो इस मन्त्र का प्रयोग स्फ्य (वज्र) को तीक्ष्ण (पैना) बनाने के निमित्त मात्र करे। अगर अभिचार करना चाहे (किसी लौकिक शत्रु को मारना चाहे) तो उसे 'अमुष्य वधः' 'अमुक (शत्रु के नाम गोत्रादि का उच्चारण कर) को मारने के लिए'—ऐसा कहे।

यहाँ एक सावधानी रखने का निर्देश करते हुए भगवान् यज्ञवल्क्य कहते हैं कि जब यज्ञायुध (स्फ्य, वज्र) मन्त्र द्वारा तेजस्वी (तेजिष्ठ) हो जाए तब इससे न अपने आपको स्पर्श करावे और न ही भूमि को स्पर्श करावे। चूँकि वज्र तेजस्वी हो जाने के बाद जिस किसी से स्पृष्ट होगा उसको हानि पहुँचाएगा। अतः अध्वर्यु सावधान रहकर उस तीक्ष्णीकृत (तेजिष्ठ/तेजस्वी) वज्र से न स्वयं को छूता है और न ही उससे पृथिवी को ही छूता है।।7।।

[स्तम्बयजुर्हरणविधित्सुस्तस्यासुरनिर्हरणलक्षणं प्रयोजनम्]

1.2.4.8. दे॒वा॒श्च वाऽअ॒सुराश्च। (श्चो) उभ॒ये प्राजापत्या॒ः पस्पृधिरे ते॒ ह स्म य॒द्देवाऽअ॒सुरा॒ञ्ज॒यन्ति त॒तो ह स्मै॒वैना॒न्पु॒नरुपो॒त्तिष्ठन्ति॥8॥

ऋजुपाठः–देवाश्च वा, असुराश्च; उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ते ह स्म यद्देवा असुरान् जयन्ति–ततो ह स्मैवैनान् पुनरुपोत्तिष्ठन्ति॥8॥

सा.भा.–अथ स्तम्बयजुर्हरणं विधित्सुस्तस्यासुरनिर्हरणलक्षणं प्रयोजनं वक्तुमाख्यायिकामाह–**देवाश्चेति**। प्रजापतेर्हि द्वे स्त्रियौ–दितिरदितिश्च। तत्रादितेः पुत्रा देवाः, दितेः पुत्रा असुराः; अतः 'उभये' अपि 'प्राजापत्याः' प्रजापतेः पुत्राः। ते 'पस्पृधिरे' स्पर्द्धां कृतवन्तः। यदा खलु 'ते' देवा असुरान् जयन्ति, 'ततः' अनन्तरक्षणमेव 'एनान्' देवानभिलक्ष्य पुनरसुरा उत्तिष्ठन्ति। "उदोऽनूर्ध्वकर्मणि" (पा.सू. 1.3.24.)–इति पर्युदासादिह चोर्ध्वकर्मत्वादात्मनेपदाभावः॥8॥

अन्वयः–प्राजापत्याः देवाश्च वा असुराश्च वा उभये पस्पृधिरे। यत् ते देवा ह असुरान् जयन्ति स्म, ततो एनान् (देवानभिलक्ष्य) ह पुनः (असुराः) उपेत्तिष्ठन्ति स्म॥8॥

पदार्थः–**प्राजापत्या** = प्रजापति के पुत्र, **देवाश्च** = देवगण (अदिति के पुत्र) और, **असुराश्च** = असुरगण (दिति के पुत्र), **उभये** = दोनों, **पस्पृधिरे** = प्रतियोगिता (स्पर्द्धा, युद्ध) किये। **यत्** = जब-जब, **ते** = वे, **देवाः** = देवगण, **ह** = प्रसिद्ध, **असुरान्** = असुरों को, **जयन्ति** = जीतते, **स्म** = थे, **ततो** = उसके तुरन्त बाद, **एनान्** = इन देवों को (अभिलक्षित कर), **ह** = प्रसिद्ध (असुर), **पुनः** = फिर से (युद्ध करने, उन्हें कष्ट देने हेतु), **उपोत्तिष्ठन्ति** = उठकर खड़े हो जाते, **स्म** = थे॥8॥

रेणु-व्याख्या–यहाँ स्तम्बयजुर्हरण विधि करने, तथा उसके द्वारा असुरनिर्हरण लक्षण प्रयोजन को स्पष्ट करने के लिए एक प्राचीन कथा (आख्यायिका) को उद्धृत करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–प्रजापति की दो स्त्रियाँ हैं–दिति एवं अदिति। दिति के पुत्र दैत्य (असुर) तथा अदिति के पुत्र आदित्य (देव) कहलाते हैं इसलिए ये दोनों प्राजापत्य अर्थात् प्रजापति के पुत्र कहलाते हैं।

एक बार देव एवं असुर दोनों प्रजापति के पुत्र आपस में प्रतियोगिता (स्पर्द्धा) करने लगे। उस स्पर्द्धा में जब-जब देवगण प्रसिद्ध बलशाली असुरों पर विजय

प्राप्त करते थे, तब-तब तत्क्षण ही प्रसिद्ध बलशाली असुर देवताओं को दबोचने (कष्ट पहुँचाने) के लिए फिर से उठकर खड़े हो जाते थे।।8।।

[देवैः कृतं जयोपायचिन्तनम्]

1.2.4.9. ते ह देवाऽऊचुः। (र्जे) जयामो वाऽअसुरांस्ततस्त्वेव नः पुनरुपोत्तिष्ठन्ति कथं न्वेनाननपजय्यं जयेमेति।।9।।

ऋजुपाठः—ते ह देवा ऊचुः—जयामो वा असुरांस्ततस्त्वेव नः पुनरुपोत्तिष्ठन्ति, कथं न्वेनाननपजय्यं जयेमेति।।9।।

सा.भा.—अथ देवैः कृतं जयोपायचिन्तनमुपन्यस्यति—**ते हेति।** 'अनपज्य्यं' जेतुमशक्यम् 'एनान्' असुरान् केन खलु प्रकारेण पुनरुत्थानरहितं जयेमेत्येवं विचारितवन्त इत्यर्थः। "क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे" (पा.सू. 6.1.81.)—इति जयतेर्यति निपात्यते।।9।।

अन्वयः—ते ह देवाः—असुरान् तु जयामः ततो वै नः पुनः उपोत्तिष्ठन्ति एव। कथं एनान् अनपजय्यं नु जयेम इति (परस्परम्) ऊचुः।।9।।

पदार्थः—**ते** = वे, **ह** = प्रसिद्ध, **देवाः** = देवगण, **असुरान्** = असुरों को, **तु** = तो, **जयामः** = जीत लेते हैं, **ततो** = किन्तु उसके बाद, **वै** = निश्चित रूप से, **नः** = हमें सताने के लिए, **पुनः** = फिर से, **उपोत्तिष्ठन्ति** = उठकर खड़े हो जाते हैं, **एव** = ही, **कथं** = किसी प्रकार, **एनान्** = इन, **अनपजय्यं** = नहीं जीतने योग्य (असुरों को), **नु** = शीघ्र, **जयेम** = जीतें, **इति** = ऐसा, **ऊचुः** = परस्पर विचार करने लगे।।9।।

रेणु-व्याख्या—देवताओं के द्वारा युद्ध में बार-बार पराजित होते हुए भी असुरों ने अपना स्वभाव बदलकर देवों को सताना नहीं छोड़ा। फलतः देवताओं को भी इस बात की चिन्ता होने लगी कि इन असुरों को बार-बार पराजित करने पर भी ये पुनः युद्ध करने तथा हमें कष्ट देने के लिए उठकर खड़े हो ही जाते हैं। इस विषय पर देव-संसद में परस्पर विचार-विमर्श होने लगा। सब देवता परस्पर एक-दूसरे से संवाद करने लगे कि कैसे इन अनपजय्य अर्थात् नहीं जीतने योग्य असुरों पर हम शीघ्र विजय प्राप्त करें, उसकी विधि क्या हो? ताकि ये पुनः उठकर खड़े न हों, और हमारी विजय यथावत् सुरक्षित रहे, ऐसा विचार करने लगे।।9।।

[अग्निनोपदिष्टं जयप्रकारम्]

1.2.4.10. स हाग्निरुवाच। (चो) उदञ्चो वै नः पलाय्य मुच्यन्तऽ इत्युदञ्चो ह स्मैवैषां पलाय्य मुच्यन्ते।।10।।

ऋजुपाठः–स हाग्निरुवाच–उदञ्चो वै नः पलाय्य मुच्यन्त इति। उदञ्चो ह स्मैवैषां पलाय्य मुच्यन्ते॥10॥

सा.भा.–अथाग्निनोपदिष्टं जयप्रकारं दर्शयति–**स हेति।** 'नः' अस्माकं सकाशादुदङ्मुखाः सन्तः 'पलाय्य' पलायनं कृत्वा "अय गतौ" (भ्वा.आ. 475)–इत्यस्मात्। क्त्वो ल्यप्, (पा.सू. 7.1.37.) "उपसर्गस्यायतौ"–(पा.सू. 8.2.19.)–इति लत्वम्। अग्निनोक्तं वाक्यं सत्यमिति श्रुतिः स्वयमेवानुवदति–**उदञ्चो** हेति॥10॥

अन्वयः–सः ह अग्निः उवाच–नः (सकाशात्) उदञ्चो वै पलाय्य मुच्यन्ते इति। एषाम् उदञ्चो ह पलाय्य मुच्यन्ते स्म एव॥10॥

पदार्थः–**सः** = वह, **ह** = प्रसिद्ध, **अग्निः** = अग्नि ने, **उवाच** = बोला, **नः** = हमारे पास से, **उदञ्चो** = उत्तर की ओर, **पलाय्य** = भागकर, **वै** = ही, **मुच्यन्ते** = बच जाते हैं, **इति** = ऐसा। (अग्नि के कथन को अन्य देवों ने सत्यापित करते हुए कहाँ-हाँ यह सत्य है कि), **एषाम्** = इन असुरों के, **उदञ्चो** = उत्तर की ओर, **ह** = निश्चित, **पलाय्य** = भागने से, **मुच्यन्ते स्म** = हमारे पराजय से मुक्ति मिलती थी, **एव** = ही॥10॥

रेणु-व्याख्या–असुरों से पराजित होने के उपरान्त पुनः देवों को कष्ट देने हेतु उठकर खड़े होने की बात को लेकर देवसंसद में चल रही गोष्ठी में अग्निदेव ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा कि–'ये असुर हमसे पराजित होकर उत्तर की ओर भागकर चले जाते हैं जिसके कारण ये पुनः सामर्थ्यवान् होकर हमसे लड़ने चले आते हैं।' अग्नि के कथन को पुष्ट करते हुए अन्य देवों ने भी इस सत्य को प्रस्तुत किया कि–"हाँ यह सत्य है कि असुर उत्तर की ओर भाग जाने के कारण ही पराजित होने के उपरान्त भी सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं।"॥10॥

[असुरान् जेतुं देवान् प्रत्यग्नेरुपायप्रबोधनम्]

1.2.4.11. स हाग्निरुवाच। (चा) अहमुत्तरतः पर्यैष्याम्यथ यूयमित उपसꣳ रोत्स्यथ तान्त्स ꣳ रुध्यैभिश्च लोकैरभिनिधास्यामो यदुचेमाँल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न स ꣳ हास्यन्तऽइति॥11॥

ऋजुपाठः–स हाग्निरुवाच–अहमुत्तरतः पर्यैष्यामि, अथ यूयमित उपसंरोत्स्यथ। तान् संरुध्यैभिश्च लोकैरभिनिधास्यामः–यदुचेमाँल्लोकानति चतुर्थम्। ततः पुनर्न संहास्यन्त इति॥11॥

सा.भा.–एवमुत्तरतोऽवस्थितानसुरान् जेतुमग्निरेवोपायं देवान् प्रत्युपदिशति–**स हेति।** इत इत्यादि। 'इतः' अस्माद् वेदिलक्षणात् स्थानात् 'उपसंरोत्स्यथ' उपसंरुद्धान् प्रतिबन्धगतानसुरान् करिष्यथ। 'अथ' अनन्तरमेव वयं 'एभिः' पुरोवातिभिः पृथिव्यादिभिस्त्रिभिर्लोकैः 'अभिनिधास्यामः' अभितः सर्वतो निरुद्धगतान् निहितान् करिष्यामः। यद्वा, अभितो नितरां क्षिप्तान् त्याजितान् करिष्यामः। इमान् लोकान् 'अति' अतिक्रम्य यच्चतुर्थं लोकजातमस्ति, अस्माकमप्रत्यक्षम्, तेनापि त्याजितान् करिष्यामः। 'ततः' अनन्तरमसुराः पुनः 'न संहास्यन्ते' संगता न भविष्यन्ति। विशीर्णा बाधिता एव भवेयुरित्यर्थः। "ओहाङ् गतौ"–(जु.आ. 7) इति धातुः॥11॥

अन्वयः–सः ह अग्निः उवाच (यत्)–अहम् उत्तरतः पर्येष्यामि, अथ यूयं इतः उपसंरोत्स्यथ (एवं) तान् संरुध्य च एभिः लोकैः अभिनिधास्यामः। च यत् उ इमान् लोकान् अति (क्रम्य) चतुर्थं (लोकमागमिष्यन्ति) न पुनः संहास्यन्ते इति॥11॥

पदार्थः–**सः** = वह, **ह** = प्रसिद्ध, **अग्निः** = अग्निदेव, **उवाच** = बोले (कि)–**अहम्** = मैं, **उत्तरतः** = उत्तर की ओर से, **पर्येष्यामि** = घेरूँगा, **अथ** = और, **यूयम्** = तुमलोग, **इतः** = इधर से, **उपसंरोत्स्यथ** = घेरोगे (रोकोगे) ऐसा करने से, **तान्** = उन असुरों को, **संरुध्य** = रोककर, **च** = ही, **एभिः** = इन, **लोकैः** = लोकों से, **अभिनिधास्यामः** = उनकी गति रोककर उन्हें दबा सकेंगे। **च** = और, **यत्** = यदि; **उ** = ही, **इमान्** = इन, **लोकान्** = तीनों लोकों को, **अति** = अतिक्रमण कर, **चतुर्थं** = अप्रत्यक्ष चौथे लोक में पहुँचे तो, **न** = नहीं, **पुनः** = फिर कभी, **संहास्यन्ते** = संगत (उठ सकेंगे) हो पाएँगे, **इति** = ऐसा विचार दिया॥11॥

रेणु-व्याख्या–देवसंसद में असुरों के इस स्वरूप पर कि पराजित होने के बाद भी वे पुनः हमसे युद्ध करने हेतु उठकर खड़े हो जाते हैं। इन्हें कैसे रोका जाय? विचार प्रस्तुत करते हुए अग्निदेव ने कहा–मैं उत्तर से उन्हें रोकूँगा (घेरूँगा) तुमलोग इधर से घेरोगे तो वे दोनों ओर से घिर जाएँगे। ऐसा करने से इन तीनों लोकों में निरुद्ध गति करके उन्हें हम दबा सकते हैं। और इन लोकों को पार कर यदि वे चौथा लोक जो अप्रत्यक्ष है, वहाँ पहुँचने का प्रयास करेंगे तो हम वहाँ इस प्रकार दण्डित करेंगे कि पुनः वे सिर उठाकर हमारी ओर देख नहीं सकेंगे और न ही हमसे युद्ध करने हेतु संगत हो पाएँगे॥11॥

[अग्निनोपदिष्टस्य मार्गस्य देवैरनुशंसनम्]

1.2.4.12. सोऽग्निरुत्तरतः पर्यैत्। (द्) अथेमऽइत ऽउपसमरुन्धंस्तान्त्स थ्ं रुध्यैभिश्च लोकैरभिन्यदधुर्य्यदु

चेमाँल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न्न समजिहत तदेतन्निदानेन यत्स्तम्बयजुः॥12॥

ऋजुपाठः—सोऽग्निरुत्तरतः पर्यैत्। अथेम इत उपसमरुन्धन्। तान् संरुध्यैभिश्च लोकैरभिन्यदधुः—यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थम्। ततः पुनर्न समजिहत। तदेतन्निदानेन यत् स्तम्बयजुः॥12॥

सा.भा.—इत्थमग्निनोक्तं वाक्यं श्रुत्वा तथैव तैर्देवैः कृतं श्रुतिरुपबध्नाति—**सोऽग्निरिति।** अग्निः 'उत्तरतः' उत्तरस्यां दिशि 'पर्य्यैत्' पर्य्यगच्छत्। अग्निवाक्ये हि चिकीर्षितार्थोपदेशनाद् भविष्यदर्थवाचिनो लृटः प्रयोगः। श्रुतिवाक्ये तु निर्वृत्तार्थप्रतिपादनाद् भूतानद्यतनवाचिनो लङः प्रयोग इत्येतावान् भेदः। (पा.सू. 3/3/13, 3/2/111)। **तदेतदित्यादि।** यदत्र स्तम्बयजुर्हरणं करिष्यते, एतत् 'निदानेन' मूलकारणेन निरूप्यमाणं सद् देवैः कृतं 'तत्' असुरनिरसनम्। अतो यज्ञविघातकासुरनिर्हणार्थं स्तम्बयजुर्हरणमिति विधिरुन्नेयः॥12॥

अन्वयः—सः अग्निः उत्तरतः पर्यैत्। अथ इमे इतः तान् उपसमरुन्धन्। एभिः लोकैः संरुध्यैभिः च (तान्) अभिन्यदधुः। यत् उ च इमान् लोकान् अति चतुर्थं ततः न पुनः समजिहत। यत् एतत् स्तम्बयजुः तत एतत् निदानेन॥12॥

पदार्थः—**सः** = उस, **अग्निः** = अग्नि ने, **उत्तरतः** = उत्तर की ओर, **पर्यैत्** = घेरा डाल दिया, **अथ** = इसके बाद, **इमे** = इन देवों ने, **इतः** = इधर से, **तान्** = उन असुरों को, **उपसमरुन्धन्** = रोककर घेरा, **एभिः** = इन, **लोकैः** = तीनों लोकों से, **संरुध्य** = घेरकर, **च** = और, **अभिन्यदधुः** = उन्हें निरुद्ध गति कर दबा दिया (बेचारा बना दिया), **यत्** = जो, **उ** = ही, **च** = पुनः, **इमान्** = इन, **लोकान्** = लोकों को, **अति** = पार करने पर (अप्रत्यक्ष), **चतुर्थं** = चौथा लोक है, **ततः** = वहाँ से, **न** = नहीं, **पुनः** = फिर, **समजिहत** = उठ सके (संगत हो सके)। (इस प्रकार) **यत्** = जो, **एतत्** = यह, **स्तम्बयजुः** = इष्टियाग में स्तम्बयजुर्हरण प्रयोग है, **तत्** = वह, **निदानेन** = समाधान है॥12॥

रेणु-व्याख्या—अग्नि के विचार का अनुपालन करते हुए सभी देवगण अपने-अपने कार्य में लग गये। अग्नि ने उत्तर की ओर से उन असुरों को घेर दिया, अन्य सभी देवों ने इधर से निरुद्धगति कर दिया। इस प्रकार इन तीनों लोकों से उन असुरों को घेरकर देवों ने उन्हें सकपंज (बेचारा) कर दिया। इन तीनों

लोकों से अतिक्रान्तभूत (अप्रत्यक्ष) जो चौथा लोक है, वहाँ से वे असुर पुनः सिर उठाकर देवों की ओर देखने किंवा संगत होने में सर्वथा असमर्थ हो गए। इस प्रकार इष्टियागों में जो यह स्तम्बयजुर्हरण प्रयोग द्वारा तृण का प्रक्षेप किया जाता है, वह इस समस्या का निदानरूप (असुरों को दबाने का) कृत्य है। यह तृण सामान्य घास नहीं, अपितु मन्त्रशक्ति द्वारा प्रक्षेपास्त्र का स्वरूप धारण कर यज्ञविघातक असुरों को रोकने में समर्थ हो जाता है।।12।।

[वर्तमानकालिकयज्ञे (ब्राह्मणैरनुष्ठितस्य) स्तम्बयजुर्हरणस्य प्रभावकथनम्]

1.2.4.13. स योऽसावग्नीदुत्तरतः पर्य्येति। (त्य) अग्निरेवैष निदानेन तानध्वर्युरेवतऽउपस ᳫ्ँ रुणद्धि तान्त्स ᳫ्ँ रुध्यैभिश्च लोकैरभिनिदधाति यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न सञ्जिहते तस्मादप्येतर्ह्यसुरा न सञ्जिहते येन ह्येवैनान्देवाऽअवाबाधन्त तेनैवैनानप्येतर्हि ब्राह्मणा यज्ञेऽवबाधन्ते।।13।।

ऋजुपाठः–सः–योऽसावग्नीद् उत्तरतः पर्येति। अग्निरेवैष निदानेन। तानध्वर्युरेवेत उपसंरुणद्धि। तान् संरुध्यैभिश्च लौकैरभिनिदधाति–यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थम्। ततः पुनर्न सञ्जिहते। तस्मादप्येतर्ह्यसुरा न सञ्जिहते। येन ह्येवैनान् देवा अवाबाधन्त, तेनैवैनानप्येतर्हि ब्राह्मणा यज्ञेऽवबाधन्ते।।13।।

सा.भा.–**स योऽसाविति**। स्तम्बयजुर्हरणसमये 'योऽसौ' आग्नीध्रो वेदेरुत्तरतः परीत्य वर्तते। 'एषः' 'निदानेन' मूलकारणेन निरूप्यमाणः सन् 'अग्निरेव'। योऽग्निः पुरा असुरान्निरोद्धुमुदक् पर्य्यैत्, तदात्मक एवाग्नीध्र इत्यर्थः। ननु तत्रोपसंरोधका देवाः तत्स्थानीय ऋत्विजां मध्ये कः? इति तं दर्शयति–**तानध्वर्युरिति**। येनोपायेन पुरा देवा असुरानबाधिषत, तेनैवोपायेन यज्ञानुष्ठानसमये तद्विघातिनोऽसुरा बाधितव्या इति निगमयति–**तस्मादिति**।।13।।

अन्वयः–यः असौ अग्नीत् सः अग्निः एव एष निदाने न उत्तरतः पर्येति। अध्वर्युः एव इतः तान् (असुरान्) संरुणद्धि। एभिः लोकैः संरुध्य तान् (असुरान्) अभिनिदधाति। यत् उ च इमान् लोकान् अति चतुर्थं ततः पुनः न सञ्जिहते। तस्मात् एतर्हि अपि असुरा न सञ्जिहते। हि येन (विधिना) देवा एनान् अवाबाधन्त तेन एव ब्राह्मणा अपि एनान् एतर्हि यज्ञे अवबाधन्ते।।13।।

पदार्थः—**यः** = जो, **असौ** = यह, **अग्नीत्** = आग्नीध्र नामक ऋत्विक् है, (वह), **अग्निः** = अग्निरूप, **एव** = ही है, **एष** = इस (असुर निरसन रूप कर्म के), **निदानेन** = निदान रूप में, **उत्तरतः** = उत्तर की ओर से, **पर्येति** = असुरों को रोकता है। **अध्वर्युः** = अध्वर्यु नामक ऋत्विक्, **एव** = ही, **इत** = इधर से (दक्षिण से), **तान्** = उन असुरों को, **संरुणद्धि** = रोकता है। **एभिः** = इन, **लोकैः** = लोकों से, **संरुध्य** = रोककर, **तान्** = उन्हें, **अभिनिदधाति** = निरुद्धगति (गतिहीन) कर देता है। **यत्** = जो, **उ** = भी, **च** = और, **इमान्** = इन, **लोकान्** = लोकों को, **अति** = लांघकर, **चतुर्थं** = चौथे लोक में जाता है, **ततः** = वहाँ से, **पुनः** = फिर, **न सञ्जिहते** = नहीं उठ पाता है। **तस्मात्** = इसलिए, **एतर्हि** = इस स्तम्बयजुर्हरण क्रिया के बाद से, **अपि** = भी, **असुरा** = असुरगण, **न सञ्जिहते** = नहीं उठ पाते हैं। **हि** = क्योंकि, **येन** = जिस विधि से, **देवा** = देवगण, **एनान्** = इन असुरों को, **अवाबाधन्त** = रोक पाये थे, **तेन** = उस, **एव** = ही (विधि द्वारा), **ब्राह्मणा** = ब्राह्मणलोग, **अपि** = भी, **एनान्** = इन असुरों को, **एतर्हि** = इस स्तम्बयजुर्हरण की क्रिया के आचरण द्वारा, **यज्ञे** = वर्तमानकालिक यज्ञ में, **अवबाधन्ते** = रोकने में समर्थ होते हैं।।13।।

रेणु-व्याख्या—जिस प्रकार देवताओं द्वारा अनुष्ठित यज्ञ में असुरों से यज्ञ की रक्षा के लिए विविध प्रयत्न किए गए, उसी प्रकार मानवों के द्वारा अनुष्ठित यज्ञ में भी प्रयत्न किए जाते हैं। इस तथ्य को उक्त 'रूपक' द्वारा भगवान् याज्ञवल्क्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—"वह जो मानवीय यज्ञ में आग्नीध्र नामक ऋत्विक् है यह उत्तर की ओर स्फ्य धारण कर खड़ा रहता है। इसका उद्देश्य वेदी के उत्तर से आने वाले अथवा उत्तर की ओर भाग कर जाने वाले असुरों को रोकना है।" इस प्रकार यज्ञवेदी के उत्तर की ओर आग्नीध्र अग्निरूप में जाकर स्थित रहता है और इधर से (दक्षिण से) अध्वर्यु रूप अन्य देवता ही उन असुरों को घेरता है।

चूँकि इस संसार में भले एवं बुरे लोगों के बीच परस्पर संग्राम सर्वदा चलता रहता है, ये दोनों ही ईश्वर की सन्तान हैं। वही तथ्य यहाँ देव एवं असुर के रूपक द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है। इस प्रकार सब ओर से असुरों को रोककर उन्हें तीनों लोकों से दूर कर देता है। यदि इन तीनों लोकों से अतिरिक्त चौथे लोक (जो अप्रत्यक्ष है) की ओर वे असुर जाते हैं, तो वहाँ से पुनः वापस (लौटकर) आकर देवताओं के साथ संगत (संग्राम) नहीं कर पाते। इस प्रकार जिस तरह असुर इकट्ठा न हो सकें। इस हेतु जो विधि अपनाकर देवताओं ने असुरों को दबाया था। वही विधि यहाँ मानव प्रयत्न साध्य इष्टि यज्ञ में ब्राह्मणों द्वारा अपनाकर यज्ञ

में असुरों को दबाया (रोका/घेरा) जाता है। इसलिए ऐसा करते हैं, यही इसका समुचित उपाय है।।13।।

[स्तम्बयजुषोऽसुरनिर्हरणेन साकं यजमानस्य शत्रुनिर्हरणप्रयोजनस्योपपादनम्]

1.2.4.14. य उऽ एव यजमानायारातीयति। यश्चैनं द्वेष्टि तमेवैतदेभिश्च लोकैरभिनिदधाति यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थꣳ स वा ऽएभिश्च लोकैरभिनिदधद्यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थमस्या ऽएव सर्व्वꣳ हरत्यस्याꣳ हीमे सर्व्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः किꣳ हि हरेद्यदन्तरिक्षꣳ हरामि दिवꣳ हरामीति हरेत्तस्मादस्या ऽएव सर्व्वꣳ हरति।।14।।

ऋजुपाठः–य उ एव यजमानायारातीयति, यश्चैनं द्वेष्टि; तमेवैतदेभिश्च लोकैरभिनिदधाति–यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थम्। स वा एभिश्च लोकैरभिनिदधद्–यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थम्, अस्या एव सर्वं हरति। अस्यां हीमे सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः। किं हि हरेद्–यदन्तरिक्षं हरामि, दिवं हरामीति हरेत्; तस्मादस्या एव सर्वं हरति।।14।।

सा.भा.–न केवलं स्तम्ब्यजुषोऽसुरनिर्हरणं प्रयोजनम्, शत्रुनिर्हरणमपि तत्प्रयोजनमिति प्रतिपादयति–य उ एवेति। 'अरातीयति' अरातिरिवाचरति। 'उपमानादाचारे' (पा.सू. 3.1.10) इति क्यच्। यश्च 'एनं' यजमानं साक्षादेव 'द्वेष्टि' बाधते। 'तम्' उभयविधं शत्रुम्। अन्यत् पूर्ववत्। पृथिव्या एव सकाशात् स्तम्बयजुर्हरणं कर्त्तव्यम्, नान्तरिक्षादेरित्यभिप्रेत्याह–स वा इति। पृथिव्यादिभिस्त्रिभिर्लोकैस्तदतिरिक्तेन चान्येन चतुर्थेन लोकेनासुरान्निरस्यन् 'असौ' अध्वर्युः 'अस्याः' पृथिव्या एव सकाशात् 'सर्वं' स्तम्बयजुर्हरति, नान्तरिक्षादेः। 'हि' यस्मात् 'अस्याम्' एव भूम्यां 'इमे' अन्तरिक्षादयः सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः तस्मात् स्तम्बयजुर्हरणस्य प्रथमपर्यायवद् द्वितीयादिपर्यायाणामपि पृथिव्या एव सकाशाद्धरणं युक्तमित्यर्थः। एतदेव व्यतिरेकमुखेनोपपादयति–किं हीति। 'यत्' यदि 'अन्तरिक्षं हरामि' 'दिवं हरामि'–इत्येवं स्तम्बयजुर्हरेत्, तदा 'किं' नाम 'हरेत्'? अन्तरिक्षद्युलोकयोर्हर्त्तव्यस्य स्तम्बस्याभावान्न तत्र तद्धरणं सम्भवतीत्यर्थः। तस्मादिति। प्रागुक्तनिगमनं स्तम्बयजुर्हरणार्थम्।।14।।

अन्वयः–यो यजमानाय उ एव अरातीयति, च यः एनं द्वेष्टि, तम् एव एतद् (स्तम्बयजुर्हरणविधिना) एभिः लोकैः च अभिनिदधाति, यत् उ च इमान् लोकान् अति चतुर्थम्। स एभिश्च लोकैः अभिनिदधद् वा यद् उ च इमान् लोकान् अति

चतुर्थम् अस्या एव सर्वं हरति। हि (यतः) अस्याम् इमे सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः। हि यत् अन्तरिक्षं हरामि, दिवं हरामि इति (उच्चारयन्) हरेत् (तर्हि) किं हरेत्? तस्मात् अस्या एव सर्वं हरति॥14॥

पदार्थः–**यः** = जो कोई, **यजमानाय** = यज्ञ के यजमान हेतु, **उ** = निश्चितरूप से, **एव** = ही, **अरातीयति** = शत्रुता करता है, **च** = और, **यः** = जो कोई, **एनं** = इस यजमान से, **द्वेष्टि** = द्वेष करता है, **तम्** = उस (दोनों प्रकार के) शत्रु को, **एव** = ही, **एतत्** = इस (स्तम्बयजुर्हरण) विधि द्वारा, **एभिः** = इन, **लोकैः** = लोकों से, **च** = और, **अभिनिदधाति** = दूर फेंक देता है, **यत्** = जो, **उ** = निश्चित, **च** = और, **इमान्** = इन तीनों, **लोकान्** = लोकों से, **अति** = अतिरिक्त, **चतुर्थम्** = चौथा लोक (अप्रत्यक्ष) है। **स** = वह (अध्वर्यु), **एभिः** = इन, **च** = और, **लोकैः** = लोकों से, **अभिनिदधद्** = दूर फेंकता हुआ, **वा** = निश्चित रूप से, **यत्** = जो, **उ** = निश्चय, **च** = और, **इमान्** = इन, **लोकान्** = लोकों को, **अति** = पारकर, **चतुर्थम्** = चौथा लोक है, **अस्या** = इस पृथिवी लोक से, **एव** = ही, **सर्वं** = सबको, **हरति** = दूर करता है। **हि** = क्योंकि, **अस्याम्** = इस पृथिवी पर, **इमे** = ये, **सर्वे** = समस्त, **लोकाः** = लोक, **प्रतिष्ठिताः** = प्रतिष्ठित हैं। **हि** = क्योंकि, **यत्** = जो, **अन्तरिक्षं** = अन्तरिक्ष से, **हरामि** = दूर करता हूँ, **दिवं** = द्युलोक से, **हरामि** = दूर करता हूँ, **इति** = ऐसा बोलता हुआ अध्वर्यु, **हरेत्** = दूर करे (तो), **किं** = क्या, **हरेत्** = दूर करे? **तस्मात्** = इसलिए, **अस्या** = इस पृथिवी से, **एव** = ही, **सर्वं** = समस्त लोकों के सब प्रकार के, **हरति** = असुरभाव को दूर करता है॥14॥

रेणु-व्याख्या–अब स्तम्बयजुर्हरण से असुरों को दबाने की विधि द्वारा सांसारिक यजमान के शत्रुओं को नष्ट (मारने) के प्रयोजन की सिद्धता का उपपादन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–जो भी कोई व्यक्ति इस इष्टि करनेवाले यजमान से वैर करता है या उससे द्वेष करता है, उसे असुरों की तरह उत्तर से आग्नीध्र एवं इधर से अध्वर्यु आदि ऋत्विक् रोककर (निरुद्धगति कर) जो अप्रत्यक्ष चौथा लोक है उसके द्वारा दबा देते हैं। चूँकि इस पृथिवी लोक पर (वेदि पर) ही समस्त लोकों की स्थिति होती है। इस प्रकार यदि अध्वर्यु यह कहे कि–अन्तरिक्ष से स्तम्बयजु का निर्हरण करता हूँ, या द्युलोक से करता हूँ तो वह क्या निर्हरण करेगा? अत एव पृथिवी से स्तम्बयजुर्हरण द्वारा समस्त लोकों से स्तम्बयजुर्हरण रूप अभीष्ट की सिद्धि चाहते हुए सब प्रकार के असुरभाव को दूर करता है। इसलिए यहीं स्तम्बयजुर्हरण रूप क्रिया का अनुष्ठान करता है॥14॥

[तृणमन्तर्द्धाय प्रहरणविधानकथनम्] (स्तम्बयजुर्हरणविधिः)

1.2.4.15. (त्र्य) अथ तृणमन्तर्द्धाय प्रहरति। नेदनेन व्वज्रेण स थं शितेन पृथिवीथं हिनसानीति तस्मात्तृणमन्तर्द्धाय प्रहरति॥15॥

ऋजुपाठः—अथ तृणमन्तर्द्धाय प्रहरति—नेदनेन वज्रेण संशितेन पृथिवीं हिनसानीति। तस्मात्तृणमन्तर्द्धाय प्रहरति॥15॥

सा.भा.—तृणान्तर्द्धानविशिष्टं स्फ्येन प्रहरणं विधत्ते—अथेति। तृणान्तर्द्धानस्य प्रयोजनमाह—**न हिनसानीति।** तृणानन्तर्द्धाने हि तीक्ष्णेन स्फ्य—रूपापन्नेन वज्रेण पृथिवी हिंसिता स्यात्, तद्धिंसानिवृत्तये प्रहरणसमये तृणमन्तर्द्धाय तस्योपरि प्रहर्त्तव्यमित्यर्थः॥15॥

अन्वयः—अथ तृणमन्तर्द्धाय प्रहरति-अनेन संशितेन वज्रेण इत् पृथिवीं न हिनसानि इति (भावनया)। तस्मात् तृणम् अन्तर्द्धाय प्रहरति॥15॥

पदार्थः—**अथ** = इसके बाद (अध्वर्यु), **तृणम्** = कुशपत्र को, **अन्तर्द्धाय** = पृथिवी एवं वज्र के बीच में रखकर (ढँककर), **प्रहरति** = प्रहार करता है। **अनेन** = इस, **संशितेन** = तीक्ष्ण किये हुए, **वज्रेण** = वज्र से, **इत्** = यहाँ, **पृथिवीं** = पृथिवी को, **न** = नहीं, **हिनसानि** = हिंसित करूँ (कष्ट पहुँचाऊँ), **इति** = इस भाव से। **तस्मात्** = इसलिए, **तृणम्** = तृण को, **अन्तर्द्धाय** = मध्य में रखकर, **प्रहरति** = वज्र से प्रहार करता है॥15॥

रेणु-व्याख्या—अब अध्वर्यु दाहिने हाथ से कुशा लेकर पहले पृथिवी पर रखता है फिर हाथ में वज्र लेकर उससे प्रहार करने को उद्यत होता है। इस प्रकार पृथिवी एवं वज्र के मध्य तृण को रखकर तीक्ष्णीकृत वज्र से प्रहार करता है—यहाँ पृथिवी की हिंसा न हो इस भावना से। इसलिए कि वह शत्रुदमनरूप स्तम्बयजुर्हरण की क्रिया को अनुष्ठित कर रहा है। कहीं इस क्रिया के द्वारा पृथिवी को कष्ट न पहुँचे इस भावना से वह पृथिवी को पहले तृण से आच्छादित करता है फिर वज्र से प्रहार करता है॥5॥

[स्फ्यप्रहरणसमये मन्त्रविधानम्]

1.2.4.16. स प्रहरति। पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं माहिथं सिषमित्युत्तरमूलामिव वाऽएनामेतत्करोत्यादुदानस्तामेतदाहौषधीनां ते मूलानि माहिथं सिषमिति व्व्रजं गच्छ

गोष्ठानमित्यभिनिधास्यन्नेवैतदनपक्रमि कुरुते तद्ध्यनपक्रमि यद्व्रजेऽन्तस्तस्मादाह व्व्रजं गच्छ गोष्ठानमिति व्वर्षतु ते द्यौरिति यत्र वाऽअस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्व्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति तस्मादाह व्वर्षतु ते द्यौरिति बधान देवसवितः परमस्यां पृथिव्यामिति देवमेवैतत्सवितार-माहान्धेतमसि बधानेति यदाह परमस्यां पृथिव्यामिति शतेन पाशैरित्यमुचे तदाह योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च व्वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति यदि नाभिचरेद्यद्युऽअभिचरेदमुमतो मा मौगिति ब्रूयात्॥16॥

ऋजुपाठः—स प्रहरति—"पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हि ꣳ सिषम्"—(1 अ. 25 मं.) इति। उत्तरमूलामिव वा एनामेतत्करोत्याददानः। तामेतदाह—ओषधीनां ते मूलानि मा हिंसिषमिति। "व्रजं गच्छ गोष्ठानम्"—(1 अ. 25 मं.) इति। अभिनिधास्यन्नेवैतदनपक्रमि कुरुते। तद्ध्यनपक्रमि यद् व्रजेऽन्तः। तस्मादाह-व्रजं गच्छ गोष्ठानमिति। "वर्षतु ते द्यौः"—(1 अ. 25 मं.) इति। यत्र वा अस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्ति—अपघ्नन्ति। शान्तिरापः, तदद्भिः शान्त्या शमयति, तदद्भिः सन्दधाति। तस्मादाह—वर्षतु ते द्यौरिति। "बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याम्"—(1 अ. 25 मं.) इति। देवमेवैतत्सवितारमाह। अन्धे तमसि बधानेति-यदाह परमस्यां पृथिव्यामिति। "शतेन पाशैः"—(1 अ. 25 मं.) इति। अमुचे-तदाह—"योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्"—(1 अ. 25 मं.) इति,यदि नाभिचरेद्। यद्यु अभिचरेद् अमुमतो मा मौगिति ब्रूयात्॥16॥

सा.भा.—विहितं प्रहरणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—**स प्रहरतीति**। ओषध्यास्त इति मन्त्रभागं व्याचष्टे—**उत्तरमूलामिति।** स्फ्यमाददानोऽध्वर्युः 'एनां' पृथिवीम् 'उत्तरमूलाम्' उपरिभागावस्थितमूलयुक्तामिव खल्वेतत् करोति। अत उत्तरमूलत्वेन प्रहणात्तद्धिंसाशंकायां तदभावोऽनेन प्रार्थ्यत इत्यर्थः। मन्त्रगतोषधिशब्दस्य जात्यभिप्रायेणैकवचनान्तता (पा.सू. 1।2।58) इत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—**ओषधीनामिति।** प्रहरणनिष्पन्नस्य सतृणस्य पांसोरादानमन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—**व्रजं गच्छेति।** 'अभिनिधास्यन्' अभितो निक्षेप्स्यन् खल्वध्वर्युः 'एतत्' असुरजातम् 'अनपक्रमि' अपक्रमणरहितमितस्ततो गमनरहितं कुरुते। तत् खल्वनपक्रमि यत् 'व्रजे' गोष्ठेऽन्तर्निरुध्यते, अतोऽस्य मन्त्रप्रयोगस्यापक्रमणाभावः प्रयोजनमित्यर्थः।

वेदिप्रेक्षणमन्त्रमनूद्य तात्पर्यमाह–**वर्षत्विति।** 'अस्यै' षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (पा.सू. 2।3।62 वा. 1509)। 'अस्याः' पृथिव्याः सम्बन्धिनि 'यत्र' स्थाने वेद्यर्थं खनन्तः 'क्रूरं' निष्ठुरं कुर्वन्ति; तेन च तां पृथिवीम् 'अपघ्नन्ति' हिंसन्ति; अतः खननजनितां हिंसामनेन मन्त्रप्रयोगेण शान्तिरूपाभिरेवाद्भिः पुनः प्रशमय्य सन्दधातीत्यर्थः व्रजं गच्छेत्यादिमन्त्राणां कात्यायनः स्पष्टं विनियोगमसूत्रयत्–'व्रजं गच्छेति पुरीषमादत्ते' "वर्षतु त इति वेदिं प्रेक्षते" "बधानेत्युत्करोति" (श्रौ.सू. 2. 159-160-161)–इति। उत्करे निधानमन्त्रस्याभिप्रायमाविष्करोति–**देवमेवैतदित्यादिना।** "परमस्यां पृथिव्याम्"–इत्यस्य व्याख्यानम्–**अन्धे तमसीति।** सर्वप्रकाशरहितेऽतिशयिते तमसि, यस्मिन् बद्धो न पुनरावर्तते, तादृशे स्थान इत्यर्थः। **'अमुचे'**–इति, अमोचनायेत्यर्थः। न हि शतसङ्ख्याकैः पाशैर्बद्धः स्वात्मानं मोचयितुमीष्ट इत्यभिप्रायः।।

अभिचरतः प्रयोगे विशेषमाह–**यद्यु** इति। अनभिचरतः प्रयोगे मन्त्रगतस्तमिति यः शब्दः, तस्य स्थाने 'अभिचरतः' यजमानस्य, शत्रुनाम द्वितीयया निर्दिश्य मन्त्रः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः।।16।।

अन्वयः–स (अध्वर्युः) प्रहरति। पृथिवि देवयजनि ते ओषध्याः मूलं मा हिंसिषम् इति (यजु. 1.25) (मन्त्रेण)। (स्फ्यम्) आददानः एनां (पृथिवीं) उत्तरमूलाम् इव वा करोति। ते ओषधीनां मूलानि मा हिंसिषम् इति एतत् ताम् आह। 'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्' (यजु. 1.25) इति (मन्त्रेण) अभिनिधास्यन् एव (अध्वर्युः) एतत् (असुरजातं) अनपक्रमि कुरुते। हि यद् व्रजे अन्तः तत् अनपक्रमि (खलु) तस्मात्–व्रजं गच्छ गोष्ठानम् इति आह। वर्षतु ते द्यौः' (यजु. 1.25) इति (मन्त्रेण) यत्र खनन्तो वा अस्यै क्रूरीकुर्वन्ति अपघ्नन्ति, तत् (स्थानं) अद्भिः शान्त्या शमयति। शान्तिरापः तत् (तस्मात्) अद्भिः सन्दधाति। तस्मात् वर्षतु ते द्यौः इति आह। 'बधान देवसवितः परमस्यां पृथिव्याम्' (यजु. 1.25) इति (यत्पठति), (मन्त्रेण) सवितारं देवम् एव एतत् आह। अन्धे तमसि बधान इति परमस्यां पृथिव्याम् इति यत् आह। (कैर्बधान?) शतेन पाशैः इति। यो अस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः तम् अतो मा मौक् (यजु. 1.25) इति यदि नाभिचरेत् तदा अमुचे आह। 'अमुम् अतो मा मौक् इति यदि उ अभिचरेत्' (तदा) ब्रूयात्।।16।।

पदार्थः–सः = वह (अध्वर्यु), **प्रहरति** = (वज्र से) प्रहार करता है। **पृथिवि** = हे पृथिवी! **देवयजनि** = देवताओं के यज्ञ करने के स्थान, **ते** = तुम्हारी, **ओषध्याः** = औषधियों के, **मूलम्** = मूल को, **मा** = नहीं, **हिंसिषम्** = हिंसित करूँ, **इति** = इस मन्त्र से, **आददानः** = रफ्य को लेता हुआ, **एनां** = इस पृथ्वी को, **उत्तरमूलाम्** = जड़ उखाड़कर ऊपर की ओर आई हुई, **इव** = के जैसा,

वा = निश्चयरूप से, **करोति** = करता है। **ते** = तुम्हारे, **ओषधीनां** = औषधियों के, **मूलानि** = मूलभागों (जड़ों) को, **मा** = नहीं, **हिंसिषम्** = हिंसित करूँ, **इति** = ऐसा, **एतत्** = इस मन्त्र द्वारा, **ताम्** = उस पृथिवी को, **आह** = कहता है। **व्रजं** = व्रज (घिरा हुआ स्थान बाड़ा), **गच्छ** = जाओ, **गोष्ठानं** = गायों के रहने की जगह (गौशाला) पर, **इति** = इस मन्त्र से, **अभिनिधास्यन्** = रखने की इच्छा करता हुआ, **एव** = ही (अध्वर्यु), **एतत्** = इन (असुर समूहों) को, **अनपक्रमि** = वापस नहीं आने वाला (स्थिर), **कुरुते** = करता है। **हि** = क्योंकि, **यद्** = जो, **व्रजे** = घेरे में, **अन्तः** = अन्दर है, **तत्** = वह, **अनपक्रमि** = वापिस नहीं लौटता, **तस्मात्** = इसलिए, **व्रजं** = घेरे में, **गच्छ** = जाओ, **गोष्ठानं** = गोशाला में, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है। **वर्षतु** = बरसे, **ते** = तुम्हारे लिए, **द्यौः** = द्युलोक (आकाश), **इति** = इस मन्त्र से, **यत्र** = जहाँ, **खनन्तो** = मिट्टी को खोदता हुआ, **वा** = निश्चय, **अस्यै** = इस पृथिवी के लिए, **क्रूरीकुर्वन्ति** = क्रूर कर्म करता है, **अपघ्नन्ति** = हिंसा करता है (क्षति पहुँचाता है) **तत्** = उस (स्थान को), **अद्भिः** = जलों से, **शान्त्या** = शान्ति के द्वारा, **शमयति** = दुःखों का शमन करता है, **शान्तिरापः** =जल शान्ति का प्रतीक है, **तत्** = इसलिए, **अद्भिः** = जलों से, **सन्दधाति** = संयुक्त करता है, **तस्मात्** = इसलिए, **वर्षतु** = बरसे, **ते** = तुम्हारे लिए, **द्यौः** = आकाश, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है। **बधान** = बाँधे, **देव** = देवता, **सवितः** = सविता, **परमस्यां** = इसके ऊपर दूर अन्धकार में, **पृथिव्यां** = पृथिवी पर, **इति** = इस मन्त्र से, **सवितारं** = सविता, **देवम्** = देवता को, **एव** = ही, **एतत्** = यह, **आह** = कहता है। **अन्धे** = अन्धकार, **तमसि** = महान् अन्धकार में, **बधान** = बाँधे, **इति** = ऐसा, **परमस्यां पृथिव्याम्** = इस पृथिवी पर दूर देश में, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है। **शतेन** = सैकड़ों, **पाशैः** = बन्धनों से बाँधे, **इति** = ऐसा कहता है। **यो** = जो, **अस्मान्** = हमसे, **द्वेष्टि** = द्वेष करता है, **यञ्च** = और जिससे, **वयं** = हम, **द्विष्मः** = द्वेष करते हैं, **तम्** = उसे, **अतो** = यहाँ से, **मा** = नहीं, **मौक्** = मुक्त करो, **इति** = ऐसा, **यदि** = अगर, **न** = नहीं, **अभिचरेत्** = अभिचार करना चाहे, **तदा** = तब, **अमुचे** = शत्रु को नहीं छोड़े ऐसा, **आह** = कहता है। **यदि** = किन्तु अगर, **उ** = निश्चित रूप से, **अभिचरेत्** = अभिचार करे, शत्रु विशेष को नष्ट करने की इच्छा करे तो, **अमुम्** = (शत्रु का नाम लेकर) इसको, **अतो** = यहाँ से, **मा** = नहीं, **मौक्** = मुक्त करे, **इति** = ऐसा, **ब्रूयात्** = बोले।।16।।

रेणु-व्याख्या–अब स्फ्य से पृथिवी पर रखे हुए तृण के ऊपर अध्वर्यु प्रहार करता हुआ **पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं माहिꣳसिषम्** (यजु. 1.25) यह मन्त्र बोलता है। मन्त्र द्वारा कहता है कि हे पृथिवि! तुम देवयजनी हो। **देवा इज्यन्ते अस्मिन् इति देवयजनं तादृशी त्वं देवयजनीति।** अर्थात् जिस स्थान पर देवताओं का यजन होता है, वह देवयजन कहलाता है ऐसी हे पृथिवि! देवयजनी तुम हो। मैं तुम्हारी औषधियों के मूल को हानि न पहुँचाऊँ इस प्रकार वह पृथिवी को उत्तरमूला (अर्थात् उर्वराशक्ति को ऊपर की ओर ले आता है) कर देता है। चूँकि उर्वरा शक्ति के ऊपर आने से बीज वपन करने पर शीघ्र अंकुरोत्पत्ति होती है। इसलिए हल जोतकर बीज बोया जाता है। एवमेव पृथिवी को उत्तरमूला की तरह बनाकर उसे सस्य श्यामला कर देता है।

स्फ्य के प्रहार से पृथिवी की मिट्टी खुद जाती है। उस खुदी हुई मिट्टी को तृणसहित उठाते हुए अध्वर्यु कहता है "व्रजं गच्छ गोष्ठानम् (यजु. 1.25) अर्थात् हे पृथिवि! मैं तेरी औषधियों के मूल को हानि न पहुँचाऊँ तुम व्रज को जाओ अर्थात् घिरे हुए सुरक्षित स्थान में जो गोशाला रूप है, वहाँ जाओ। यह कहकर फेंकता है। उस घिरे हुए स्थान में फेंकने का तात्पर्य है कि इस विधि के द्वारा अध्वर्यु असुरों को घेरे में डाल देता है जहाँ से उनका निकलना कठिन हो। इस प्रकार असुर अनक्रमित हो जाते हैं।

उसके बाद अध्वर्यु 'वर्षतु ते द्यौः' (यजु. 1.25) मन्त्र पढ़ता हुआ कहता है कि हे पृथिवि! तुम्हारी क्षति को पूर्ण करने के लिए द्युलोक वृष्टि कर तुम्हारे घावों को भरे। इसका तात्पर्य यह है कि जब पृथ्वी खोदी गई तो उस समय उसे हानि पहुँची थी इसका शमन जल से सम्भव है। क्योंकि जल शान्त है, उस शान्तिरूप जल से उसके दुःख का शमन करने की भावना से अध्वर्यु वेदी की ओर देखता हुआ इस मन्त्र का पाठ करता हुआ खुदी हुई भूमि पर जल का प्रक्षेप करता है। तत्पश्चात् खुदी हुई भूमि मिट्टी को फेंकता हुआ कहता है–**बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्** (यजु. 1. 25) हे देव सविता! आप इसको पृथिवी के दूसरे शिरे से बाँध दें जहाँ गहन अन्धकार है। उस अन्धकारावृत स्थान में इसे सैकड़ों फन्दों वाले पाश (जल) से जकड़ दें ताकि यह वहाँ से छूटने न पाए। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि किसे बाँधे तो उत्तर देते हैं–जो हमसे द्वेष करता है तथा जिससे हम द्वेष करते हैं उस यज्ञविघातक असुरादि शत्रुओं को बाँध दें। ऐसा तब कहता है जबकि यजमान को कोई अभिचार अभीष्ट न हो। यदि कोई प्रत्यक्ष शत्रु यजमान को कष्ट दे रहा हो,

और उस शत्रु को यजमान नष्ट करना चाहे तो उसके प्रति अभिचार करता हुआ 'अमुमतो मा मौक्' फलाने शत्रु (यहाँ शत्रु का नाम गोत्रादि का द्वितीयान्त उच्चारण करे) को उस बन्धन में बाँध दो और ऐसा बाँधों कि वह पुनः वहाँ से मुक्त न हो पावे। ऐसा कहे।। यहाँ कात्यायन सूत्र निर्देश करते हैं–**व्रजं गच्छ गोष्ठनमिति पुरीषमादत्ते, वर्षतु ते इति वेदिं प्रेक्षते, बधानेत्युत्किरति**।।16।।

[स्तम्बयजुर्हरणस्य द्वितीयपर्यायार्थं प्रहरणादिकम्]

1.2.4.17. (द्र) अथ द्वितीयं प्रहरति। (त्य) अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासमित्यररुर्ह वै नामासुररक्षसमास तं देवा ऽअस्या ऽअपाघ्नत तथोऽएवैनमेतद्देषोऽस्याऽअपहते व्व्रजं गच्छ गोष्ठानं व्वर्षतु ते द्यौर्बधान देवसवितः परमस्यां पृथिव्याᳩशतेन पाशैर्य्योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च व्वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति।।17।।

ऋजुपाठः–अथ द्वितीयं प्रहरति–"अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद् वध्यासम्" (1 अ. 26 मं) इति। अररुर्ह वै नामासुररक्षसमास। तं देवा अस्या अपाघ्नत। तथो एवैनमेतदेषोऽस्या अपहते। "व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्योऽस्मान् दृष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतोमामौक्" (अ. 1 मं. 27) इति।।7।।

सा.भा.–एवं स्तम्बयजुर्हरणस्य प्रथमपर्यायमभिधाय द्वितीयपर्यायार्थं प्रहरणादिकं समन्त्रकं विधत्ते–**अथेति**। मन्त्रप्रतिपादितमररुवधप्रार्थनमुपपादयति–**अररुर्हेति**। 'अररुः' नामासुररक्षसम्, सुराणां विरोधि रक्षो बभूव। 'रक्षः'–शब्दात् "अनसन्तात्"–(पा.सू. 5.4.103.)–इत्यकारः समासान्तः। देववदेवेदानीन्तनोऽध्वर्युरप्यपाररुमित्यनेन मन्त्रेण पृथिव्याः सकाशादपहन्ति। व्रजं गच्छेत्यादिकस्य सर्वस्य द्वितीयपर्याये प्रयोज्यस्यापि प्रागुक्त एवार्थः इत्यभिप्रेत्यानुवदति–**व्रजं गच्छेति**।।17।।

अन्वयः–अथ अररुं पृथिव्यै देवयजनाद् अपवध्यासम् इति द्वितीयं प्रहरति। अररुर्नाम ह वै असुररक्षसम् आस, तं देवा अस्या अपाघ्नत। तथा उ एव एनम् एतत् व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देवसवितः परमस्यां पृथिव्याᳩशतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् इति (मन्त्रेण) एषः अस्या अपहते।।17।।

पदार्थः–**अथ** = उसके बाद, **अररुं** = अररु नामक असुर को, **पृथिव्यै** = पृथिवी के, **देवयजनात्** = देवयजन स्थान से, **अपवध्यासम्** = मारकर दूर भगाऊँ, **इति** = यह मन्त्र बोलकर, **द्वितीयं** = दूसरी बार, **प्रहरति** = (वज्र से

तृण पर) प्रहार करता है। **अररुर्नाम** = अररु नाम का, **ह** = प्रसिद्ध, **वै** = निश्चितरूपेण, **असुररक्षसम्** = यज्ञ का अवरोधक असुर, **आस** = था, **तं** = उसे, **देवा** = देवों ने, **अस्या** = इस पृथिवी से, **अपाघ्नत** = मारकर भगाया। **तथा** = इस प्रकार, **उ** = निश्चय, **एव** = ही, **एनम्** = इन असुर राक्षसों को, **एतत्** = इस मन्त्र प्रयोग द्वारा, **व्रजं** = व्रज को **गच्छ** = जाओ, **गोष्ठानं** = गोशाला में, **वर्षतु** = वृष्टि करें, **ते** = तुम पर, **द्यौः** = द्युलोक, **बधान** = निबद्ध करें (बाँधें), **देवसवितः** = सविता देवता, **परम्** = महान् (घोर)अन्धकारावृत, **अस्यां** = इस, **पृथिव्याम्** = पृथिवी के एक छोर पर, **शतेन** = सैकड़ों, **पाशैः** = ग्रन्थियों (बन्धनों) वाले जाल से, **यः** = जो, **अस्मान्**= हमें (हमसे), **द्वेष्टि** = द्वेष करते हैं, **यम्** = जिसको (जिससे), **च** = और, **वयम्** = हम, **द्विष्मः** = द्वेष करते हैं, **तम्** = उस द्वेषी शत्रु को, **अतो** = इस बन्धन के स्थान से, **मा** = कभी भी नहीं, **मौक्** = मुक्त करें, **इति** = इस (मन्त्रेण = मन्त्र वाक्य द्वारा) से, **एषः** = अध्वर्यु, **अस्या** = इस पृथ्वी पर से, **अपहते** = असुरों को मार भगाता है।।17।।

रेणु-व्याख्या–यह प्रहरण तीन बार (तीन पर्याय) होता है। प्रथम पर्याय प्रहरण के विषय में पहले कहा गया, अब द्वितीय पर्याय के सम्बन्ध में भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–यह पृथिवी यज्ञात्मिका है यहाँ देवताओं के याग सम्पादित होते हैं, इसलिए इसे देवयजनी कहकर सम्बोधित किया गया है। अध्वर्यु द्वितीय बार प्रहरण करता हुआ **'अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देवसवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्** (यजु. 1.26) इस मन्त्र का पाठ करता है। इस मन्त्र द्वारा यह कहता है कि–मैं अररु नामक असुर राक्षस को इस देवयजनी पृथिवी से दूर करता हूँ। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अररु एक राक्षस था उसे देवताओं ने वज्र प्रहार करके भगाया था। इसी प्रकार यहाँ अध्वर्यु स्फ्य प्रहरण द्वारा पृथिवी पर से अररु को भगाने की चेष्टा करता है। कहता है कि तुम गायों के निवास स्थान व्रज को जाओ। पृथिवी की शान्ति के लिए द्युलोक वर्षा करे ऐसा कहता है। असुर के लिए सवितादेवता तुम्हें सैकड़ों ग्रन्थियों वाले जाल में जकड़ कर पृथिवी के उस शिरे से बाँध दें जहाँ से तुम्हारी मुक्ति न हो। इस प्रकार जो हमसे द्वेष करता है तथा जिनसे हम द्वेष करते हैं, उन्हें इस बन्धन से मुक्त न करें, यह भाव है।।17।।

[स्तम्बयजुषो निधानमुत्करे तद्विधानम्]

1.2.4.18. तमग्नीदभिनिदधाति। (त्य) अररो दिवं मा पप्त इति यत्र वै देवाऽअररुमसुररक्षसमपाघ्नत स दिवमपिपतिषत्त-मग्निरभिन्यदधादररो दिवं मा पप्त इति स न दिवमपतत्तथोऽ एवैनमेत- दध्वर्युरेवास्माल्लोकादन्तरेति दिवोऽध्यग्नीत्तस्मादेवं करोति।।18।।

ऋजुपाठः–तमग्नीदभिनिदधाति–अररो! दिवं मा पप्त इति। यत्र वै देवा अररुमसुररक्षसमपाघ्नत, स दिवमपिपतिषत्। तमग्निरभिन्यदधात्–अररो! दिवं मा पप्त इति। स न दिवमपतत्। तथो एवैनमेतदध्वर्युरेवास्माल्लोकादन्तरेति। दिवोध्यग्नीत्–तस्मादेवं करोति।।18।।

सा.भा.–उत्करे न्युप्तस्य स्तम्बयजुषोऽभिधानं समन्त्रकं विधत्ते–**तमिति।** 'अभिनिदधामि' उपरि हस्तनिधानेनाधस्तात् क्षिपतीत्यर्थः। 'मा पप्तः' (पा.सू. 1 वा. प. 845) इति पतनाभावप्रार्थनं समर्थयितुं पुरावृत्तमुदाहरति–**यत्र वा** इति। **स दिवमिति। 'सः'** देवैरपहतोऽररुः 'अपिपतिषत्' दिवं पतितुं गन्तुमैच्छत्। 'तं' तथाविधं पिपतिषुमररुम्, उत्तरतः परिगतः 'अग्निः' अभिन्यदधात् उपरि हस्तनिधानेनाधस्तात् प्रेरितवान्। किं ब्रुवन्? हे अररो! 'दिवं' द्युलोकं 'मा पप्तः' मा प्राप्नुहीति। "पत्लृगतौ"–(भ्वा.व. 870) इत्यस्माल्लुङि ऌदित्वादङ्, (पा.सू. 3।1।55) "पतः पुम्" (पा.सू. 7.4.19) इति पुमागमः। एवमग्निनाभिनिधाने कृते सति, सोऽररुर्दिवं न प्राप्नोत्। तद्वदेवेदानीमप्यध्वर्युः स्तम्बयजुर्हरन् 'अस्माद्' भूलोकात् 'एनम्' अररुम् 'अन्तरेति' अन्तरितं व्यवहितं करोति। आग्नीध्रश्चैतन्मन्त्रकरणकेनोत्कराभिनिधानेन 'दिवः' अन्तरिक्षात्तमसुरमन्तरितं करोतीत्यर्थः।।18।।

अन्वयः–तम् (अररुं) अररो दिवं मा पप्त इति (मन्त्रेण) अग्नीत् अभिनिदधामि। यत्र अररुम् असुरराक्षसं देवा वै अपाघ्नत, स दिवम् अपिपतिषत्। तम् अग्निः अररो दिवं मा पप्त इति (उक्त्वा) अभिन्यदधात्। स दिवं न अपतत्। तथा उ एव एनम् एतत् अस्मात् लोकात् अध्वर्युः एव अन्तरेति दिवोऽधि अग्नीत्। तस्मात् एवं करोति।।18।।

पदार्थः–तम् = उस (अररु राक्षस) को, **अररो** = हे अररु! **दिवं** = द्युलोक में, **मा** = मत, **पप्त** = जाओ, **इति** = ऐसा कहकर, **अग्नीत्** = आग्नीध्र, **अभिनिदधाति** = स्तम्बयजु को उत्कर में डालता है। **यत्र** = जहाँ, **अररुं** = अररु को, **असुरराक्षसं** = यज्ञावरोधक असुर को, **देवा** = देवताओं ने, **वै** = निश्चितरूप से, **अपाघ्नत** = मारकर भगाया, **स** = वह, **दिवम्** = द्युलोक (स्वर्ग) में, **मा** = मत, **पप्त** = जा गिरे, **इति** =

ऐसा कहकर, **अभिन्यदधात्** = वहाँ से फेंक दिया। **स** = वह, **दिवं** = द्युलोक में, **न** = नहीं, **अपतत्** = गिरा, **तथा** = उसी प्रकार, **उ** = निश्चित, **एव** = ही, **एनम्** = इसे, **एतत्** = इस मन्त्र प्रयोग द्वारा, **अस्मात्** = इस, **लोकात्** = लोक से, **अध्वर्युः** = अध्वर्यु, **एव** = ही, **अन्तरेति** = दूर करता है। **दिवोऽधि** = और द्युलोक (स्वर्ग) से, **अग्नीत्** = आग्नीध्र, **तस्मात्** = इसलिए, **एवं** = ऐसा, **करोति** = इस यज्ञ में भी अध्वर्यु करता है॥18॥

रेणु-व्याख्या–स्तम्बयजु को उत्कर में रखने का विधान बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि स्फ्य के प्रहार से जो मिट्टी उखड़कर ऊपर आई है, उस मिट्टी को स्तम्बयजु कहा जाता है। इस स्तम्बयजु को आग्नीध्र 'अररो दिवं मा पप्त' (यजु. 1.26) हे अररु! तुम स्वर्ग की ओर मत जाओ ऐसा मन्त्रोच्चारण कर उत्कर में फेंकता है। फेंकते समय हाथ न्युब्ज की स्थिति में रहे। जिस प्रकार किसी वस्तु को दबाने के लिए हाथ को न्युब्जाकृति औंधा मुँह रखते हैं, वही स्थिति यहाँ भी होगी। क्योंकि जब देवताओं ने अररु को निकाला था, तो वह स्वर्ग की ओर जाने लगा था, तब अग्नि ने उसे दबाते हुए कहा कि 'तुम स्वर्ग मत जाओ, तुम वहाँ नहीं जा सकते।' अररु स्वर्ग नहीं जा सका। इसी प्रकार इष्टियाग में अध्वर्यु उस अररु नामक असुर को पृथिवी से उखाड़कर निकालता है और आग्नीध्र उसे स्वर्ग में जाने से रोक देता है। इसीलिए यह स्तम्बयजु कर्म यागानुष्ठान में किया जाता है॥18॥

[तृतीयपर्यायं स्फ्यप्रहरणं विधीयते]

1.2.4.19. (त्यु) अथ तृतीयं प्रहरति। द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्नित्ययं वाऽअस्यै द्रप्सो यमस्या इमꣳ रसं प्रजा उपजीवन्त्येष ते दिवं मा पप्तदित्येवैतदाह व्रजं गच्छ गोष्ठानं व्वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्या ꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च व्वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति॥19॥

ऋजुपाठः–अथ तृतीयं प्रहरति–द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्निति। अयं वा अस्यै द्रप्सः–यमस्या इमं रसं प्रजा उपजीवन्ति। एष ते दिवं मा पप्तदित्येवैतदाह–"व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्या ꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्"–(1 अ. 26 मं.) इति॥19॥

सा.भा.–अथ तृतीयपर्यायं विधत्ते–**अथेति।** मन्त्रं व्याचष्टे–**अयं वा** इति। 'अस्याः' पृथिव्याः सम्बन्धिनं 'यमिमं' मधुरादिरसं सर्वाः प्रजा उपजीवन्ति, अयं खल्वस्याः

पृथिव्याः 'द्रप्सः'। यथा च हे पृथिवि! 'ते' त्वदीयः 'एषः' रसः 'दिवं' द्युलोकं 'मा पप्तत्' मा पतत्विति 'इमम्' अर्थम् 'एषः' मन्त्रो ब्रूत इत्यर्थः। अस्मिन् तृतीयेऽपि पर्याये व्रजं गच्छेत्यादिकं सर्वं पूर्ववत् प्रयोक्तव्यमित्यभिप्रेत्य तत्पठति–**व्रजमिति**।।19।।

अन्वयः–अथ 'द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्' इति (मन्त्रेण) तृतीयं प्रहरति। अस्या यम् इमं रसं (पीत्वा) प्रजाः उपजीवन्ति अयं वा अस्यै द्रप्सः। एष (रसः) ते दिवं मा पप्तत् इति एवं एतत् आह। व्रजं गोष्ठानं गच्छ, द्यौः ते वर्षतु, देवसवितः अस्यां पृथिव्यां परं शतेन पाशैर्बधान, यो अस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः तम् अतो मा मौक् इति।।19।।

पदार्थः–**अथ** = इसके बाद, **द्रप्सस्ते** = तुम्हारा हर्षकारी रस, **द्यां** = द्युलोक में, **मा** = नहीं, **स्कन्** = गिरे (बिखरे/जाए)। **इति** = इस मन्त्र से, **तृतीयं** = तीसरी बार, **प्रहरति** = प्रहार करता है। **अस्या** = इस पृथिवी के, **यं** = जिस, **इमं** = इन, **रसं** = रसों का उपयोग कर, **प्रजाः** = प्रार्थिव प्रजाएँ, **उपजीवन्ति** = जीवन प्राप्त करती हैं, **अयं** = यह, **वा** = निश्चितरूप से, **अस्यै** = पृथिवी का, **द्रप्सः** = हर्षकारी मोदप्रदातृ रस है। **एष** = यह दिव्य रस, **ते** = तुम्हारा, **दिवं** = द्युलोक में, **मा** = नहीं, **पप्तत्** = गिरे (जाये), **इति** = ऐसा, **एव** = ही, **एतत्** = इस मन्त्र वाक्य द्वारा, **आह** = कहता है। **व्रजं** = वज्र को, **गोष्ठानं** = गोशाला में, **गच्छ** = जाओ, **द्यौः** = द्युलोक, **ते** = तुम्हारे लिए, **वर्षतु** = वृष्टि करें, **देवसविता** = सविता देवता, **अस्यां** = इस, **पृथिव्यां** = पृथिवी पर, **परं** = दूर अन्धेरे में, **शतेन** = सैकड़ों, **पाशैः** = ग्रन्थियों से युक्त जालों से, **बधान** = बाँध दें, **यो** = जो, **अस्मान्** = हमें, **द्वेष्टि** = द्वेष करता है, **यं** = जिससे, **च** = और, **वयं** = हम, **द्विष्मः** = द्वेष करते हैं, **तम्** = उसे, **अतो** = इस सुगुप्त स्थान से, **मा** = नहीं, **मौक्** = मुक्त करें, **इति** = ऐसा कहता है।।19।।

रेणु-व्याख्या–अब इसके बाद अध्वर्यु स्फ्य (वज्र) से द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन् (यजु. 1.26) इस मन्त्रांश को पढ़कर तीसरी बार प्रहरण करता है। इस मन्त्र में कहा गया है कि–हे पृथ्वी तुम्हारा मधुर हर्षकारी रस द्युलोक में न गिरे (बिखरे)। यहाँ 'द्रप्स' शब्द को 'दृप हर्षमोहनयोः' (पा.धा. 1196) धातु से निष्पन्न मानकर, हर्ष, गर्व, मधुर इत्यादि अर्थ ग्रहण करते हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह जो पृथ्वी का दिव्य हर्षकारी रस है इसी रस के उपभोग द्वारा पृथिवी पर प्रजाएँ जीती हैं। यह पार्थिव प्रजाओं की जीवनसंजीवनी है, यह इस द्युलोक में न जाये, इसलिए अध्वर्यु ऐसा कहता है कि तुम्हारी इस मधुर रस की बूँदे द्युलोक में न जाएँ। अब कहता है कि तुम व्रज (घिरे हुए) गोशाला में जाओ, द्युलोक

तुम्हारे लिए वर्षा करें, सविता देवता से कहता है कि—हे सविता देव! आप इस (असुर) को पृथिवी के दूसरी छोर जहाँ घोर अन्धकार है, वहाँ ले जाकर सैकड़ों फन्दों वाले जाल से बाँध दें जो हमसे द्वेष करता है तथा जिससे हम द्वेष करते हैं उसे ताकि वह वहाँ से मुक्त न हो सके। अर्थात् उस बन्धन से आप उसे मत छोड़ना, यह पूर्वमन्त्रों की भाँति यहाँ भी कहता है।।19।।

[समन्त्रकस्तम्बयजुर्हरणस्य प्रशंसनम्]

1.2.4.20. स वै त्रिर्यजुषा हरति। त्रयो वा इमे लोकाः। एभिरेवैनमेतल्लोकैरभिनिदधात्यद्धा वै तद्यदिमे लोकाऽअद्धो तद्यद्यजुस्तस्मात् त्रिर्यजुषा हरति।।20।।

ऋजुपाठः—स वै त्रिर्यजुषा हरति। त्रयो वा इमे लोकाः। एभिरेवैनमेतल्लोकैरभिनिदधाति। अद्धा वै तद्यदिमे लोकाः, अद्धो तद्—यद्यजुः; तस्मात् त्रिर्यजुषा हरति।।20।।

सा.भा.—उक्तं समन्त्रकं त्रिर्हरणमनूद्य प्रशंसति—**स वा** इति। 'इमे' पृथिव्यादयः प्रसिद्धास्त्रयो लोकाः। तथा च त्रिष्कत्वो हरणेन 'एभिः' त्रिभिरेव लोकैः 'एनम्' अररुम् 'अभिनिदधाति' अभितो निक्षिपति, बाधत इति यावत्। यजुर्मन्त्रेण हरणस्य लोकत्रयस्य च साम्यमाह—**अद्धा वा** इति। 'इमे' पृथिव्यादयः "लोकाः" इति यत्, तत् 'अद्धा वै' प्रत्यक्षमेव खलु यदेतद्धरणसाधनं यजुः, तदपि 'अद्धो' अद्धैव प्रत्यक्षमेव; अनुष्ठेयार्थस्य साक्षात् प्रतिपादकत्वात्। अतो यजुषो लोकानां च प्रत्यक्षत्वसाम्यात्, त्रिवारं यजुषा हरणेन लोकत्रयादेवास्याररोर्बाधो युक्त इति निगमयति—**तस्मादिति**।।20।।

अन्वयः—स त्रिः वै यजुषा हरति। इमे वै त्रयो लोकाः एतत् एव एभिः लोकैः एनम् अभिनिदधाति। यत् इमे लोकाः तत् वै अद्धा, अद्धा उ तत् यजुः। तस्मात् त्रिः यजुषा हरति।।20।।

पदार्थः—**स** = वह (अध्वर्यु), **त्रिः** = तीन बार, **यजुषा** = यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा, **हरति** = (अररु को) हटाता है। **इमे** = ये, **वै** = निश्चितरूप से, **त्रयो** = तीन, **लोकाः** = लोक हैं, **एतत्** = इस प्रकार की विधि से, **एव** = ही, **एभिः** = इन तीनों, **लोकैः** = लोकों से, **एनम्** = इस अररु नामक असुर को, **अभिनिदधाति** = सब तरफ से दूर करता है। **यत्** = जो, **इमे** = ये, **लोकाः** = लोक हैं, **तत्** = वे, **वै** = निश्चितरूप से, **अद्धा** = प्रत्यक्ष ही हैं। **अद्धो** = प्रत्यक्ष, **उ** = ही, **तत्** = वह, **यजुः** = यजुर्वेदीय मन्त्र हैं। **तस्मात्** = इसलिए,

त्रिः = तीन बार, **यजुषा** = यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा, **हरति** = दूर करता है (निर्हरण करता है)।।20।।

रेणु-व्याख्या–अध्वर्यु द्वारा तीन बार तीन यजुष मन्त्रों के पाठ द्वारा स्फ्य से तृणान्तर्हित पृथिवी पर प्रहार किया जाता है। वह जो तीन बार प्रहरण करता है, इसके विषय में हेतु स्पष्ट करते हुए तथा स्तम्बयणुर्हरण की प्रशंसा करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–ये भूर्भुवः स्वः तीन लोक हैं। पृथ्वी अन्तरिक्ष एवं द्युलोक ये तीनों लोक उस असुर से रहित हो जाएँ इस भाव से एक-एक लोक के निमित्त तीन बार प्रहरण करता है। चूँकि ये तीनों लोक प्रत्यक्ष हैं तथा यजुष के मन्त्र भी प्रत्यक्ष हैं, इसलिए तीन यजुर्मन्त्रों द्वारा तीन बार प्रहरण कर तीनों लोकों से अररु नामक असुर राक्षस (यज्ञविघातक) को दूर करता है।

अत एव तीन बार स्तम्बयजुर्हरण की प्रक्रिया की विधि को अनुष्ठित करता है। चूँकि ये तीनों याजुष मन्त्र वस्तुतः उन्हीं के प्रतिपादक हैं। इसीलिए तीन बार समन्त्रक प्रक्षेप (निर्हरण) करता है।।20।।

[अमन्त्रकं चतुर्थं प्रहरणं विधत्ते]

1.2.4.21. तूष्णीं॒ चतुर्थम्। स य॒दिमाँ॒ल्लोकान॒ति चतु॒र्थम॒स्ति वा न॒ वा ते॒नै॒वैत॒द् द्विष॒न्तं भ्रा॒तृव्यम॒वबाधते॒ऽनद्धा वै तद्य॒दिमाँ॒ल्लोकान॒ति चतुर्थम॒स्ति वा न वा॒नद्धो तद्य॒त्तूष्णीं त॒स्मात्तूष्णीं॒ चतुर्थ॒म्।।21।।2।।

इति द्वितीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम्। द्वितीयाध्याये चतुर्थञ्च ब्राह्मणम्। (2.4.)

ऋजुपाठः–तूष्णीं चतुर्थम्। स यदिमाँल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा, तेनैवैतद् द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते। अनद्धा वै तद्–यदिमाँल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा, अनद्धो तद्–यत् तूष्णीम्, तस्मात्तूष्णीं चतुर्थम्।।21।।

सा.भा.–अमन्त्रकं चतुर्थं पर्यायं विधत्ते–**तूष्णीमिति**। तस्य प्रयोजनमाह **स यदिति**। 'इमान्' प्रागुक्तान् त्रीन्–लोकानतिक्रम्य, यत् 'चतुर्थं' लोकजातम्, तत् 'अस्ति वा न वा' इति सन्दिग्धम्; अत्यन्तविप्रकृष्टत्वेनानुभवपथानवतारात्। एतच्चतुर्थहरणात्तेनैव सन्दिह्यमानेन लोकजातेन विद्वेषणं कुर्वन्तं शत्रुमवबाधते। एतदुपपादयितुं तूष्णीं–हरणस्य लोकत्रयव्यतिरिक्तस्य चतुर्थस्थानस्य च साम्यमाह–**अनद्धा वा इति**। 'अनद्धा' असत्पक्षमित्यर्थः। तूष्णीं

हरणमप्यनुष्ठेयार्थप्रतिपादकमन्त्रप्रयोगाभावादस्पष्टत्वेन 'अनद्धा' अप्रत्यक्षमेवेति।।21।।4।।

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे माध्यन्दिनशतपथभाष्ये प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्।।2।।4।।

अन्वयः–चतुर्थं (प्रहारं) तूष्णीं (करोति)। इमान् लोकान् अति (क्रम्य) यत् चतुर्थम् सः (लोकः) अस्ति वा न वा, तेन (चतुर्थप्रहारेण) एव एतत् द्विषन्तं भ्रातृव्यम् अवबाधते। इमान् लोकान् अति (क्रम्य) चतुर्थम् अस्ति वा न वा तद् वै अनद्धा, यत् तूष्णीं तत् उ अनद्धा, तस्मात् तूष्णीं चतुर्थं (प्रहरति)।।21।।

पदार्थः–**चतुर्थम्** = चौथी बार, **तूष्णीं** = चुपचाप (बिना कोई मन्त्र बोले ही प्रहार करता है), **इमान्** = इन, **लोकान्** = लोकों को, **अति** = पार कर (इससे अतिरिक्त), **यत्** = जो, **चतुर्थम्** = चौथा लोक है, **सः** = वह, **अस्ति** = है, **वा न वा** = या नहीं भी है, **तेन** = उससे (चतुर्थ प्रहार से), **एव** = ही, **एतत्** = इस (कर्म द्वारा), **द्विषन्तं** = द्वेष करने वाले को, **भ्रातृव्यम्** = शत्रु को, **अवबाधते** = रोकता है (दबाता है)। **इमान्** = इन, **लोकान्** = लोकों को, **अति** = पारकर (अतिरिक्त), **चतुर्थम्** = चौथा (लोक), **अस्ति** = है, **वा न वा** = या नहीं भी है, **तद्** = यह विषय, **अनद्धा** = अस्पष्ट है। **यत्** = जो, **तूष्णीं** = चुपचाप (मौनभाव से) प्रहार (किया जा रहा है), **तत्** = वह, **उ** = भी (निश्चित रूप से), **अनद्धा** = अस्पष्ट ही है। **तस्मात्** = इसलिए, **तूष्णीं** = मौनभाव से (चुपचाप), **चतुर्थं** = चौथा प्रहार करता है।।21।।

रेणु-व्याख्या–अब अध्वर्यु तीन बार समन्त्रक स्तम्बयजुर्हरण करने के बाद चौथी बार मौनभाव से (चुपचाप बिना कोई मन्त्र बोले) ही प्रहार करता है। इसके पीछे हेतु स्पष्ट करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इन तीनों प्रत्यक्ष लोकों से अतिरिक्त (परे) जो चौथा लोक है, वह है भी या नहीं यहाँ शंका है। यदि है तो उस लोक से भी राक्षसों को भगा देता है ऐसा सोचकर अध्वर्यु चतुर्थ प्रहरण मौनभाव से करता है। चूँकि वह चौथा लोक भी अस्पष्ट (अप्रत्यक्ष) है और मौनभाव भी अस्पष्ट है। इस प्रकार अस्पष्ट लोक से द्वेषकारी शत्रुओं को अस्पष्ट भाव द्वारा ही भगाता है (दबाता/रोकता है) चूँकि यह मौनभाव निश्चित रूप से अस्पष्ट है। इसलिए चौथी बार मौन होकर ही प्रहार करता हुआ अध्वर्यु स्तम्बयजुर्हरण करता है।।21।।

इस प्रकार माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण के प्रथमकाण्ड के
द्वितीयाध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की रेणु हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्

[वेदिपरिग्रहं वक्तुमितिहासः]

1.2.5.1 देवाश्च वाऽअसुराश्च। (श्चो) उभये प्राजापत्याः परपृधिरे ततो देवाऽ अनुव्यमिवासुरथ हासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति॥1॥

ऋजुपाठः–देवाश्च वा असुराश्च–उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततो देवा अनुव्यमिवासुः। अथ हासुरा मेनिरे अस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति॥1॥

सा.भा.–इत्थं स्तम्बयजुर्हरणं विधाय वेदिपरिग्रहं वक्तुमितिहासमुपन्यस्यति–**देवाश्चेति**। पस्पृधिरे' स्पर्द्धां कृतवन्तः। "अपस्पृधेथामानृचुरानृहुः" (पा.सू. 6.1.36.) इति सम्प्रसारणनिपातनस्योपलक्षण-त्वमभिप्रेत्य लिट्यपि सम्प्रसारणं कृतम्। स्पर्द्धमानानां तेषां मध्ये 'देवाः' 'ततः' तेभ्योऽसुरेभ्यः 'अनुव्यम्' अनुगमनं न्यग्भूतिं प्राप्ता इव बभूवुः। 'अथ ह' अनन्तरमेव तेऽसुरा मन्यन्ते स्म। किमिति? 'इदम्' सर्वं जगदस्माकमेवेति॥1॥

अन्वयः–प्राजापत्याः उभये देवाश्च वा असुराश्च पस्पृधिरे। ततो देवा अनुव्यम् इव आसुः। अथ असुराः ह अस्माकम् एव इदं भुवनम् इति मेनिरे॥1॥

पदार्थः–**प्राजापत्याः** = प्रजापति की सन्तान, **उभये** = दोनों, **देवाश्च** = देवगण, **वा** = तथा, **असुराश्च** = असुरगण, **पस्पृधिरे** = परस्पर स्पर्द्धा (प्रतियोगिता/युद्ध) करने लगे। **ततो** = उसके बाद, **देवाः** = देवगण, अनुव्यम् = निर्बल (दुर्बल/कमजोर), **इव** = की तरह, **आसुः** = हो गये (पड़ने लगे), **अथ** = तब, **असुराः** = असुरों ने, **ह** = प्रसिद्ध, रूप से, **अस्माकम्** = हमारी, **इव** = ही, **इदं** = यह, **भुवनम्** = समस्त संसार है, **इति** = ऐसा, **मेनिरे** = मान लिये थे॥1॥

रेणु-व्याख्या–गत ब्राह्मण में स्तम्बयजुर्हरण प्रसंग का सविधि निरूपण करने के बाद अब यहाँ से वेदि परिग्रह सम्बन्धी इतिहास को प्रस्तुत करते हुए भगवान्

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि असुर एवं देव ये दोनों ही प्रजापति की सन्तान हैं। प्रजापति की दोनों सन्ततियों ने (एकबार) आपस में प्रतियोगिता की। उस प्रतियोगिता में देवों के समूह कमजोर (दुर्बल) पड़ने लगे। तब असुरों ने ऐसा मान लिया कि इन समस्त भुवनों पर अर्थात् सम्पूर्ण जगत् हमारे आधीन है, अर्थात् हमारा ही हो गया।।1।।

[असुराणामापसीयं वार्तालापम्]

1.2.5.2. ते होचुः। (ई) हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै तां व्विभज्योपजीवामेति तामौक्ष्णैश्चर्म्मभिः पश्चात्प्राञ्चो व्विभजमानाऽअभीयुः।।2।।

ऋजुपाठः–ते होचुः–हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै, तां विभज्योपजीवामेति। तामौक्ष्णैश्चर्म्मभिः पश्चात् प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः।।2।।

सा.भा.–एवमुक्त्वा किमुक्तवन्त इति तद्दर्शयति–**ते** हेति। 'हन्त' इति हर्षे। यत एवं देवा न्यग्भूताः, अतो निष्प्रत्यूहं वयम् 'इमाम्' पृथिवीं विभजामहै। विभज्य च तां यथाभागमुपजीवामेति। एवमुक्त्वा किं कृतवन्त इति तदाह–**तामिति।** 'औक्ष्णैः' उक्ष्णोऽनडुहः सम्बन्धिभिश्चर्म्मभिः। उक्षन्–शब्दात् "तस्येदम्" (पा.सू. 4.3. 120) इत्यणि "षपूर्वहन्धृतराज्ञाम्" (पा.सू. 6.4.135) इत्यलोपः। तैश्चर्मभिः 'पश्चात्' प्रतीचीं दिशमारभ्य 'प्राञ्चः' प्राङ्मुखा विभजमानाः 'अभीयुः' अभिजग्मुरित्यर्थः।।2।।

अन्वयः–ते (असुराः) ह ऊचुः हन्त! इमां पृथिवीं विभजामहै, तां विभज्य उपजीवाम इति। तां (पृथिवीं) औक्ष्णैः (अनडुहः सम्बन्धिभिः) चर्मभिः पश्चात् प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः (अभिजग्मुः)।।2।।

पदार्थः–**ते** = वे, **ह** = प्रसिद्ध (असुरगण), **ऊचुः** = बोले, **हन्त** = अच्छा (ठीक है), **इमां** = इस, **पृथिवीं** = पृथिवी को, **विभजामहै** = हम आपस में बाँटते हैं। **तां** = उस (को), **विभज्य** = बाँटकर, **उपजीवाम** = जीवन यापन करें, **इति** = ऐसा (विचार किया)। **तां** = उस (पृथ्वी) को, **औक्ष्णैः** = बैल के, **चर्मभिः** = चमड़े से, **पश्चात्** = पश्चिम से आरम्भ कर, **प्राञ्चो** = पूर्व दिशा की ओर, **विभजमाना** = बाँटते हुए, **अभीयुः** = आगे बढ़ने लगे।।2।।

रेणु-व्याख्या–देवताओं के बार-बार प्रतियोगिता में पिछड़ जाने पर असुर गणों ने यह मान लिया कि अब इस समस्त भुवनमण्डल पर हमारा ही अधिकार है।

इस प्रसन्नता में असुरों ने कहा कि–अच्छा, क्यों न अब हम लोग इस पृथिवी को आपस में बाँटकर जीवन-यापन करें। तो आओ, सब मिलकर इसे बाँट लें। ऐसा विचारकर असुर इस पृथिवी को बैल के चमड़े से आरम्भ कर पश्चिम से पूर्व की ओर (जाते) हुए क्रम में बाँटते हुए आगे बढ़ने लगे।।2।।

[असुराणां विभाजनकाले पृथिव्यांशं गृहीतुं देवैः कृतः प्रयासः]

1.2.5.3. (स्त) तद्वै देवाः शुश्रुवुः। (व्विं) व्विभजन्ते ह वाऽइमाममसुराः पृथिवीं प्रेत तदेष्यामो यत्रेमाममसुरा व्विभजन्ते के ततः स्याम यदस्यै न भजेमहीति ते यज्ञमेव व्विष्णुं पुरस्कृत्येयुः।।3।।

ऋजुपाठः–तद्वै देवाः शुश्रुवुः विभजन्ते ह वा इमामसुराः पृथिवीम्, प्रेत तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते, के ततः स्याम–यदस्यै न भजेमहीति। ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः।।3।।

सा.भा.–असुरेष्वेवं कृतवत्सु देवाः किं कृतवन्त इति तदाह–**तद्वा** इति। **प्रेतेत्यादि**। अस्माकं तूष्णीमवस्थानमनुचितम्, अस्माभिरपि तद्विषये प्रयतितव्यमिति, परस्परमभिमुखीकृत्येत्यर्थः प्रतिपाद्यते–हे देवाः! यूयं 'प्रेत' गच्छत, प्रोत्सहध्वमिति यावत्। यस्मिन् स्थानेऽसुराः पृथिवीं विभजन्ते, तत् स्थानं गमिष्यामः। गत्वा च 'यत्' यदि 'अस्यै' षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (पा.सू. 2।3।62। वा. 1509) 'अस्याः'। पृथिव्याः सम्बन्धि स्थानं न प्राप्नुयामः, ('ततः' तर्हि वयमभागिनो भवेम; यदि तु प्राप्नुयामः तदा) भागिनः 'स्याम' भवेमेत्यर्थः। एवमालोच्य देवैः कृतं दर्शयति–**त** इति। यज्ञात्मकमेव 'विष्णुम्' पुरतो धारयित्वा 'ईयुः' गतवन्त इत्यर्थः।।3।।

अन्वयः–असुराः इमां पृथिवीं ह वा विभजन्ते, तद् देवा वै शुश्रुवुः। प्रेत यत्र इमाम् असुराः विभजन्ते तत् एष्यामः। यत् (यदि) अस्यै न भजेमहि ततः के स्याम? इति (आलोच्य)। ते यज्ञम् एव विष्णुं पुरस्कृत्य ईयुः।।3।।

पदार्थः–**असुराः** = असुरगण, **इमां** = इस, **पृथिवीं** = पृथिवी को, **ह** = निश्चित रूप से, **वा** = ही, **विभजन्ते** = बाँट रहे हैं, **तत्** = यह (बात), **देवाः** = देवताओं ने, **वै** = भी, **शुश्रुवुः** = सभी (ज्ञात किया)। **प्रेत** = चलें, **यत्र** = जहाँ, **इमाम्** = इस (पृथिवी) को, **असुराः** = असुरगण, **विभजन्ते** = आपस में बाँट रहे हैं, **तत्** = वहाँ, **एष्यामः** = पहुँचेंगे (जाएँगे)। **यत्** = यदि, **अस्यै** = इस पृथिवीको, **न** = नहीं, **भजेमहि** = बाँटेंगे, हिस्सा लेंगे, **ततः** = उसके

बाद, **के** = कौन (किस रूप में हिस्सेदार), **स्याम** = हम होंगे, **इति** = ऐसा (सोचकर), **ते** = वे देवगण, **यज्ञम्** = यज्ञ को, **एव** = ही, **विष्णुं** = विष्णु रूप को, **पुरस्कृत्य** = अपने आगे कर (अगुआ (मुखर) बनाकर), **ईयुः** = वहाँ (विभाजनस्थल पर) पहुँचे (आये)।।3।।

रेणु-व्याख्या–असुरों ने जब पृथिवी को आपस में बाँटने का चिन्तन किया तो उसे जानकर देवों ने पृथिव्यांश ग्रहण करने के लिए जो प्रयास किया था, उसका वर्णन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–देवताओं ने यह सुना कि असुरगण इस पृथिवी को आपस में बाँट रहे हैं। तब देवगणों ने कहा कि चलो चलें हम भी वहाँ पहुँचे जहाँ असुरगण विभाजन कर रहे हैं। क्योंकि यदि इस पृथिवी का भाग हम प्राप्त नहीं करेंगे तो उसके बाद हम किस रूप में हिस्सेदार कहलाएँगे? ऐसा सोचकर देवगणों ने यज्ञ को विष्णुरूप में आगे किया। ऐसा करके (अगुआ बनाकर के) वे लोग वहाँ पहुँचे जहाँ असुरगण पृथिवी का विभाजन कर रहे थे।।3।।

[विभाजनस्थले गत्वा देवैः प्रस्तुतः प्रस्तावः]

1.2.5.4. (स्ते) ते होचुः। (र) अनु नोऽस्यां पृथिव्यामाभजतास्त्वेव नोऽप्यस्यां भागऽइति ते हासुराऽअसूयन्त- ऽइवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वो दद्मऽइति।।4।।

ऋजुपाठः–ते होचुः–अनु नोऽस्यां पृथिव्यामाभजत, अस्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति। ते हासुरा असूयन्त एवोचुः–यावदेवैष विष्णुरभिशेते, तावद्वो दद्म इति।।4।।

सा.भा.–गत्वा चासुरान् प्रति किमुक्तवन्त इति, तदाह–**ते** हेति। 'अस्याम्' पृथिव्याम् 'नः' अस्मान् 'अन्वाभजत' संयोजयत। 'नः' अस्माकमप्यस्यां भागो भवत्विति। असुरैः कृतं प्रतिवचनं दर्शयति–**ते हेति**। 'असूयन्त इव' असूयां कुर्वन्त इव, असहमाना इति यावत्। यावन्तं देशं विष्णुर्व्याप्य वर्तते, तत्परिमाणं स्थानं युष्मभ्यं प्रयच्छाम।।4।।

अन्वयः–अस्यां पृथिव्यां नः अन्वाभजत, नः अपि अस्यां भागः अस्तु इव इति ते ह ऊचुः। असूयन्त इव ते ह असुरा ऊचुः–एष विष्णुः यावत् अभिशेते तावत् एव वः दद्म इति!

पदार्थः–**अस्यां** = इस, **पृथिव्याम्** = पृथिवी में, **नः** = हमें, **अन्वाभजत** = जोड़कर सहभागी बना लो, **नः** = हमारा, **अपि** = भी, **अस्यां** = इसमें, **भागः**

= अंश (भाग), **अस्तु** = हो, **एव** = ही, **इति** = ऐसा, **ते** = वे (देवगण), **ह** = प्रसिद्ध वाक्य, **ऊचुः** = बोले। **असूयन्त** = क्रोध (ईर्ष्या) करते हुए, **इव** = के जैसे, **ते** = वे (असुरगण), **ह** = प्रसिद्धरूप से, **असुरा** = असुरगण, **ऊचुः** = बोले, **एष** = यह, **विष्णुः** = विष्णु, **यावत्** = जितनी जगह में, **अभिशेते** = व्याप्त होकर लेट सकेगा, **तावत्** = उतनी (भूमि), **एव** = ही, **वः** = तुम्हें, **दद्म** = देते हैं, **इति** = ऐसा कहा।।4।।

रेणु-व्याख्या—यज्ञ को विष्णुरूप बनाकर देवगण वहाँ पहुँचे जहाँ असुरगण आपस में पृथिवी का विभाजन कर रहे थे। वहाँ पहुँचकर देवों ने असुरों के समक्ष अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए यह प्रस्ताव रखा कि "इस पृथ्वी में कुछ अंश देकर हमें भी सहभागी बना लो, हमारा भी कुछ भाग इसमें हो ही ऐसा देवों ने कहा। इस प्रस्ताव को अस्वीकार करने की भावना से ईर्ष्यायुक्त क्रोध करते हुए असुरों ने देवताओं से कहा—"ठीक है, जितनी जगह में व्याप्त होकर यह तुम्हारा विष्णु सो सकेगा, (लेट जाएगा) उतनी ही भूमि हम तुम्हें देते हैं।" ऐसा कहा।।4।।

[असुरैरभिहितस्य देवैरङ्गीकरणम्]

1.2.5.5. व्वामनो ह व्विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्य्ये नो यज्ञसम्मितमदुरिति।।5।।

ऋजुपाठः—वामनो ह विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडिरे—महद्वै नोऽदुर्ये नो यज्ञसम्मितमदुरिति।।5।।

सा.भा.—असुरैरभिहिते देवास्तदङ्गीचक्रुरित्याह—**वामनो** हेति। विष्णुर्हि तदानीम् 'वामनः' खर्वो बभूव। अत एवासुरास्तेनाक्रान्तं स्थानं प्रयच्छाम इत्यब्रुवन्। अथापि 'तत्' असुरैरुक्तं देवाः; 'न जिहीडिरे' न ह्यनादृतं चक्रुः, किन्त्वाद्रियन्ते स्मेत्यर्थः। "हेडृ अनादरे" (भ्वा.आ. 285) इति धातुः। आदरणप्रकारमाह—**महदिति।** विष्णुर्हि यज्ञः, अतो 'यज्ञसम्मितम्' स्थानमस्मभ्यं दत्तवन्त इति यत्, तत् 'नः' अस्माकम् 'महत्' अधिकम्।।5।।

अन्वयः—विष्णुः ह वामनः आस, (परं) देवा तद् (असुरैरुक्तं) न जिहीडिरे। ये नो यज्ञसम्मितम् अदुः (तत्) नः महद् वै अदुः इति।।5।।

पदार्थः—**विष्णुः** = विष्णु (यज्ञरूप), **ह** = प्रसिद्ध, **वामनः** = खर्व (बौना), **आस** = था, (परन्तु), **देवा** = देवगण, **तद्** = असुरों के इस (अनुचित) कथन को, **न** = नहीं, **जिहीडिरे** = अनादर किया। (उन्होंने सोचा) **ये** = जिन्होंने, **नः**

= हमें, **यज्ञसम्मितम्** = यज्ञ करने योग्य (यज्ञतुल्य) स्थान, **अदुः** = दे दिया, (वह) **नः** = हमारे लिए, **महद्** = बड़ा भाग, **वै** = निश्चित रूप से, **अदुः** = दे दिया, **इति** = ऐसा।।5।।

रेणु-व्याख्या–देवगणों को असुरों ने विष्णु के सम्मित भूमि प्रदान करने की स्वीकृति दी, क्योंकि उस समय विष्णु वामन (बौने) खर्व स्वरूप के थे। इस सन्दर्भ में मुझे रहीम कवि की वह पदावली स्मरण आ रही है कि–**"रहिमन याचकता गहे बड़ो छोट ह्वै जात। नारायणहु को भयो वार्वन आंगुर गात।।"** यहाँ वामन स्वरूप को अंगुलप्रमाण द्वारा स्पष्ट किया गया है। "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।" (शु.य.सं. 31.1) इस मन्त्र में पुरुष नारायण को ही कहा गया है। 'पुरुषो ह नारायणोऽकामयत' (श.प.ब्रा. 13.1.1.1) नारायण भगवान् विष्णु को ही कहा जाता है। वह नारायण जब वामन स्वरूप धारण किए थे तो उनके शरीर की कुल ऊँचाई वावन (52) अंगुल थी। सामान्यतः पुरुष का शरीर (120) एक सौ बीस अंगुल का शास्त्रों में माना गया है। यहाँ (52) वावन अंगुल का तात्पर्य पुरुष प्रमाण का आधे से भी छोटा भाग हुआ। इस प्रकार अत्यन्त लघुकाय देखकर देवताओं का (मजाक उड़ाने) उपहास करने के लिए असुरों ने ऐसा कहा था कि विष्णु जितना बड़ा है उतनी भूमि देता हूँ। परन्तु असुरों के इस स्वीकृति को देवताओं ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। यह सोचकर मान लिया कि जहाँ कुछ नहीं मिलने वाला था वहाँ कम-से-कम यज्ञ करने योग्य भूमि तो मिल रही है। 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' धर्म का थोड़ा अंश भी महान् भय से मुक्त करने में सहायक होता है। अर्थात् उन्होंने सोचा कि जो दिया जा रहा है वही हमारे लिए महान् भाग है, इसी से सब कुछ होगा।।5।।

[प्राप्तस्य भूमेः छन्दोभिः परिग्रहणम्] (पूर्वपरिग्रहः)

1.2.5.6. ते प्राञ्चं व्विष्णुं निपाद्य। च्छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन्गायत्रेण त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामीति दक्षिणतस्त्रैष्टुभेन त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामीति पश्चाज्जागतेन त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरतः।।6।।

ऋजुपाठः–ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन्–"गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि"–(1 अ. 27 मं.) इति, दक्षिणतः। "त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि"–(1 अ. 27 मं.) इति पश्चात्। "जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि" (1 अ. 27 मं.) इति, उत्तरतः।।6।।

सा.भा.–एवं विचार्य्य देवैः कृतं दर्शयति–**त इति।** यज्ञात्मकम् 'विष्णुम्' 'प्राञ्चम्' प्राक्शिरसं निपात्य दक्षिणतः, पश्चात्, उत्तरतश्च गायत्र्यादिच्छन्दोभिः सर्वतः पर्यगृह्णन्।।6।।

अन्वयः–ते (देवाः) विष्णुं प्राञ्चं निपाद्य अभितः छन्दोभिः पर्यगृह्णन्। गायत्रेण छान्दसा त्वा परिगृह्णामि इति दक्षिणतः, त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वा परिगृह्णामि इति पश्चात्, जागतेन छन्दसा त्वा परिगृह्णामि इति उत्तरतः (पर्यगृह्णान्)।।6।।

पदार्थः–**ते** = वे (देवगण), **विष्णुं** = विष्णु को, **प्राञ्चं** = पूर्व की ओर शिर करके, **निपाद्य** = रखकर, **अभितः** = चारों ओर से, **छन्दोभिः** = छन्दों द्वारा, **पर्यगृह्णन्** = परिग्रहण किया (घेरा)। **गायत्रेण** = गायत्री से, **छन्दसा** = छन्द से, **त्वा** = तुम्हें, **परिगृह्णामि** = घेरता हूँ, **इति** = ऐसा (कहकर), **दक्षिणतः** = दक्षिण से (घेरा), **त्रैष्टुभेन** = त्रिष्टुप् से, **छन्दसा** = छन्द द्वारा, **त्वा** = तुम्हें, **परिगृह्णामि** = घेरता हूँ, **इति** = ऐसा (कहकर), **पश्चात्** = पश्चिम दिशा से (घेरा), **जागतेन** = जगती से, **छन्दसा** = छन्द से, **त्वा** = तुम्हें, **परिगृह्णामि** = घेरता हूँ, **इति** = ऐसा (कहकर), **उत्तरतः** = उत्तर दिशा से (घेरा)।।6।।

रेणु-व्याख्या–वे देवगण अत्यन्त सन्तुष्ट मनवाले होकर अपने बौने (खर्ब) शरीर वाले विष्णु को पूर्व की ओर शिर करके भूमि पर सुला दिये और चारों तरफ से छन्दों द्वारा उसे सुरक्षित करने के अभिप्राय से घेरा डाल दिये। घेरा (सुरक्षा चक्र) डालते हुए अध्वर्यु द्वारा गायत्री छन्द द्वारा तुम्हें दक्षिण से घेरता हूँ, त्रिष्टुप् छन्द द्वारा तुम्हें पश्चिम से घेरता हूँ, जगती छन्द द्वारा तुम्हें उत्तर से घेरता हूँ। ऐसा कहकर दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर तीनों ओर से क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द द्वारा घेरा डालकर 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' वाक्य को सार्थक करते हुए शताधिकायु को सुरक्षित किया जाता है। (गायत्री–24+त्रिष्टुप्–44+ जगती–46=116) इस प्रकार 116 वर्षों तथा पृथिवी लोक, अन्तरिक्षलोक एवं द्युलोक इन तीनों लोकों के माध्यम से इस यज्ञरूप विष्णुसम्मित भूमि को सुरक्षित करता है।।6।।

[यावती वेदिस्तावती पृथिवीति प्रतिपादनम्]

1.2.5.7. (स्तं) तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य। (ह्या) अग्निं पुरस्तात्समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तेनेमाꣳ सर्व्वां पृथिवीꣳ समविन्दत तद्यदेनेनेमाꣳ सर्व्वाꣳ समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम तस्मादाहुर्य्यावती

व्वेदिस्तावती पृथिवीत्येतया हीमा ँ सर्व्वा ँ समविन्दन्तैवँह वाऽइमा ँ सर्व्वा ँ सपत्नाना ँ संवृङ्क्ते निर्भजत्यस्यै सपत्नान्यऽएवमेतद्वेद॥7॥

ऋजुपाठः—तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य, अग्निं पुरस्तात् समाधाय, तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः। तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दत। तद् यदेनेनेमां सर्वां समविन्दन्त, तस्माद्वेदिर्नाम। तस्मादाहुः-यावती वेदिः, तावती पृथिवीति—एतया हीमां सर्वां समविन्दन्त। एवं ह वा इमां सर्वां सपत्नानां संवृंक्ते। निर्भजत्यस्यै सपत्नान्—य एवमेतद्वेद॥7॥

सा.भा.—तमिति। 'तम्' विष्णुं गायत्र्यादिभिश्छन्दोभिः सर्वतः परिगृह्य, पूर्वस्यां दिशि-आहवनीयाख्यम् 'अग्निम्' प्रज्वाल्य, 'तेन' विष्ण्वात्मकेन यज्ञेन 'अर्चन्तः' पूजयन्तः, 'श्राम्यन्तः' कर्मानुष्ठानजनितं श्रमं प्राप्नुवन्तः 'चेरुः' पूर्ववद् ववृतिरे। चरित्वा च 'तेन' यज्ञात्मकस्य विष्णोराधारभूतेन स्थानेन देवाः सर्वामिवेमां पृथिवीं सम्यगलभन्त। अतो विद्यते लभ्यते अनेनेति यज्ञस्थानस्य 'वेदि'—नामधेयं निर्वक्ति—**तद्यदिति**। उक्तं वेद्याः सर्वपृथिवीलाभरूपत्वम्, इदानीं वेदिपृथिव्योस्तादात्म्यविषयामभियुक्त-प्रसिद्धिमुदाहरति—**तस्मादिति**। यत्परिमाणविशिष्टा खलु वेदिः, तत्परिमाणैव पृथिवी कुत इत्यत आह—**एतयेति**। 'हि' यस्मात् 'एतया' वेद्या इमां सर्वां पृथिवीमलभन्त, अतस्तल्लाभहेतुत्वात् ततोऽनन्येत्यर्थः। इत्थं पुरावृत्तमुदाहृत्य प्रकृते योजयति—**एवं** हेति। यथैव हि वेदिपरिग्रहाद्देवा असुरसकाशात् कृत्स्नां पृथिवीमपहृतवन्तः, एवमेवायं यजमानोऽपि शत्रुसम्बन्धिनीं सर्वां भूमिमपहरति। तांश्च शत्रून् 'अस्याः' पृथिव्याः 'निर्भजति' निर्भक्तान् भागरहितान् करोतीत्यर्थः। तस्माद् गायत्रेणेत्यादिभिर्मन्त्रैः स्फ्येन वेदिं दक्षिणतः पश्चादुत्तरतश्च रेखया परिगृह्णीयादित्यर्थः॥7॥

अन्वयः—तम् अभितः छन्दोभिः परिगृह्य, पुरस्तात्, अग्निं समाधाय, तेन (यज्ञेन) अर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरुः। तेन इमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त। यत् एतेन तत् इमां सर्वां समविन्दन्त तस्मात् वेदिः नाम। तस्मात् आहुः यावती वेदिः तावती पृथिवी इति। हि एतया इमां सर्वां समविन्दन्त, एवं वै इमां सर्वां ह सपत्नानां संवृंक्ते। यः एवम् एतद् वेद (सः) अस्यै सपत्नान् निर्भजति॥7॥

पदार्थः—**तम्** = उस (विष्णु को), **अभितः** = चारों ओर, **छन्दोभिः** = छन्दों से, **परिगृह्य** = घेरकर, **पुरस्तात्** = सामने (पूर्व दिशा में), **अग्निं** =

अग्नि को, **समाधाय** = स्थापित कर, **तेन** = उस (यज्ञ) से, **अर्चन्तः** = अर्चना (याग) करते हुए, **श्राम्यन्तः** = श्रम करते हुए, **चेरुः** = चलते रहे। **तेन** = उस (यज्ञ) से, **इमां** = इस, **सर्वां** = समस्त, **पृथिवीं** = पृथिवी को, **समविन्दन्त** = प्राप्त कर लिये। **यत्** = जो, **एनेन** = इससे, **तत्** = उस, **इमां** = इस, **सर्वां** = समस्त (पृथिवी) को, **समविन्दन्त** = प्राप्त किये, **तस्मात्** = इसलिए, **वेदिः** = वेदी, **नाम** = उसका नाम पड़ा। **तस्मात्** = इसलिए, **आहुः** = कहते हैं, **यावती** = जितनी, **वेदिः** = वेदी है, **तावती** = उतनी, **पृथिवी** = पृथिवी है, **इति** = ऐसा। **हि** = क्योंकि, **एतया** = इसके द्वारा, **इमां** = इस, **सर्वां** = समस्त पृथिवी को, **समविन्दन्त** = प्राप्त कर लिये। **एवं** = इस प्रकार, **वै** = ही, **इमां** = इस, **सर्वां** = समस्त पृथिवी को, **ह** = निश्चित रूप से, **सपत्नानां** = शत्रुओं के प्रभाव से, **संवृक्ते** = वर्जित कर देता है। **यः** = जो कोई, **एवं** = इस प्रकार, **एतद्** = यह मर्म, **वेद** = जानता है, (वह), **अस्यै** = इस पृथिवी से, **सपत्नान्** = शत्रुओं को, **निर्भजति** = भाग रहित कर देता है।।7।।

रेणु-व्याख्या—इस प्रकार देवताओं ने असुरों द्वारा प्रदत्त न्यूनतम पृथिवी के अंश को छन्दों से भलीभाँति घेरकर, पूर्व दिशा में सोये हुए विष्णु के शिरोभाग की ओर अग्नि को स्थापित कर, उस (आहवनीय नामक) अग्नि द्वारा अर्चना करते हुए, परिश्रम करते हुए उस दुःख के समय को बिताने लगे। धीरे-धीरे यज्ञ प्रक्रिया के अनुसार पृथिवी का प्रथम (विस्तार) होता गया, फलतः समय उचित आने पर देवगणों ने समस्त पृथ्वी को प्राप्त कर लिया। देवों ने जो इस प्रकार अनुष्ठान विधि से समस्त पृथ्वी को प्राप्त किया इसलिए इस पृथिव्यांश रूप (विष्णु) स्थान को वेदी के नाम से जाना जाने लगा। इसलिए कहते हैं "यावती वेदिः तावती पृथिवी" अर्थात् जितनी बड़ी यह वेदी है उतनी ही पृथिवी है। अतः वेदमन्त्र में भी इस पृथिवी को वेदी कहकर सम्बोधित किया गया है। यथा—

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम।।

(ऋ. 1.164.35, शु.य.सं. 23.62, अथर्व. 9.1014) चूँकि इस समस्त पृथिवी को देवगण प्राप्त कर लिए, इस प्रकार सम्पूर्ण पृथिवी को असुरादि शत्रुओं के आक्रान्त से वर्जित कर दिया जाता है। जो कोई भी मनुष्य इस तथ्य को उक्त प्रकार से समझकर

सविधि अनुष्ठान करता है, वह इस पृथिवी से शत्रुओं को भाग रहित कर देता है।[1] इस कथा को भगवान् विष्णु के वामनावतार प्रसंग के रूप में श्रीमद्भागवत् पुराण के अष्टम स्कन्ध में 15वें अध्याय से 61वें अध्याय तक विस्तार पूर्वक विवेचित किया गया है। वहाँ देश, काल, पात्र एवं परिस्थिति भिन्न है।।7।।

[विष्णोरोषधीनां मूले अदृश्यत्वम्]

1.2.5.8. सोऽयं वि॒ष्णुर्ग्लानः। (श्छ॒) छ॒न्दोभिरभि॒तः प॒रिगृहीतोऽग्नि॒ः पु॒र॒स्ता॒न्नापक्र॒मणमास स त॒तऽएवौ॒षधीनां मू॒लान्यु॒पमुम्लोच।।8।।

ऋजुपाठः–सोऽयं विष्णुर्ग्लानः, छन्दोभिरभितः परिगृहीतः, अग्निः पुरस्तात् नापक्रमणमास। स तत एवौषधीनां मूलान्युपमुम्लोच।।8।।

सा.भा.–अथ वेदेः खननं विधित्सुः प्रकृतमितिहासशेषमनुक्रामति–**सोऽयमिति।** सः– यज्ञात्मको 'विष्णुः' दक्षिणतः पश्चादुत्तरतश्च छन्दोभिः परिगृहीतत्वात् पूर्वस्यां दिशि चाग्नेरवस्थानादितस्ततश्चलितुमशक्यत्वेन 'ग्लानः' श्रान्तः सन् 'अपक्रमणम्' अपगमनम् 'नास' न जगाम। "अस गतिदीप्त्यादानेषु"–(भ्वा.उ. 911)–इत्यस्माल्लिटि रूपम्। यद्वा–अस्तेरेव लिटि च्छान्दसो भूभावाऽभावः। ग्लानस्य तस्य विष्णोरपगमनं न बभूवेत्यर्थः। स च सर्वतः परिगृहीतो विष्णुः 'तत एव' तस्मिन्नेव स्थाने–ओषधीनां मूलान्युपेत्य भूम्यन्तर्गतः सन् 'मुम्लोच' अस्तङ्गतः, अदृश्यो वभूव।।8।।

अन्वयः–सः अयं विष्णुः ग्लानः (अभवत्), अभितः छन्दोभिः परिगृहीतः, पुरस्तात् अग्निः, अपक्रमणं न आस। सः तत एव औषधीनां मूलानि उपमुम्लोच।।8।।

पदार्थः–**सः** = वह, **अयं** = यह, **विष्णुः** = विष्णु, **ग्लानः** = खिन्न (हो गया), **अभितः** = पश्चिम, दक्षिण एवं उत्तर सब ओर से, **छन्दोभिः** = छन्दों से, **परिगृहीतः** = घिरा हुआ था, तथा **पुरस्तात्** = सामने (पूर्व में), **अग्निः** = अग्नि से घिरा था, **अपक्रमणं** = हिलने डुलने या निकलने का, **न** = कोई मार्ग नहीं, **आस** = था। **सः** = वह यज्ञात्मक विष्णु, **तत्** = वहाँ से, **एव** = ही, **औषधीनां** = औषधियों के, मूलानि जड़ों में, **उपमुम्लोच** = अदृश्य हो गया (छुप गया)।।8।।

---

1. आचार्य कात्यायन ने परिग्रह की विधि को बताते हुए कहा है कि–पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति दक्षिणतः, पश्चादुत्तरतश्च स्फ्येन गायत्रेणेति प्रतिमन्त्रम्।। (का.श्रौ.सू. 2.6.18) गायत्रेण त्वा इत्यादि तीनों मन्त्रों से दक्षिण पश्चिम एवं उत्तर में स्फ्य से रेखा खींचता है।।

रेणु-व्याख्या—इस प्रकार दक्षिण पश्चिम एवं उत्तर दिशा में छन्दों से तथा सामने (पूर्व) अग्नि से घिरा हुआ वह यह यज्ञात्मक विष्णु हिलने-डुलने एवं करवट बदलने आदि का स्थान न पाकर दुःखी हो गया। इस कारण वह वहाँ से ही औषधियों के जड़ों को अपना आश्रय मानकर उसके अन्दर भूमि में छुपकर अन्तर्धान हो गया। (अदृश्य हो गया)।।8।।

[अदृश्यस्य यज्ञस्य देवैरन्वेषणं वेदेस्त्र्यङ्गुलखननप्रसङ्गश्च]

1.2.5.9. ते ह देवाऽऊचुः। क्क नु व्विष्णुरभूत्क्क नु यज्ञोऽभूदिति ते होचुश्छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमस्त्यत्रैवान्विच्छतेति तं खनन्तऽइवान्वीषुस्तं त्र्यङ्गुलेऽन्वविन्दंस्तस्मात्त्र्यङ्गुला व्वेदिः स्यात्तदु हापि पाञ्चिस्त्र्यङ्गुलामेव सौम्यस्याध्वरस्य व्वेदिं चक्रे।।9।।

ऋजुपाठः—ते ह देवा ऊचुः—क्क नु विष्णुरभूत्, क्क नु यज्ञोऽभूदिति। ते होचुः—छन्दोभिरभितः परिगृहीतः, अग्निः पुरस्तात्, नापक्रमणमस्ति; अत्रैवान्विच्छतेति। तं खनन्त इवान्वीषुः। तं त्र्यंगुलेऽन्वविन्दन्। तस्मात् त्र्यंगुला वेदिः स्यात्। तदु हापि पाञ्चिः त्र्यंगुलामेव सौम्यस्याध्वरस्य वेदिं चक्रे।।9।।

सा.भा.—अनन्तरं च ते देवास्तत्र विष्णुमपश्यन्तो वितर्कितवन्तः, किमित्याह—**ते ह देवा** इति। विष्णुः 'क्क' कुत्राभूत्? तदात्मको यज्ञश्च क्क वाऽभूदिति। एवं वितर्क्य तैर्निर्णीतमर्थं दर्शयति—**ते होचुरिति। अत्रैवेति।** चतसृष्वपि दिक्षु परिवृतत्वेन गमनासम्भवात् 'अत्रैव' स्थाने तस्य विष्णोरन्वेषणं कुरुतेत्यर्थः। इत्थं परस्परं निश्चित्य भूमिं खनन्त इव 'तम्' विष्णुमन्विष्टवन्तः। अन्विष्य तं भूम्यन्तस्त्र्यङ्गुले 'अन्वविन्दन्' अलभन्त। यत एवम्, अत इदानीमपि यज्ञलाभाय वेदेस्त्र्यङ्गुलमात्रखननं कर्तव्यमिति विधत्ते तस्मादिति। त्र्यङ्गुलपरिमाणेन खाता वेदिर्भवेदित्यर्थः। वेदेयङ्गुलखननमृषिसंवादेन द्रढयति—**तदु हेति।** 'पाञ्चिः' नाम कश्चित्, स खलु सोमयागस्यापि वेदिं त्र्यङ्गुलखातामेव कृतवान्। अतोऽत्रापि त्र्यङ्गुलखाता वेदिर्युक्तेति भावः।।9।।

अन्वयः—ते देवाः क्व नु विष्णुः अभूत्? क्व नु यज्ञोऽभूत्? इति ह ऊचुः। अभितः छन्दोभिः परिगृहीतः, पुरस्तात् अग्निः (अतः तस्य) अपक्रमणं न अस्ति, अत्र एव अन्विच्छत इति ते ह ऊचुः। तं खनन्त इव अन्वीषुः, तं त्र्यङ्गुले (भूम्यन्तः) अन्वविन्दन्। तस्मात् त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात्। तत् उ पाञ्चिः (ऋषिः) ह सौम्यस्य अध्वरस्य अपि त्र्यङ्गुलाम् एव वेदिं चक्रे।।9।।

पदार्थः–**ते** = वे, **देवाः** = देवगण, **क्व** = कहाँ, **नु** = शीघ्र, **विष्णुः** = विष्णु, **अभूत्** = चला गया, **क्व** = कहाँ, **नु** = शीघ्र, **यज्ञः** = यज्ञ, **अभूत्** = चला गया, **इति** = ऐसा, **ह** = आश्चर्यपूर्वक, **ऊचुः** = कहने लगे। **अभितः** = सब ओर से, **छन्दोभिः** = छन्दों से, तथा **पुरस्तात्** = सामने, **अग्निः** = अग्नि से, **परिगृहीतः** = बंधा (घिरा) हुआ था। (अतः तस्य = इसलिए, उसका) **अपक्रमणं** = निकलने का मार्ग, **न** = नहीं, **अस्ति** = है। **अत्र** = यहाँ, **एव** = ही, **अन्विच्छत** = खोजो (ढूँढ़ो), **इति** = ऐसा, **ते** = वे देवगण, **ह** = प्रसिद्ध वाक्य, **ऊचुः** = बोले। **तं** = उस यज्ञरूप विष्णु को, **खनन्तः** = भूमि को खोदते हुए, **इव** = की तरह, **अन्वीषुः** = खोजने लगे। **तं** = उसे, **त्र्यङ्गुले** = तीन अंगुल भूमि के नीचे, **अन्वविन्दन्** = प्राप्त किये। **तस्मात्** = इसलिए, **त्र्युङ्गुला** = तीन अंगुल नीचे, **वेदिः** = वेदी, **स्यात्** = होनी चाहिए। **ततः** = उसके बाद, **उ** = निश्चितरूप से, **पाञ्चिः** = पाञ्चि नामक ऋषि, **ह** = प्रसिद्ध रूप से, **सौम्यस्य** = सोम देवता के, **अध्वरस्य** = याग की, **अपि** = भी, **त्र्यङ्गुलाम्** = तीन अंगुल गहरी, **एव** = ही, **वेदिं** = वेदी को, **चक्रे** = बनाई थी।।9।।

रेणु-व्याख्या–जब यज्ञात्मक विष्णु ओषधियों के मूल में आश्रय लेकर छुप गये, तो देवगणों को इसकी अत्यधिक चिन्ता हुई कि, इसी विष्णु के सहारे हमलोगों ने असुरों से इतनी भूमि प्राप्त की थी, अब वही लापता हो गया तो फिर हमारा यज्ञ कैसे होगा? ऐसा विचार करते हुए–देवगण आश्चर्यचकित स्वर में–यह विष्णु शीघ्र कहाँ चला गया? यज्ञ शीघ्र कहाँ चला गया? ऐसा कहने लगे। क्योंकि दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर के छन्दों से तथा सामने (पूर्व में) अग्नि से अच्छी प्रकार घिरे हुए यज्ञ के पास निकलने का तो कोई मार्ग है नहीं, फिर कहाँ चला गया? फिर ज्ञानियों में श्रेष्ठ देवगणों ने कहा कि यहीं खोजो यहीं कहीं होगा। तब उस यज्ञरूप विष्णु को खोजने के लिए भूमि को खोदने की तरह खोजने लगे। तीन अंगुल नीचे खोदने के उपरान्त देवों ने यज्ञात्मक विष्णु को ढूँढ़ निकाला। इसलिए वेदी तीन अंगुल गहरी होनी चाहिए। उसके बाद पाञ्चि नामक ऋषि ने प्रसिद्ध सोमयाग की वेदी को भी तीन अंगुल गहरी ही बनाई थी।।9।।

[पक्षमिमं निषिध्य पक्षान्तरकथनम्]

1.2.5.10. तदु तथा न कुर्यात्। (दो) ओषधीनां वै स मूलान्युपाम्लोचत्तस्मादोषधीनामेव मूलान्युच्छेत्तवै ब्रूयाद्यन्वेवात्र व्विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद्वेदिर्नाम।।10।।

ऋजुपाठः—तदु तथा न कुर्यात्। ओषधीनां वै स मूलान्युपाम्लोचत्—तस्मात्—ओषधीनामेव मूलान्युच्छेत्तवै ब्रूयात्। यन्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दन्—तस्माद्वेदिर्नाम।।10।।

सा. भा.—तमिमं पक्षं निषिध्य पक्षान्तरमाह—**तदु तथेति**। 'सः' विष्णुरोषधीनां खलु मूलान्युपेत्यान्तर्हितोऽभवत्। तस्माद् यावति देशे भूम्यामन्तरोषधीनां मूलानि प्रसरन्ति, तावत्पर्यन्तं खात्वा तन्मूलान्येवोच्छेत्तुं ब्रूयात्। "तुमर्थे सेसेनः"—(पा.सू. 3. 4.9.)—इति तवैप्रत्ययः। पूर्वं कृत्स्नपृथिवीलाभहेतुतया वेदिनाम निरुक्तम्, यज्ञात्मकस्य विष्णोर्लाभाधिकरणतयापि तन्निर्वक्ति—**यन्वेवेति**।।10।।

अन्वयः—तत् उ तथा न कुर्यात्। सः (विष्णुः) ओषधीनां वै मूलानि उपाम्लोचत् तस्मात् ओषधीनां मूलानि एव उच्छेत्तवै ब्रूयात्। यत् अत्र नु एव विष्णुम् अन्वविन्दन् (देवाः) तस्मात् वेदिः नाम।।10।।

पदार्थः—**तत्** = यह (वेदि खनन) कार्य, **उ** = निश्चित रूप से, **तथा** = इस प्रकार (पूर्वोक्त), **न** = नहीं, **कुर्यात्** = करे। (क्योंकि), **स** = वह (विष्णु), **ओषधीनां** = औषधियों के, **वै** = ही (निश्चितरूपेण), **मूलानि** = मूल (जड़ों) को, **उपाम्लोचत्** = प्राप्तकर अदृश्य हुआ था, **तस्मात्** = इसलिए, **ओषधीनां** = औषधियों के, **मूलानि** = जड़ों तक, **एव** = ही, **उच्छेत्तवै** = उखाड़ने के लिए, **ब्रूयात्** = कहे। **यत्** = क्योंकि, **अत्र** = यहाँ, **नु** = शीघ्र, **एव** = ही, **विष्णुम्** = विष्णु (यज्ञरूप) को (देवों ने), **अन्वविन्दन्** = खोजने पर पाया था, **तस्मात्** = इसलिए, **वेदिः** = इसका वेदी, **नाम** = यह नाम पड़ा।।10।।

रेणु-व्याख्या—वेदी खनन के प्रथम प्रकार (तीन अंगुल गहरी खोदनी चाहिए) का खण्डन करते हुए यज्ञविज्ञान के परमसिद्ध आचार्य योगीश्वर याज्ञवल्क्य दूसरा प्रकार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—वेदि खनन की विधि जो पूर्व मन्त्र में प्रतिपादित है, सो ऐसा न करे। क्योंकि यज्ञरूप वह विष्णु औषधियों के मूल (जड़ों) को प्राप्त कर उसके अन्दर छुपकर अदृश्य हो गया था, इसलिए जहाँ तक औषधियों के मूल (जड़ जमीन के अन्दर) हों वहाँ तक निश्चितरूप से खोदने के लिए कहे। ऐसा न हो कि तीन अंगुल खोदने पर भी औषधिमूल भूमि के अन्दर अवशिष्ट ही रह जाएँ। चूँकि औषधि के मूल भाग में ही देवगणों ने उस यज्ञरूप विष्णु को ढूँढ निकाला था, इसलिए इसका नाम वेदी (विद्-लृ लाभे धातु से यज्ञलाभ किया, अतः) यह नाम इसका पड़ा है।

यहाँ 'उच्छैत्तवै' शब्द में 'तुमर्थे सेसेनः' (पा.सू. 3.4.9') सूत्र से 'तवै' प्रत्यय का विधान किया गया है। अतः अध्वर्यु आग्नीध्र को 'मूलान्युच्छैत्तवै' जड़ों को खोदने के लिए कहे यह भाव निहित है।।10।।

[उत्तरपरिग्रहः]

1.2.5.11.तमनुविद्योत्तरेण परिग्रहेण पर्यगृह्णन्। (न्त्सु) सुक्ष्मा चासि शिवा चासीति दक्षिणत ऽइमामेवैतत्पृथिवी ॐ संविद्य सुक्ष्मा ॐ शिवामकुर्व्वत स्योना चासि सुषदा चासीति पश्चादिमामेवैतत्पृथिवी ॐ संविद्य स्योना ॐ सुषदामकुर्व्वतो र्ज्जस्वती चासि पयस्वती चेत्युत्तरत ऽइमामेवैतत्पृथिवी ॐ संविद्य रसवतीमुपजीवनीयामकुर्व्वत।।11।।

ऋजुपाठः–तमनुविद्योत्तरेण परिग्रहेण पर्यगृह्णन्–"सुक्ष्मा चासि शिवा चासि"–(1 अ. 27 मं.) इति। दक्षिणत इमामेवैतत् पृथिवीं संविद्य सुक्ष्मां शिवामकुर्वत। "स्योना चासि सुषदा चासि"–(1 अ. 27 मं.) इति। पश्चादिमामेवैतत् पृथिवीं संविद्य स्योनां सुषदामकुर्वत। "ऊर्जस्वती चासि पयस्वती च"–(1 अ. 27 मं.) इति। उत्तरत इमामेवैतत् पृथिवीं संविद्य रसवतीमुपजीवनीयामकुर्वत।।11।।

सा.भा.–अथ वेदेरुत्तरपरिग्रहः कर्तव्य इतीतिहासमुखेन विधिमुन्नयति–तमित्यादिना। 'तम्' विष्णुम् 'अनुविद्य' लब्ध्वोत्तरपरिग्रहेण पर्यगृह्णन्। गायत्रेण त्वेत्यादिभिः प्राक् कृतः पूर्वपरिग्रहस्तदपेक्षयास्योत्तरत्वम्। तस्य स्वरूपमाह–**सूक्ष्मा चासीत्यादिना।** 'दक्षिणतः' वेदेर्दक्षिणस्यां दिशि "सुक्ष्मा चासि"–इति यजुषा स्फ्येन लेखया परिगृह्णीयात्। मन्त्रतात्पर्यमाह–**इमामिति।** एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। तृतीयमन्त्रे 'ऊर्क्'–शब्देन बलकरो रसो विवक्षित इति व्याचष्टे–**रसवतीमिति।** पयस्वतीत्यस्य व्याख्यानम्–**उपजीवनीयामिति।** पयस्विनी हि गौर्लोके–उपजीव्यते।।11।।

अन्वयः–तम् (विष्णुम्) अनुविद्य उत्तरेण परिग्रहेण 'सुक्ष्मा च असि, शिवा च असि' इति (मन्त्रेण) पर्यगृह्णन्। दक्षिणत एतत् संविद्य इमां पृथिवीं सुक्ष्मां शिवाम् अकुर्वत। स्योना च असि सुषदा च असि इति (मन्त्रेण) उत्तरत एतत् संविद्य इमां पृथिवीं रसवतीम् उपजीवनीयाम् अकुर्वत।।11।।

पदार्थः–**तं** = उस (विष्णु) को, **अनुविद्य** = खोजकर, **उत्तरेण** = दूसरे (बाद के), **परिग्रहेण** = घेरे से, **सुक्ष्मा** = शोभन सहनशीला भूमि, **च** = और,

असि = हो, **शिवा** = कल्याणदायिनी, **च** = और, **असि** = हो, **इति** = इस मन्त्र से, **पर्यगृह्णन्** = देवों ने घेरा। **दक्षिणत** = दक्षिण की ओर से, **एतत्** = इस, **संविद्य** = पृथिवी को पाकर, **इमां** = इस, **पृथिवीं** = पृथिवी को, **सूक्ष्मां** = क्षमाशीला, **शिवाम्** = कल्याणकारिणी, **अकुर्वत** = बना दिया। **स्योना** = सुखदात्री, **च** = और, **असि** = हो, **सुषदा** = अच्छी तरह बैठने योग्य, **च** = और, **असि** = हो, **इति** = इस, (मन्त्र से), **पश्चात्** = पश्चिम की ओर, **एतत्** = इसको, **संविद्य** = पाकर, **इमां** = इस, **पृथिवी** = पृथिवी को, **स्योनां** = सुखकारिणी, **सुषदाम्** = बैठने योग्य उत्तम आसन, **अकुर्वत** = बना दिया। **ऊर्जस्वती** = बलाधायक रस परिपूर्णा, **च** = और, **पयस्वती** = दुग्धपूर्ण रसवाली, **च** = और, **असि** = हो, **इति** = इस मन्त्र से, **उत्तरतः** = उत्तर की ओर, **एतत्** = इस पृथिवी को, **संविद्य** = प्राप्त कर, **इमां** = इस, **पृथिवीं** = पृथिवी को, **रसवतीम्** = रसों से परिपूर्ण, **उपजीवनीयाम्** = जीवन प्रदायक शक्ति से परिपूर्ण, **अकुर्वत** = बनाया।।11।।

रेणु-व्याख्या—इस प्रकार औषधि मूल में छुपे हुए उस यज्ञात्मक विष्णु को प्राप्त कर देवों ने दूसरे परिग्रह (घेरे) से उसे घेरा। दूसरा परिग्रह करते हुए देवगणों ने इन मन्त्रों का प्रयोग किया—1. "सुक्ष्मा चासि शिवा चासि इति दक्षिणतः।" (यजु. 1.27) तुम शोभन सहनशीला और कल्याणदायिनी भूमि हो यह मन्त्र पढ़कर दक्षिण से घेरा। इस घेरे के द्वारा उन्होंने इस पृथिवी को क्षमाशीला तथा कल्याणकारिणी बना दिया। 2. "स्योना चासि सुषदा चासीति पश्चात्"। (यजु. 1.27) तुम सुखप्रदात्री एवं अच्छी तरह बैठने योग्य को यह मन्त्र पढ़कर पश्चिम से घेरा। इस घेरे के द्वारा देवगणों ने इस पृथिवी को सुखकारिणी एवं बैठने के योग्य उत्तम आसन रूप बना दिया। 3. "ऊर्जस्वती चासि पयस्वती चेत्युत्तरतः" (यजु. 1.27) इस मन्त्र से उत्तर की ओर घेरा। इस घेरे के द्वारा इस भूमि को बलाधायक रससे परिपूर्ण एवं दूधयुक्त रसों से प्रपूर्ण बना दिया। इस प्रकार खोजकर प्राप्त किये हुए भूमि को देवों ने जीवनीशक्ति प्रदायक शक्ति से परिपूर्ण कर पोषण करने की योग्यता से सम्पन्न बना दिया।

फलतः आज यह पृथिवी समस्त संसार के उदरपूर्ति एवं पोषण करने की क्षमता से युक्त हो गई है। देवगणों के इस सत्प्रयास से ही यह पृथिवी शस्य श्यामला एवं अनेकविध रत्नों को अन्तर्गर्भ में निहित कर स्थित है। अतः हम सबों को चाहिए कि यज्ञ के माध्यम से इस पृथिवी की भलीभाँति सुरक्षा करें। पृथिवी को शान्त एवं प्रदूषण रहित बनाने का एक मात्र उपाय यज्ञ है। दूसरा कोई विकल्प नहीं है।।11।।

[पूर्वोत्तरपरिग्रहयोः षट्संख्यायाः प्रशंसनम्]

1.2.5.12. स वै त्रिः पूर्व्वं परिग्रहं परिगृह्णाति। त्रिरुत्तरं तत्षट्कृत्वः षड्वा ऽऋतवः संव्वत्सरस्य संव्वत्सरो यज्ञः। प्रजापतिः। स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत्परिगृह्णाति॥12॥

ऋजुपाठः—स वै त्रिः पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति, त्रिरुत्तरम्। तत् षट्कृत्वः, षड् वा ऋतवः संवत्सरस्य। संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः, स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत् परिगृह्णाति॥12॥

सा.भा.—पूर्वोत्तरपरिग्रहयोः संख्यां समुच्चित्य प्रशंसति—**स वा** इत्यादिना। षड्तुसमुदायात्मको यः संवत्सरः, तदात्मकः प्रजापतिः, संवत्सरकालभरणेन जातत्वादभेदोपचारः। आम्नास्यते ह्यग्रे बृहदारण्यके—"तमेतावन्तं कालमबिभर्यावान्त्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत"—(1.2.4.) इति। यज्ञश्चाऽऽश्रावयेत्यादिसप्तदशाक्षरसाध्यत्वात् "एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्तः"—(तै.सं. 1.6.11) इति श्रुतेः प्रजापत्यात्मकः। एवम् 'सः' यज्ञः 'यावान्' यत्परिमाणविशिष्टः, 'अस्य' च यज्ञस्य 'मात्रा' परिमाणं च यावत्, तत्परिमाणविशिष्टमेवैतं यज्ञं षट्सङ्ख्यासंपादनेन 'परिगृह्णाति' स्वीकरोतीत्यर्थः॥12॥

अन्वयः—सः त्रिः वै पूर्वं परिग्रहं त्रिः उत्तरं तत् षट्कृत्वः परिगृह्णाति। षड् वा संवत्सरस्य ऋतवः संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः। सः यावान् एव यज्ञो यावती अस्य मात्रा तावन्तम् एव एतत् परिगृह्णाति॥12॥

पदार्थः—**सः** = वह (अध्वर्यु), **त्रिः** = तीन बार, **वै** = ही, **पूर्वं** = पहले, **परिग्रहं** = परिग्रहण में, (तथा) **त्रिः** = तीन बार, **उत्तरं** = बाद के (दूसरे), परिग्रह में, **तत्** = इस प्रकार, **षट्कृत्वः** = छः रेखाओं से, **परिगृह्णाति** = परिग्रह (घेरा) करता है। **षट्** = छः, **वा** = ही, **संवत्सरस्य** = संवत्सर की, **ऋतवः** = ऋतुएँ होती हैं, **संवत्सरः** = संवत्सर, **यज्ञः** = यज्ञरूप है, **प्रजापतिः** = प्रजापति है। **सः** = वह (अध्वर्यु), **यावान्** = जितने परिमाणवाला, **एव** = ही, **यज्ञो** = यज्ञ है, **यावती** = जितने परिमाण की, **अस्य** = इसकी, **मात्रा** = भाग है, **तावन्तम्** = उतने (परिमाण तथा भाग) को, **एव** = ही, **एतत्** = इस क्रिया (परिग्रहण) द्वारा, **परिगृह्णाति** = घेरता है॥12॥

रेणु-व्याख्या—अब पूर्व परिग्रह एवं उत्तर परिग्रह में तीन-तीन रेखा द्वारा छः रेखाकरण की महत्ता के साथ उसके रहस्य की प्रशंसा करते हुए कर्मविज्ञान के

महान् वैज्ञानिक योगीश्वर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–वह जो अध्वर्यु तीन रेखा द्वारा तीन छन्दों से पूर्व परिग्रह एवं तीन रेखा द्वारा तीन यजु के अंश से उत्तर परिग्रह कर छः बार रेखाकरण द्वारा परिग्रह (घेरा) बनाता है, सो इसलिए कि एक संवत्सर (वर्ष) में छः ही ऋतुएँ होती हैं। यह संवत्सर रूप यज्ञ ही प्रजापति है। 'संवत्सरो वै प्रजापतिः' (श.प.ब्रा. 2.3.3.18), "स वै यज्ञ एव प्रजापतिः" (श.प.ब्रा. 1.7.4.4.) इन वाक्यों द्वारा संवत्सर एवं यज्ञ दोनों प्रजापत्यात्मक सिद्ध होते हैं। वह यज्ञ (प्रजापति) जितना बड़ा प्रमाण का है तथा जितनी उसकी मात्रा (भाग) है, उतनी रेखाओं का घेरा बनाता है, इस विषय का प्रतिपादन आगे के मन्त्रों में देखें।।12।।

[पूर्वोत्तरपरिग्रहयोर्द्वादश व्याहृतिभिः प्रशंसनम्]

1.2.5.13. षड्भिर्व्याहृतिभिः। पूर्व्वं परिग्रहं परिगृह्णाति षड्भिरुत्तरं तद्द्वादशकृत्वो द्वादश वै मासाः संव्वत्सरस्य संव्वत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत्परिगृह्णाति।।13।।

ऋजुपाठः–षड्भिर्व्याहृतिभिः पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति, षड्भिरुत्तरम्। तद् द्वादशकृत्वः। द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य, संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः। स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत् परिगृह्णाति।।13।।

सा.भा.–पूर्वोत्तरपरिग्रहयोर्मन्त्रावयवसंख्यामनूद्य समुच्चित्य प्रशंसति–**षड्भिरिति।** व्याह्रियन्त इति–व्याहृतयो मन्त्रावयवाः, ते च पूर्वपरिग्रहे षट्। गायत्रेण त्वेत्यादिकास्त्वान्तास्त्रयः, गृह्णाम्यन्तास्त्रयः उत्तरपरिग्रहे च सुक्ष्मा चासीत्येवमस्यन्ताः षड् व्याहृतयः स्पष्टाः। अन्यत् पूर्ववत्।।13

अन्वयः–षड्भिः व्याहृतिभिः पूर्वं परिग्रहं, षड्भिः उत्तरं तद् द्वादशकृत्वः परिगृह्णाति। द्वादश मासा वै संवत्सरस्य। संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः। यावान् एव यज्ञो, यावती अस्य मात्रा, स तावन्तम् एव एतत् परिगृह्णाति।।13।।

पदार्थः–**षड्भिः** = छः, **व्याहृतिभिः** = व्याहृतियों से, **पूर्वं** = पूर्व (पहले), **परिग्रहं** = परिग्रह (घेरा) को, **षड्भिः** = छः (व्याहृतियों) से, **उत्तरं** = उत्तर (बाद के परिग्रह) को, **तद्** = इस प्रकार, **द्वादशकृत्वः** = बारह बार (बारह आवृत्ति), **परिगृह्णाति** = परिग्रह (घेरता) करता है। **द्वादश** = बारह, **मासाः** = महीने, **वै** = ही, **संवत्सरस्य** = संवत्सर (वर्ष) के होते हैं, **संवत्सरो** = संवत्सर,

यज्ञः = यज्ञरूप, **प्रजापतिः** = प्रजापति (है), **यावान्** = जितना, **एव** = ही, **यज्ञो** = यज्ञ है, **यावती** = जितनी, **अस्य** = इसकी, **मात्रा** = परिमाण व मात्रा (भाग) है, **सः** = वह (अध्वर्यु), **तावन्तम्** = उतने परिमाण (मात्रा), **एव** = की ही, **एतत्** = यज्ञ की वेदी को, **परिगृह्णाति** = घेरा बनाकर परिगृहीत (स्वीकार) करता है।।13।।

रेणु-व्याख्या—इससे पूर्व मन्त्र में संवत्सर के छः ऋतुओं को अभिलक्षित कर तीन-तीन घेरे से युक्त दोनों परिग्रहों के स्वरूपों का प्रतिपादन करने के बाद अब मासों के क्रम से तीन घेरे में दो-दो व्याहृतियों के प्रयोग को समन्वित करते हुए याज्ञवल्क्य ऋषि दोनों परिग्रहों द्वारा बारह व्याहृतियों के समावेश से बारह मासों द्वारा संवत्सर रूप प्रजापति की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि—वह अध्वर्यु परिग्रह करता हुआ पूर्व परिग्रह के समय छः व्याहृतियों को पढ़ता है—(1. गायत्रेण त्वा, 2. छन्दसा परिगृह्णामि, 3. त्रैष्टुभेन त्वा, 4. छन्दसा परिगृह्णामि, 5. जागतेन त्वा, 6. छन्दसा परिगृह्णामि) यहाँ सायण कहते हैं कि "त्वान्तास्त्रयः गृह्णाम्यन्तास्त्रयः" इस प्रकार ये छः व्याहृतियों से पूर्व परिग्रह एवं छः व्याहृतियों को पढ़कर उत्तर परिग्रह करता है। (1. सुक्ष्मा चासि 2. शिवा चासि 3. स्योना चासि 4. सुषदा चासि 5. ऊर्जस्वती चासि 6. पयस्वती च) यहाँ सायण कहते हैं—"अस्यन्ताः षड् व्याहृतयः" इस प्रकार छः व्याहृतियों से उत्तर परिग्रह करता है। दोनों परिग्रहों में प्रयुक्त व्याहृतियों की संख्या बारह हो जाती हैं। एक संवत्सर (वर्ष) में बारह ही महीने होते हैं। यह संवत्सर रूप यज्ञ प्रजापति है, इसलिए जितने परिमाण वाला यह यज्ञ है तथा जितनी इसकी मात्रा है, उतने ही परिमाण व मात्रा वाली इस यज्ञवेदी को स्वीकार करता हुआ अध्वर्यु घेरा बनाकर परिगृहीत करता है।।13।।

[वेदिकरणपरिमाणकथनम्]

1.2.5.14. व्याममात्री पश्चात्स्यादित्याहुः। (रे) एतावान्वै पुरुषः पुरुषसम्मिता हि त्र्यरत्निः प्राची त्रिवृद्धि यज्ञो नात्र मात्रास्ति यावतीमेव स्वयं मनसा मन्येत तावतीं कुर्यात्।।14।।

ऋजुपाठः—व्याममात्री पश्चात् स्यादित्याहुः। एतावान् वै पुरुषः, पुरुषसम्मिता हि। त्र्यरत्निः प्राची। त्रिवृद्धि यज्ञः। नात्र मात्रास्ति, यावतीमेव स्वयं मनसा मन्येत तावतीं कुर्यात्।।14।।

सा.भा.–गार्हपत्याहवनीययोर्मध्ये सा वेदिरायामतो यजमानमात्री; सा च पश्चाद् विस्तृत्या चतुररत्निः, पुरस्तात् त्र्यरत्निः कार्येति विधत्ते–**व्याममात्रीति।** 'व्यामः' प्रसारितकरद्वयान्तराललक्षणः। 'पश्चात्' प्रत्यग्भागे–इत्यर्थः। **त्र्यरत्निः प्राचीति।** त्रिभिररत्निभिर्विस्तृता प्राग्भागे वेदिः कार्येत्यर्थः। **त्रिवृद्धीति।** सवनत्रयादिरूपेण यज्ञस्य त्रिवृत्त्वम्। पक्षान्तरमाह–**नात्रेति।** 'अत्र' वेद्यां परिमाणं नैवास्ति। 'यावतीम्' यत्परिमाणविशिष्टामेव वेदिं स्वयं मनसा हविरासादनादिकार्यपर्याप्तां मन्येत, तत्परिमाणविशिष्टां वेदिं कुर्यात्। कात्यायनोऽपीमं पक्षद्वयमसूत्रयत्–"त्र्यरत्नीं प्राचीमपरिमितां वा"(का.श्रौ.सू. 2. 150)–इति॥14॥

अन्वयः–(सा वेदिः) पश्चात् व्याममात्री स्यात् इति (ऋषयः) आहुः। हि एतावान् वै पुरुषः, (तस्मात्) पुरुषसम्मिता (वेदिः कार्या)। प्राची त्रि अरत्निः। हि यज्ञः त्रिवृत् (अस्ति)। अत्र मात्रा न अस्ति स्वयं मनसा यावतीं मन्येत तावतीम् एव कुर्यात्॥14॥

पदार्थः–(**सा वेदिः** = वह वेदी) **पश्चात्** = पश्चिम की ओर, **व्याममात्री** = व्याम (दोनों हाथों को फैलाकर एक हाथ की मध्यमा से दूसरे हाथ की मध्यमा तक लम्बी) परिमाण वाली, **स्यात्** = होनी चाहिए, **इति** = ऐसा (ऋषिगण), **आहुः** = कहते हैं। **हि** = क्योंकि, **एतावान्** = इतने परिमाण का, **वै** = ही (निश्चितरूप से), **पुरुषः** = पुरुष होता है (इसलिए), **पुरुषसम्मिता** = पुरुष प्रमाण की (वेदि बनाना अभीष्ट है)। **प्राची** = पूर्व की ओर, **त्रि** = तीन, **अरत्निः** = अरत्नि[1] (हस्त मात्रा की) परिमाण वाली होती है, **हि** = क्योंकि, **यज्ञः** = यज्ञ, **त्रिवृत्** = सवनत्रयादि रूप से तीन वर्तनियों वाला है। **अत्र** = यहाँ, **मात्रा** = कोई मात्रा, **न** = नहीं, **अस्ति** = है, **स्वयं** = अपने, **मनसा** = मन से, **यावतीं** = जितने परिमाण, **मन्येत** = उचित समझे, **तावतीं** = उतने परिमाण की, **एव** = ही, **कुर्यात्** = वेदी बनाये॥14॥

रेणु-व्याख्या–यहाँ प्रसंगानुसार महर्षि याज्ञवल्क्य गार्हपत्य एवं आहवनीय के मध्य जो वेदी का निर्माण किया जाता है उस संदर्भ में दो पक्षों को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि–**प्रथमपक्ष**–पश्चिम की ओर इस वेदी की चौड़ाई व्याममात्री

1. प्रकोष्ठे विस्तृतकरे हस्तो मुष्ट्या तु बद्धया। स रत्निः स्यादरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना॥ अमरकोशे-2/नृवर्ग/86
यवोयूका च लिक्षा च बालाग्रं चैवमादयः। कृतमुष्टिः करो रत्निररत्निःसकनिष्ठिकः॥ (किराता-18.6, वा.शि.आ.कोश-पृ. 41 कु.म.सि. श्लोक 4)

होनी चाहिए। व्याम परिमाण को स्पष्ट करते हुए शुल्बसूत्रकार भगवान् कात्यायन कहते हैं–"व्यामस्यात्र प्रमाणं तु चतुर्न्यूनं शताङ्गुलम्" (का.शु.सू. 7/26)। इसी मन्त्र के भाष्य में आचार्यसायण "व्यामः प्रसारितकरद्वयान्तराललक्षणः" कहते हैं। इन दोनों प्रमाणों के आधार पर दोनों हाथों को फैलाने के बाद एक हाथ की मध्यमा से दूसरे हाथ की मध्यमा तक का अन्तराल चार अरत्नि परिमित होता है। एक हस्त का परिमाण–चतुर्विंशाङ्गुलोऽरत्निः (का.शु.सू. 7/25) चौबीस अंगुल कहा गया है। फलतः व्याम में प्राप्त चार अरत्नि × 24 अंगुल = (4×24=96) चार अंगुल कम एक सौ अंगुल अर्थात् 96 (छियानवे) अंगुल सिद्ध होता है।

ऋषिगण कहते हैं कि पश्चिम की ओर 96 अंगुल वेदी की चौड़ाई होनी चाहिए। क्योंकि सामान्यतः पुरुष की लंबाई इतनी ही होती है। देवयाज्ञिक के मतानुसार "यजमानेनोर्ध्वबाहुना प्रपदोत्थितेन वा समं वंशं मिनुयात् स पुरुषः" (दे. या.प.पृ. 517., का श्रौ.सू. 16.4.24 सूत्र की पद्धति) अर्थात् यज्ञ का यजमान अपना दोनों हाथ ऊपर की ओर उठाकर पैर के अंगुलियों के बल खड़ा हो जाए और उसे अध्वर्यु एक बाँस से मापे जितनी ऊँचाई हाथ की अंगुलियों के अग्रभाग तक हो उतने मान को पुरुषमान माने। यह मान एक सौ बीस अंगुल अर्थात् पाँच अरत्नि का होगा ऐसा देवयाज्ञिक कहते हैं। यद्यपि 120 अंगुल प्रमाण ही पुरुष प्रमाण श्रौतशास्त्रों में स्वीकृत किए गए हैं। किन्तु सामान्यतः चार अरत्नि प्रमाण को भी पुरुष प्रमाण कहा गया है जिसका प्रमाण ऊपर प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार वेदी के पश्चिम भाग के चार अरत्नि विस्तृत एवं पूर्व भाग को तीन अरत्नि विस्तृत बनानी चाहिए, क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् अर्थात् तीन सवनों से युक्त होने के कारण तीन वर्तनियों वाला है, इसलिए। पश्चिमभाग श्रोणी एवं पूर्व का भाग अंस नाम से अभिहित होता है यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिए।

दूसरा पक्ष–वेदी निर्माणार्थ दूसरा पक्ष प्रस्तुत करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–वेदी के विस्तार की कोई मात्रा सुनिश्चित नहीं है। अतः जितना विस्तार अपने मन से उचित समझे उतना परिमाण स्वीकार कर वेदी निर्माण करे॥14॥

[वेद्यंसयोराहवनीयाग्निना सह स्पर्शविधानम्]

1.2.5.15. (द) अभितोऽग्निम थ्ठंसाऽ उन्नयति। योषा वै व्वेदिर्व्वृषाग्निः परिगृह्य वै योषा व्वृषाण थ्ठं शेते मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादभितोऽग्निम थ्ठं साऽ उन्नयति॥15॥

ऋजुपाठः—अभितोऽग्निमंसावुन्नयति। योषा वै वेदिः, वृषाग्निः। परिगृह्य वै योषा वृषाणं शेते। मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते। तस्मादभितोऽग्निमंसा उन्नयति॥15॥

सा.भा.—वेद्यंसयोराहवनीयस्य स्पर्शं विधत्ते—**अभित** इति। 'अग्निमभितः' आहवनीयस्य दक्षिणोत्तरपार्श्वयोर्वेद्यंसौ 'उन्नयति' ऊर्ध्वं प्रापयति। तदेतत् प्रशंसति—**योषा वा** इति। लोके कि योषित् पुमांसमंसाभ्यां परिष्वज्य शेते; अतो वेदेरप्यंसाभ्यामग्नेः परिष्वङ्गो युक्त इति भावः॥15॥

अन्वयः—अंसौ, अग्निम् अभितो उन्नयति। वेदिः वै योषा, अग्निः वृषा, योषा वृषाणं परिगृह्य वै शेते। एतत् मिथुनम् एव प्रजननं क्रियते। तस्मात् अग्निम् अभितो अंसौ उन्नयति॥15॥

पदार्थः—**अंसौ** = दोनों अंसों को, **अग्निम्** = अग्नि के, **अभितः** = दोनों ओर, **उन्नयति** = ऊपर उठाते हुए मिलाता है। (क्योंकि), **वेदिः** = वेदी, **वै** = ही, निश्चित रूप से, **योषा** = स्त्री (है), **अग्निः** = अग्नि, **वृषा** = पुरुष (है), **योषा** = स्त्री, **वृषाणं** = पुरुष को, **परिगृह्य** = भुजाओं से लपेटकर, **शेते** = सोती है। **एतत्** = ये दोनों, **मिथुनम्** = जोड़ा, **एव** = ही, **प्रजननं** = उत्पादन, **क्रियते** = करते हैं। **तस्मात्** = इसलिए, **अग्निम्** = अग्नि के, **अभितः** = दोनों ओर, **अंसौ** = दोनों अंसों (कन्धों) को, **उन्नयति** = ऊपर की ओर उठाकर मिलाता है॥15॥

रेणु-व्याख्या—वेदी के दोनों अंसों (कन्धों) को आहवनीय से स्पर्श कराने का निर्देश देते हुए ऋषि कहते हैं कि—वेदी के दोनों अंसों (कन्धों) को आहवनीय अग्नि के दोनों ओर ऊपर उठाते हुए मिलाता है। ऐसा क्यों किया जाता है? इस प्रश्न का समाधान देते हुए ऋषि कहते हैं कि—वेदी स्त्री है और अग्नि पुरुष है। लोक में ऐसा देखा जाता है कि स्त्री अपनी दोनों भुजाओं से पुरुष को लपेटकर सोती है। ये दोनों (स्त्री-पुरुष) जोड़े ही परस्परालापादि व्यवहार द्वारा पुत्र रूप में तीसरे को उत्पन्न करते हैं। यह यज्ञ भी अपूर्व (यागफल रूप) को उत्पन्न करता है। एतदर्थ अग्नि एवं वेदी को परस्पर संस्पृष्ट करने के उद्देश्य से वेदी की दोनों भुजाओं को अग्नि के दोनों ओर ऊपर उठाकर मिलाता है॥15॥

[यज्ञवेद्याः लौकिकस्त्रीसामान्येनोपपादनम्]

1.2.5.16. सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात्। (न्म) मध्ये सꣳह्वारिता पुनः पुरस्तादुर्व्येवमिव हि योषां प्रशꣳसन्ति पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तराꣳसा मध्ये संग्राह्येति जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्यः करोति॥16॥

ऋजुपाठः—सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात् मध्ये संह्वारिता, पुनः पुरस्तादुर्वी। एवमिव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिः, विमृष्टान्तरांसा, मध्ये संग्राह्येति। जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्यः करोति॥16॥

सा.भा.—"योषा वै"—इति सिद्धवदुक्तं स्त्रीत्वं लौकिकस्त्रीसामान्येनोपपाद्य प्रशंसति—**सा वा** इति। 'वरीयसी' उरुतरा, विस्तीर्णतरा। उक्तं हि "व्याममात्री पश्चात् स्यादिति"। मध्ये प्रत्यग्भागानन्तरभाविनि मध्यदेशे 'संह्वारिता' सङ्कुचिता। 'पुरः' पूर्वभागे 'उर्वी' विस्तीर्णा। त्र्यरत्निः प्राचीति विधानात्। एवं वेदिस्वरूपमभिधाय तत्साम्यं स्त्रियां योजयति **एवमिति। विमृष्टान्तरांसेति।** श्रोणितो विमृष्टं न्यूनमन्तरमवकाशो ययोस्तौ 'विमृष्टान्तरौ' तथाविधावंसौ यस्याः सा तथोक्ता। **संग्राह्येति**। मध्यदेशे हस्तेन संग्रहीतुं शक्या, कृशोदरीति यावत्। एवम् 'एनाम्' प्रशस्तयोषिदाकारां वेदिं कुर्वन् देवेभ्यः प्रियां करोति॥16॥

अन्वयः—सा (वेदिः) पश्चात् वरीयसी, मध्ये संह्वारिता (संकुचिता), पुनः पुरस्तात् उर्वी वै स्यात्। हि एवं योषाम् इव प्रशंसन्ति पृथु श्रोणिः विमृष्टा अन्तरा अंसा, मध्ये संग्राह्या इति। एनां (वेदिं प्रशस्तयोषित् आकारां कुर्वन्) एतत् देवेभ्यः जुष्टाम् एव करोति॥16॥

पदार्थः—**सा** = वह (वेदी), **पश्चात्** = पश्चिम की ओर, **वरीयसी** = बड़ी (चौड़ी), **मध्ये** = बीच में, **संह्वारिता** = संकुचित (सिकुड़ी हुई), **पुनः** = और **पुरस्तात्** = सामने (पूर्व की ओर), **उर्वी** = विस्तृत (उभरी हुई चौड़ी), **वै** = ही, **स्यात्** = होनी चाहिए। **एवं** = इस प्रकार की (स्वरूप वाली), **योषाम्** = स्त्री को, **इव** = स्त्री सदृश वेदी को, **प्रशंसन्ति** = सब लोग अच्छा समझते हैं। (प्रशंसा करते हैं, जो), **पृथु श्रोणी** = बड़ी (कटिप्रदेश) वाली, **विमृष्टा** = सुडौल, **अन्तरांसा** = कन्धों वाली, **मध्ये** = बीच में, **संग्राह्या** = पतली हो, **इति** = ऐसी स्त्री प्रशंसा के योग्य होती है। **एनां** = इस वेदी को, **एतत्** = इस प्रकार के स्वरूप वाली स्त्री सदृश को, **देवेभ्यः** = देवताओं के लिए, **जुष्टां** = प्रिय, **एव** = ही, **करोति** = बनाया जाता है॥16॥

रेणु-व्याख्या—यज्ञवेदी का लौकिक स्त्री से साम्यत्व को प्रतिपादित करते हुए योगर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वह वेदी पश्चिम की ओर चौड़ी, मध्य में संकुचित एवं सामने पूर्व की ओर विस्तृत ही होनी चाहिए। इस प्रकार युवती स्त्री के स्वरूप की सभी प्रशंसा करते हैं जो चौड़ी नितम्ब, संकुचित कमर तथा विस्तृत कन्धे से युक्त हो। इस प्रकार के स्त्री सदृश स्वरूप वाली वेदी

देवताओं को भी अत्यन्त प्रिय होती है। अतएव इस प्रकार ही वेदी निर्माण करता है।।16।।

[यज्ञवेद्याः प्राक्प्रवणत्वोदक्प्रवणत्वं वेति प्रतिपादनम्]

1.2.5.17. सा वै प्राक्प्रवणा स्यात्। (त्प्रा) प्राची हि देवानां दिगथो ऽउदक्प्रवणोदीची हि मनुष्याणां दिग्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहत्येषा वै दिक्पितृणाꣳसा यद्दक्षिणाप्रवणा स्यात्क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति तस्माद्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति पुरीषवतीं कुर्वीत पशवो वै पुरीषं पशुमतीमेवैनामेतत्कुरुते।।17।।

ऋजुपाठः–सा वै प्राक्प्रवणा स्यात्। प्राची हि देवानां दिक्। अथो उदक् प्रवणोदीची हि मनुष्याणां दिक्। दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहत्येषा वैदिक्पितृणां सा यद्दक्षिणप्रवणा स्यात् क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति तस्माद्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति। पुरीषवतीं कुर्वीत पशवो वै पुरीषं पशुमतीमेवैनाम् एतत् कुरुते।।7।।

सा.भा.–अथ सा वेदिः प्राक्प्रवणोदक्प्रवणा वा कार्येति विधत्ते–**सा वा** इति। 'प्राक्' प्राच्यां दिशि 'प्रवणम्' निम्नं यस्याः सा तथोक्ता। प्राच्या दिशो देवसम्बन्धित्वम्; दिग्विभजनसमये देवैरात्मीयतया स्वीकारात्। श्रूयते हि तैत्तिरीयके–"देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त प्राची देवाः"–(6.1.1.1.) इति। इमां प्रसिद्धिं द्योतयितुमत्र 'हि'–शब्दः। 'अथो'–इति पक्षान्तरं द्योत्यते। अत एव कात्यायनोऽपि पक्षद्वयमसूत्रयत्–"प्राक्प्रवणामुदग् वा"–(श्रौ.सू. 2.150) इति। आपस्तम्बस्तु प्रागुदगुक्तोपजीवनेन विकल्पमसूत्रयत्–"प्राक्प्रवणां प्रागुदक्प्रवणां वा"–(आ.श्रौ.. सू. 2.2.9.) इति। उदीच्या मनुष्यसम्बन्धः; शान्तरूपत्वात्। अतः एवान्यत्राम्नायते–"एषा वै देवमनुष्याणाꣳ शान्ता दिग्"–(तै.ब्रा. 2.1.3.5.) इति। वेदेर्दक्षिणभागस्य पांसुभिरौन्नत्यकरणं विधत्ते–**दक्षिणत** इति। 'पुरीषम्' खातं पांसुं 'प्रत्युदूहति' प्रतिक्षिपति। विहितमर्थमुपपादयितुं विपक्षे बाधमुपन्यस्यति–**एषा वा** इति। 'एषा' दक्षिण दिक् पितृणां स्वभूता। यथा च 'सा' वेदिर्यदि' 'दक्षिणप्रवणा स्यात्' दक्षिणतो निम्ना भवेत्, तदा तत्रासिक्तोदकवद् यजमानोऽपि दक्षिणतोऽवस्थितं पितृलोकम् 'क्षिप्रे' क्षिप्रम् 'इयात्' प्राप्नुयात्। प्राचीनप्रवणायां तु वेद्यां नैष दोष इत्याह–**तथो** हेति। तथा सति 'सः' यजमानः 'ज्योक्' चिरं जीवेत्। खाता

वेदिर्नाद्भिः श्लक्ष्णीकरणीया, किन्तु पांसुलैव कार्येति विधत्ते–**पुरीषवतीमिति।** तत् प्रशंसति–**पशवो वा** इति। पशुप्राप्तिहेतुत्वात् पुरीषस्य पशुत्वम्। 'पुरीषैः' पांसुभिः युक्तां वेदिं कुर्वन् पशुभिर्युक्तामेवैनां कुरुत इत्यर्थः।।17।।

अन्वयः–सा (वेदिः) प्राक्प्रवणा वै स्यात्। हि प्राची देवानां दिक् (अस्ति), अथ उदक्प्रवणा (स्यात्) हि उदीची मनुष्याणां दिक् (अस्ति)। (वेद्याः) दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति, एषा (दक्षिणा) दिक् पितृणां वै। सा (वेदिः) यत् दक्षिणा प्रवणा स्यात् (तर्हि) यजमानः इह क्षिप्रम् अमुं लोकम् इयात्। तथा (प्राक्प्रवणा उदक्प्रवणा वा यदि स्यात्) उ यजमानो ज्योक् ह जीवति। तस्मात् दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति। पुरीषवतीं (वेदिं) कुर्वीत, पुरीषं वै पशवः। एतत् (करणे सति) एनां पशुमतीम् एव कुरुते।।17।।

पदार्थः–**सा** = वह (वेदी), **प्राक्प्रवणा** = पूर्व की ओर ढालू, **वै** = ही, **स्यात्** = होनी चाहिए। **हि** = क्योंकि, **प्राची** = पूर्व दिशा, **देवानां** = देवताओं की, **दिक्** = दिशा है, **अथ** = अथवा, **उदक्प्रवणा** = उत्तर की ओर ढालू (होनी चाहिए), **हि** = क्योंकि, **उदीची** = उत्तर दिशा, **मनुष्याणां** = मनुष्यों की, **दिक्** = दिशा है। **दक्षिणत** = वेदी के दक्षिण भाग की ओर, **पुरीषं** = मिट्टी को, **प्रत्युदूहति** = उड़ेलता है। **एषा** = यह, (दक्षिण), **दिक्** = दिशा, **पितृणां** = पितरों की, **वै** = ही है। **सा** = वह (वेदी), **यत्** = यदि, **दक्षिणाप्रवणा** = दक्षिण की ओर ढालू, **स्यात्** = हो जाय तो, **यजमान** = यज्ञानुष्ठान कर्त्ता, **इह** = इस लोक से, **क्षिप्रं** = शीघ्र, **अमुं** = उस लोक, **लोकम्** = पितृ लोक की ओर, **इयात्** = चला जाएगा। **तथा** = वैसा (पूर्व एवं उत्तर में ढालू) होने से, **उ** = निश्चितरूप से, **यजमानो** = यजमान, **ज्योक्** = चिरकाल तक, **ह** = ही, **जीवति** = जीवित रहता है। **तस्मात्** = इसलिए, **दक्षिणतः** = दक्षिण की ओर, **पुरीषं** = मिट्टी को, **प्रत्युदूहति** = जमाकर उन्नत बना देती है। **पुरीषवतीं** = मिट्टी वाली वेदी ही (जल आदि से सेचन द्वारा उसे चिकना न करे), **कुर्वीत** = बनाये, **पुरीषं** = मिट्टी (पुरीष), **वै** = ही, **पशवः** = पशु रूप हैं। **एतत्** = इस प्रकार (पुरीष का पशुत्व जानकर), **एनां** = इस वेदी को, **पशुमतीम्** = पशुओं से सम्पन्न, **एव** = ही, **कुरुते** = करता है।।17।।

रेणु-व्याख्या–अब वेदी को पूर्व की ओर या उत्तर की ओर ढालान बनाने का सहेतुक निरूपण किया जा रहा है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–वह वेदी प्राक्प्रवण या उदक्प्रवण अर्थात् पूर्व की ओर झुकी हुई या उत्तर की ओर झुकी हुई होनी चाहिए। क्योंकि पूर्व दिशा देवों की दिशा है तथा उत्तर मनुष्यों की दिशा है। इसी हेतु को ध्यान में रखकर भारतीय स्मार्तानुष्ठान में भी पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर पूजा करने का विधान विहित है। आज भी यह यथारूप सनातन पद्धति एवं समाज में लागू है।

वेदी की दक्षिण दिशा में मिट्टी डालकर उसे और उन्नत बना देता है। इसका हेतु स्पष्ट करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–दक्षिण दिशा पितरों की दिशा है। यदि दक्षिण की ओर ढालान वाली वेदी बनाएगा तो यजमान शीघ्र ही पितृलोक की ओर प्रस्थान कर जाएगा अर्थात् अल्पायु हो जाएगा। इस कारण पूर्व या उत्तर की ओर ढालान वाली वेदी निर्माण करे। ऐसा करने से यजमान चिरकाल तक जीवित (दीर्घायु) होता है। इसलिए खोदी हुई मिट्टी को दक्षिण में जमाकर उसे ऊँचा कर देता है। फिर कहते हैं कि वेदी को पुरीषवती ही बनाए, पानी डालकर उसे चिकना न करें। क्योंकि पुरीष ही पशु है। इस प्रकार मिट्टीदार (पुरीषवती) वेदी बनाने से वह वेदी को पशुओं से सम्पन्न बनाता है। एकत्रित मिट्टी के समान पशु भी इकट्ठे हो जाते हैं। इस हेतु से ऐसा कहता है।।17।।

[वेदेर्मार्जनम्, चन्द्रलोके तत्स्थापनविषयकमितिहासकथनम्]

1.2.5.18. तां प्रतिमार्ष्टि। देवा ह वै संग्रामꣳसन्निधास्यन्तस्ते होचुर्हन्त यदस्यै पृथिव्या ऽअनामृतं देवयजनं तच्चन्द्रमसि निदधामहै स यदि न ऽइतोऽसुरा जयेयुस्तत ऽ एवार्च्चन्तः श्राम्यन्तः पुनरभिभवेमेति स यदस्यै पृथिव्याऽ अनामृतं देवयजनमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधात तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णं तस्मादाहुश्चन्द्रमस्यस्यै पृथिव्यै देवयजनमित्यपि ह वा ऽअस्यैतस्मिन्देवयजनऽइष्टं भवति तस्माद्वै प्रतिमार्ष्टि।।18।।

ऋजुपाठः–तां प्रतिमार्ष्टि। देवा ह वै संग्रामं सन्निधास्यन्तस्ते होचुः–हन्त यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनं तच्चन्द्रमसि निदधामहै। स यदि न इतोऽसुरा जयेयुः, तत एवार्चन्तः श्राम्यन्तः पुनरभिभवेमेति। स यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनमासीत्तच्चद्रमसि न्यदधत। तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णम्। तस्मादाहुः–चन्द्रमस्यस्यै पृथिव्यै देवयजनमिति। अपि ह वा अस्यैतस्मिन् देवयजन इष्टं भवति। तस्माद्वै प्रतिमार्ष्टि।।18।।

सा.भा.–"पुरा क्रूरस्य" इति मन्त्रेण यद्वेदेर्मार्जनम्, तद् विधत्ते–**तामिति**। एतत्प्रशंसार्थमितिहासमाह–**देवा** हेति। पुरा खलु देवा असुरैः सह योत्स्यमाना एवमवोचन्। किमिति–अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धि। 'अनामृतम्' आ समन्तान्मृतम्, सर्वदा नश्वरम् 'आमृतम्' तद्विपरीतम् 'अनामृतम्' सर्वदा बाधविधुरम्। ईदृग्विधं

यद् 'देवयजनम्' देवयागाधिकरणभूतं स्थानम्, तत् 'चन्द्रमसि' चन्द्रमण्डलमध्ये निक्षिपाम। 'सः'—इति व्यत्ययेनैकवचनम्। तेऽसुरा यदि 'नः' अस्मान् 'इतः' अस्मात् स्थानात्—जयेयुः तदा वयमेतत् स्थानं परित्यज्य 'तत एव' चन्द्रमसि निहिते तस्मिन् स्थान एव, पुनर्यज्ञं कुर्वाणास्तेन यज्ञेनासुरान् पुनरभिभवेमेति। ईदृग्विधोपायजनितहर्षद्योतको 'हन्तः'—शब्दः। एवं विचार्य तथैव देवैः कृतमिति दर्शयति—**स यदिति**। व्यत्ययेन पुँल्लिङ्गता। तद्यदस्याः पृथिव्याः सम्बन्धीत्यर्थः। 'न्यदधत' निहितवन्तो निक्षिप्तवन्त। 'तत् निहितं देवयजनम्' 'एतद्' इदानीं चन्द्रमसि कृष्णवर्णं सत् कलङ्कात्मकतया दृश्यते। उक्तेऽर्थे लोकप्रसिद्धिमुदाहरति—**तस्मादिति**। यस्मादेवं पृथिव्या अनामृतं देवयजनं चन्द्रमसि निक्षिप्तम्, तस्मादेव कारणादस्याः पृथिव्याः सम्बन्ध्युरीदितलक्षणं देवयजनं चन्द्रमसि विद्यत इत्यभिज्ञाः कथयन्तीत्यर्थः। यदीदृग्विधं देवयजनम्, एतस्मिन्नेव "पुरा क्रूरस्य"—इति मन्त्रेण प्रतिमार्जनं कुर्वतः 'अस्य' यजमानस्यापि यज्ञेनेष्टं भवतीत्यर्थः।।18।।

अन्वयः—तां (वेदिं) प्रतिमर्ष्टि (आग्नीध्रः)। संग्रामं सन्निधास्यन्तो ह देवा वै (पुरा आसन्), ते ह ऊचुः—हन्त! अस्यै पृथिव्यै यत् अनामृतं देवयजनम् (अस्ति) तत् चन्द्रमसि निदधामहै। सः (व्यत्ययेनैकवचनम्, ते) असुराः यदि नः इतो जयेयुः, तत एव (वयं) पुनः अर्चन्तः श्राम्यन्तः अभिभवेम इति (विचिन्त्य) सः (तत्) अस्यै पृथिव्यै यत् अनामृतं देवयजनम् आसीत् तत् चन्द्रमसि न्यदधत। तत् एतत् (देवयजनम् एव) चन्द्रमसि कृष्णं (कृष्णवर्णं सत् कलङ्कात्मकतया दृश्यते)। तस्मात् चन्द्रमसि अस्यै पृथिव्यै देवयजनम् इति (अभिज्ञाः) आहुः। अस्य (यजमानस्य) वा एतस्मिन् देवयजने ह इष्टं भवति। तस्मात् वै प्रतिमार्ष्टि।।18।।

पदार्थः—**तां** = उस (वेदी) को, **प्रतिमार्ष्टि** = मार्जन कर शुद्ध करता है (आग्नीध्र)। **संग्रामं** = युद्ध की, **सन्निधास्यन्तः** = तैयारी करने की कामनावाले, **ह** = प्रसिद्ध, **देवा** = देवगण, **वै** = निश्चित रूप से (पहले थे), **ते** = वे, **ह** = ही, **ऊचुः** = बोले, **हन्त!** = आइये (हर्षार्थकशब्द), **अस्यै** = इस, **पृथिव्यै** = पृथिवी का, **यत्** = जो, **अनामृतं** = अविनश्वर, **देवयजनं** = देवों के यजन योग्य (प्रशस्त भाग है), **तत्** = उस भूमि को, **चन्द्रमसि** = चन्द्रलोक में, **निदधामहै** = स्थापित कर दें। **सः** = वे, **असुराः** = असुरगण, **यदि** = यदि, **नः** = हमें, **इतः** = यहाँ से (पृथिवीलोक से), **जयेयुः** = जीत लें, **ततः** = तो, वहाँ से (चन्द्रलोक से), **एव** = ही (हम), **पुनः** = फिर से, **अर्चन्तः** = अर्चना करते हुए, **श्राम्यन्तः** = श्रम करते हुए, **अभिभवेम** = (असुरों को) जीत लेंगे, **इति**

= ऐसा विचार कर, **सः** = वह, **अस्यै** = इस, **पृथिव्यै** = पृथिवी का, **यत्** = जो, **अनामृतं** = अविनाशी, **देवयजनं** = देवयजन स्थान, **आसीत्** = था, **तत्** = उसे, **चन्द्रमसि** = चन्द्रलोक में, **न्यदधत** = स्थापित कर दिये। **तत्** = वह, **एतत्** = यह (देवयजन ही), **चन्द्रमसि** = चन्द्रमा में, **कृष्णं** = काला धब्बा रूप से (दिखता है)। **तस्मात्** = इसलिए, **चन्द्रमसि** = चन्द्रलोक में, **अस्यै** = इस, **पृथिव्यै** = पृथिवी का, **देवयजनं** = यज्ञ योग्य प्रशस्त भूमि है, **इति** = ऐसा (लोग), **आहुः** = कहते हैं। **अस्य** = इस यजमान का, **अपि** = भी, **वा** = निश्चितरूप से, **एतस्मिन्** = इस, **देवयजने** = यज्ञयोग्य भूमि में, **ह** = ही, **इष्टं** = इच्छानुरूप फलप्राप्ति, **भवति** = होती है। **तस्मात्** = इसलिए, **प्रतिमार्ष्टि** = वेदी को परिशोधित करता है।।18।।

रेणु-व्याख्या—पूर्वोक्त विधि से निष्पादित वेदी का आग्नीध्र परिशोधन करता है। यह परिशोधन क्यों किया जाय? इसका हेतु स्पष्ट करने के लिए महर्षि याज्ञवल्क्य एक ऐतिहासिक घटनाक्रम को प्रस्तुत करते हैं। ऋषि कहते हैं कि प्राचीनकाल में संग्रामप्रिय प्रसिद्ध असुरों के साथ देवगण जब युद्ध की तैयारी कर रहे थे, तब वे देवगण बोले, आइये! इस पृथिवी का जो अविनाशी देवताओं के यजनरूप प्रशस्तभाग है, उसे चन्द्रलोक में हमलोग स्थापित कर दें। क्योंकि असुर सदैव देवताओं के अंश को हड़पने में उद्यत रहते थे, इसलिए इसलिए देवों ने ऐसा विचार किया कि—यदि कालान्तर में असुरगण हम पर विजय प्राप्त कर हमें पृथिवी से भगा दिये तो हम चन्द्रलोक में स्थापित इस देवयजन योग्य अविनश्वर भूमि पर यज्ञ कर यज्ञानुष्ठान द्वारा यज्ञदेव की अर्चना और परिश्रम से पुनः असुरों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हो सकेंगे। ऐसा सोचकर देवों ने पृथ्वी का जो वह पवित्र अविनश्वर एवं देवयजन योग्य अंश था उसे चन्द्रलोक में स्थापित कर दिया।

इस सन्दर्भ में लोकप्रसिद्धि को उद्धृत करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—चन्द्रमा में जो काले धब्बे दिखाई देते हैं, वह देवयजन भूमि का ही प्रतिबिम्ब है। क्योंकि देवताओं ने पवित्र एवं अविनश्वर यज्ञयोग्य स्थान को चन्द्रमा में स्थापित किया था, इसीलिए अभियुक्तों का यह कहना है कि पृथ्वी सम्बन्धी वह अंश देवयजनी के रूप में चन्द्रमा में (प्रतिबिम्बित) दृश्य हो रहा है। अतः चन्द्रलोक में इस पृथ्वी का यज्ञ योग्य स्थान है, यह सर्वथा सिद्ध हुआ।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी इस बात की पुष्टि की है कि चन्द्रलोक में जीवन है, यह संभावना नासा के वैज्ञानिकों ने भी व्यक्त की है। इससे यह स्पष्ट होता है कि याज्ञवल्क्य परम वैज्ञानिक थे तथा उन्होंने जो अपनी शोधपूर्ण दृष्टि इस

शतपथब्राह्मण में दी है, यह हमलोगों के लिए स्तुत्य एवं अनुकरणीय है। देवताओं का यज्ञ इसी पृथ्वी पर उसी वेदी के सादृश्य स्थान में जो इस यजमान के द्वारा किया जाता है, उससे यजमान अपने इष्टफल को प्राप्त करता है। अतः आग्नीध्र वेदी को पूर्व से पश्चिम की ओर परिशोधन करने हेतु मार्जन करता है।।18।।

[वेदेर्मार्जनाय विहितं मन्त्रमुपवर्णनप्रसङ्गेन पार्थिवजीवतत्त्वस्य चन्द्रमसि स्थापनवर्णनम्]

1.2.5.19. स प्रतिमार्ष्टि। पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्निति संग्रामो वै क्रूरꣳ संग्रामे हि क्रूरं क्रियते हतः पुरुषो हतोऽश्वः शेते पुरा ह्येतत्संग्रामान्न्यदधत तस्मादाह पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नित्युदादाय पृथिवीं जीवनदानुमित्युदादाय हि यदस्यै पृथिव्यै जीवमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधात तस्मादाहोदादाय पृथिवीं जीवदानुमिति यामैरयꣳश्चन्द्रमसि स्वधाभिरिति यां चन्द्रमसि ब्रह्मणादधुरित्येवैतदाह तामु धीरासो ऽअनुदिश्य यजन्त ऽइत्येतेनो ह तामनुदिश्य यजन्तेऽपि ह वा ऽअस्यैतस्मिन्देवयजन ऽइष्टं भवति य ऽएवमेतद्वेद।।19।।

ऋजुपाठः–स प्रतिमार्ष्टि–"पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्"–(1 अ. 28 मं.) इति। संग्रामो वै क्रूरम्। संग्रामे हि क्रूरं क्रियते–हतः पुरुषः, हतोऽश्वः शेते। पुरा ह्येतत्संग्रामान्न्यदधत। तस्मादाह–पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्निति। "उदादाय पृथिवीं जीवदानुम्"–(1 अ. 28 मं.) इति। उदादाय हि यदस्यै पृथिव्यै जीवमासीत्, तच्चन्द्रमसि न्यदधत। तस्मादाह–उदादाय पृथिवीं जीवदानुमिति। "यामैरयꣳश्चन्द्रमसि स्वधाभिः"–(1 अ. 28 मं.) इति। यां चन्द्रमसि ब्रह्मणादधुरित्येवैतदाह–"तामु धीरासोऽअनुदिश्य यजन्ते"–(1 अ. 28 मं.) इति। एतेनो ह तामनुदिश्य यजन्ते। अपि ह वा अस्यैतस्मिन् देवयजन इष्टं भवति–**य एवमेतद्वेद**।।19।।

सा.भा.–विहितं प्रतिमार्जनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते–**स** इति। मन्त्रगतक्रूरपदस्यार्थमाह–**संग्रामो वै क्रूरमिति**। कथं संग्रामस्य क्रूरशब्दाभिधेयतेत्याशङ्क्योपपादयति–**संग्रामे हीति**। क्रूरकरणमपि कथं संग्रामे विद्यत इत्यत आह–**हतः पुरुष** इति। पुरुषाश्वादेश्चतुरङ्गबलस्य तत्र हननलक्षणात् क्रूरकरणात् तदधिकरणभूतः सङ्ग्रामोऽप्यत्र क्रूरशब्देन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। पदार्थमुक्त्वा

वाक्यार्थमुपपादयति–**पुरा हीति।** 'क्रुरस्य' संग्रामस्य 'विसृपः' विसर्पणादागमनात्पुरेति मन्त्रवाक्यार्थ इत्यभिप्रायः। मन्त्रस्य द्वितीयं भागमनूद्य 'जीवदानु'–पदस्य विवक्षितमर्थं दर्शयन् व्याचष्टे–**उदादायेति।** अस्याः पृथिव्याः 'जीवम्'–जीवनरूपं जीवात्मभूतं वा यदनामृतं देवयजनमासीत्, तदित्यर्थः। तथा च 'जीवदानुम्' जीवनप्रदां जीवभूतां पृथिवीमिति मन्त्रपदाभिप्रायो वर्णितो भवति। वैयाकरणास्तु "जीवे रदानुक्" इति जीरदानुपदं व्युत्पादयन्ति। तथैव तैत्तिरीयकैराम्नातम्। मन्त्रस्य भागान्तरमनूद्य व्याचष्टे–**यामिति।** 'ब्रह्मणा' मन्त्रेण। एतच्च स्वधाभिरित्यस्य व्याख्यानम्। मन्त्रस्यान्तिमं भागमनूद्य व्याचष्टे–**तामिति।** 'एतेन' इदानीन्तनेन देवयजनेन, 'ताम्' चन्द्रमस्यवस्थिताम्, अनामृतां पृथिवीम् 'अनुदिश्य' तदेवमिति तादात्म्येनानुसन्धायेत्यर्थः। एतद्वेदनं प्रशंसति–**अपि हेति।**।19।।

अन्वयः–सः 'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्' इति (मन्त्रेण) प्रतिमार्ष्टि। संग्रामो वै क्रूरम् हि संग्रामे हतः पुरुषः हतः अश्वः शेते (इत्यादिकं) क्रूरं क्रियते। हि (देवाः) संग्रामात् पुरा एतत् न्यदधत तस्मात् 'विरप्शिन् क्रूरस्य विसृपो पुरा' इति आह। पृथिवीं उदादाय, जीवदानुम् उदादाय इति (यजु. 1.28 वदति)। हि अस्यै पृथिव्यै यत् जीवम् आसीत् तत् चन्द्रमसि न्यदधत। तस्मात् उदादाय पृथिवीं जीवदानुम् इति आह। 'यामैरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिः' इति (यजु. 1.28 मन्त्रकथनेन) यां चन्द्रमसि ब्रह्मणा अदधुः इति ताम् उ धीरासः अनुदिश्य यजन्ते इति एव एतत् आह। एतेन उ तां ह अनुदिश्य यजन्ते। अपि वा अस्य (यजमानस्य) एतस्मिन् देवयजने ह इष्टं भवति यः एतत् एवं वेद।।19।।

पदार्थः–**सः** = वह (आग्नीध्र), **पुरा** = पहले, **क्रूरस्य** = क्रूरकर्म संग्राम के, **विसृपः**[1] = आगमन से, **विरप्शिन्**[2] = हे विशिष्ट शब्द करने वाले शक्तिमान् विष्णु! **इति** = इस मन्त्रांश को पढ़कर, **प्रतिमार्ष्टि** = वेदी को परिशोधित करता है। **संग्रामो** = युद्ध, **वै** = निश्चितरूप से, **क्रूरम्** = क्रूरकर्म का द्योतक है। **हि** = क्योंकि, **संग्रामे** = युद्ध में, **हतः** = मरा हुआ, **पुरुषः** = मनुष्यादि, **हतः** = मरा हुआ, **अश्वः** = अश्वादि, **शेते** = रहता है, (इत्यादि) **क्रूरं** = अनेक क्रूरतापूर्ण कर्म, **क्रियते** = किये जाते हैं। **हि** = क्योंकि (देवों ने), **संग्रामात्** = संग्राम (युद्ध) से, **पुरा** = पहले ही, **एतत्** = इस (पार्थिव जीवनीय भाग) को, **न्यदधत** = (चन्द्रलोक में) रख दिया था। **तस्मात्** = इसलिए, **विरप्शिन्** = हे विष्णु! **क्रूरस्य** = क्रूर संग्राम के, **विसृपः** = आगमन से, **पुरा** = पहले,

---

1. विविधं सर्पन्ति योद्धारोऽस्मिन्निति विसृपः। इत्याह उव्वटः 11.28 मन्त्रभाष्ये।
2. विविधं रपति वेदत्रयरूपेण शब्दं करोतीति विरप्शी। यज्ञो वेदित्वं प्राप्तो विष्णुः सम्बोध्यते। इति महीधरः शुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनसंहितायां 1.28 मन्त्रभाष्ये।

इति = ऐसा मन्त्रवाक्य, **आह** = बोलता है। **पृथिवीं** = पृथिवी को, **उदादाय** = उठाकर, **जीवदानुम्** = जीवनी शक्ति प्रदाता को, **उदादाय** = उठाकर, **इति** = ऐसा (यजु. 1.28) बोलता है। **हि** = क्योंकि, **अस्यै** = इस, **पृथिव्यै** = पृथिवी का, **यत्** = जो, **जीवम्** = जीवनीय शक्तिवाला भाग, **आसीत्** = था, **तत्** = वह, **चन्द्रमसि** = चन्द्रलोक में, **न्यदधत** = (देवों ने) रख दिया था, **तस्मात्** = इसलिए, **उदादाय** = उठा-उठाकर, **पृथिवीं** = पृथिवी को, **जीवदानुम्** = जीवनप्रदात्री को, **इति** = ऐसा, **आह** = कहता है। **याम्** = जिसको, **ऐरयन्** = प्राप्त कराया या स्थापित किया, **चन्द्रमसि** = चन्द्रलोक में, **स्वधाभिः** = अन्नादि द्वारा, **इति** = इस (यजु. 1.28) मन्त्रांश द्वारा, **यां** = जिसको, **चन्द्रमसि** = चन्द्रलोक में, **ब्रह्मणा** = मन्त्रज्ञानपूर्वक अनुष्ठान द्वारा (कर्मकाण्ड द्वारा), **अदधुः** = रखा, **इति** = ऐसा कहता है। **ताम्** = उसे, **उ** = भी, **धीरासः** = विद्वान् लोग, **अनुदिश्य** = उद्दिष्ट करके, **यजन्ते** = यज्ञ करते हैं। **इति** = ऐसा, **एव** = ही, **एतत्** = यह, **आह** = कहता है। **एतेन** = इस कथन द्वारा, **उ** = निश्चित रूप से, **तां** = उसको, **ह** = ही, **अनुदिश्य** = लक्षित करके, **यजन्ते** = यज्ञ करते हैं। **अपि** = और, **वा** = भी, **अस्य** = इस (यजमान) की, **एतस्मिन्** = इस, **देवयजने** = यज्ञयोग्य भूमि में, **ह** = निश्चित रूप से, **इष्टं** = यागफलादि भाव अभीप्सा, **भवति** = पूर्ण होती है। **य** = जो, **एतत्** = इस तथ्य को, **एवं** = इस प्रकार, **वेद** = जानता है।।19।।

रेणु-व्याख्या—अब वेदी के सम्मार्जनार्थ प्रयुक्त मन्त्रार्थ पर विचार करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—वह आग्नीध्र वेदी को पूर्व से पश्चिम की ओर परिमार्जित करता हुआ यह मन्त्रांश 'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम्। यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामुधीरासो अनुदिश्य यजन्ते।' (यजु. 1.28) पढ़ता है।

मन्त्र में प्रयुक्त विरप्शिन् शब्द विष्णु का वाचक है। वह उस विशिष्ट शब्द करनेवाले शक्तिमान् विष्णु को सम्बोधित करता हुआ आग्नीध्र कहता है—हे विरप्शिन्। युद्ध में योद्धागण इधर-उधर घूमते हैं। ऐसे युद्ध के आगमन से पहले देवगणों ने इस जीवनी शक्तिवाली देवयजनी पृथिवी के उस अविनाशी भाग को चन्द्रलोक में स्थापित कर दिया था। इस भाव का स्मरण करता हुआ आग्नीध्र वेदी का परिशोधन करता है। वस्तुतः संग्राम (युद्ध) निश्चितरूप से क्रूर कर्म का द्योतक है। क्योंकि युद्ध में मरे हुए मानवादि एवं मरे हुए अश्वादि भूमि पर सोये हुए (धराशायी) दृष्ट होते हैं। इस प्रकार युद्ध में क्रूरतापूर्ण कर्म किए जाते हैं। यह क्रूर कर्म असल्लक्षण का प्रतीक है, जबकि देवयजन जीवनीशक्ति प्रदान करने में समर्थ है। यदि जीवनी शक्तियुक्त भूमि पर युद्ध

हुआ तो वे असुर पुनः जीवित हो जाएँगे। अतएव देवों ने युद्ध से पहले इस भाग को चन्द्रलोक में स्थापित कर दिया था। इस बात को स्पष्ट करता हुआ आग्नीध्र कहता है–क्योंकि इस जीवनी शक्तिप्रदान करने में समर्थ पृथिवी के उस भाग को ऊपर उठाकर देवों ने युद्ध के आगमन से पहले ही चन्द्रलोक में रख दिया था, इसलिए 'जीवनप्रदात्री पृथिवी को ऊपर उठाकर चन्द्रलोक में देवगणों ने रख दिया' ऐसा कहता है।

अब पुनः कहता है कि पृथिवी के उस संजीवनी शक्ति सम्पन्न भाग को जो देवों ने मन्त्रज्ञानपूर्वक कर्मकाण्ड (अनुष्ठान) द्वारा चन्द्रलोक में रखा, उस भूमिभाग को ही उद्दिष्ट (लक्षित) करके विद्वज्जन यज्ञानुष्ठान करते हैं। इस कथन द्वारा वर्त्तमान भूमि पर देवयजन स्थान को तद्रूप सिद्ध करता हुआ आग्नीध्र यह बता देना चाहता है कि–इस (मनुष्य) यजमान की भी समस्त यागफलादि रूप अभिलाषाएँ उस देवयजन भूमि पर अनुष्ठान द्वारा निश्चित रूप से पूर्ण होती है। जो भी मनुष्य (यजमान) इस रहस्य को इस प्रकार जानकर यज्ञ करता है, उसकी सभी कामनाएँ अवश्य पूर्ण होती है।।19।।

[प्रोक्षणीपात्रस्य वेद्यामासादनम्]

1.2.5.20. (दा) अथाह प्रोक्षणीरासादयेति। व्वज्रो वै स्फ्यो ब्राह्मणश्चेमं पुरा यज्ञमभ्यजूगुपतां व्वज्रो वा ऽआपस्तद्वज्रमेवैतदभिगुप्त्या ऽआसादयति स वा ऽउपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्य्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छत्यथ यन्निहित ऽएव स्फ्ये प्रोक्षणीरासादयेद्वज्रौ ह समृच्छेयातां तथो ह व्वज्रौ न समृच्छेते तस्मादुपर्युपर्य्येव प्रोक्षणीषु धार्य्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति।।20।।

ऋजुपाठः–अथाह–"प्रोक्षणीरासादय"–(1 अ. 28 मं.) इति। वज्रो वै स्फ्यः, ब्राह्मणश्च; इमं पुरा यज्ञमभ्यजूगुपताम्। वज्रो वा आपः। तद् वज्रमेवैतदभिगुप्त्यै–आसादयति। स वा उपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति। अथ यन्निहित एव स्फ्ये प्रोक्षणीरासादयेद्–वज्रौ ह समृच्छेयाताम्। तथो ह वज्रौ न समृच्छेते। तस्मादुपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति।।20।।

सा.भा.–वेदिकरणानन्तरं कर्त्तव्यं विधत्ते–**अथेति**। प्रोक्षणीरासादयेत्यादिकं संप्रैषं ब्रूयादित्यर्थः। प्रोक्षत्याभिरिति 'प्रोक्षण्यः' आपः; तासामासादनं यज्ञरक्षार्थमिति व्याचष्टे–**वज्रो वा** इति। स्फ्यस्तावद् वज्रः; तदंशपरिणामरूपत्वात्। तथैव

प्रागाम्नातम्–"तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद् वा"–इति। (का. 1 प्र. 2 ब्रा. 2 कं. 1)। ब्राह्मणोऽपि वज्रात्मकः; तद्वन्मन्त्रसामर्थ्येन रक्षसां हन्तृत्वात्। तौ खलु पुरेमं यज्ञम् 'अभ्यजूगुपताम्' अभितोऽरक्षिष्टाम्। "गुपू रक्षणे" (भ्वा.प. 395) इत्यस्माल्लुङि, "गुपेश्छन्दसि"–(पा.सू. 3.1.50) इति चङि रूपम्। तत्र हि "आयादय आर्धधातुके वा" (पा.सू. 3.1.31)–इत्याय-प्रत्ययो विकल्प्यते। **वज्रो वा** इत्यादि। "तस्माद् येनैता यन्ति निम्नं कुर्वन्ति" इत्यपां वज्रत्वं प्रागेव (का. 1 प्र. 1 ब्रा. 1 कं. 17) श्रुत्या प्रतिपादितम्। वज्ररूपाणां तासामासादनं यज्ञस्याभितो रक्षायै सम्पद्यत इत्यर्थः। प्रोक्षणीनामासादनसमये–आग्नीध्रकर्तृकं स्फ्यस्योद्यमनं विधत्ते–**स वा** इति। "उपर्यध्यधसः सामीप्ये"–(पा.सू. 8.1.7)–इत्युपरिशब्दस्य द्विर्वचनम्। 'उपर्युपरि' समीपे–उपरि देशे। आसाद्यमानासु 'प्रोक्षणीषु' 'धार्यमाणासु' सतीषु 'अथ' अनन्तरमासादनसमकालमेवाग्नीध्रः, स्फ्यम् 'उद्यच्छति' विपक्षे बाधमाह–**अथ यदिति।** उद्यमनमकृत्वा पूर्वं वेदिमध्ये निहितस्य स्फ्यस्योपरि सादने स्फ्याब्लक्षणौ 'वज्रौ' सङ्गतौ भवेताम्। तथा च वज्रद्वयसंगमाद् यजमानस्य बाधः स्यादित्याशयः। "समो गम्यृच्छिभ्याम्"–(पा.सू. 1.3.29)–इत्यात्मनेपदम्। अस्य दोषस्याभावं स्वपक्षे दर्शयति–**तथो हेति।** 'तथो' तथा च स्फ्यस्य वेदेः सकाशादुद्यमने सतीत्यर्थः। 'तस्मादिति' प्रतिपादितार्थनिगमनम्।।20।।

अन्वयः– अथ 'प्रोक्षणीः आसादय' (यजु. 1.28) इति आह। वज्रो वै स्फ्यः, ब्राह्मणश्च (तावुभौ) पुरा इमं यज्ञम् अभ्यजूगुपताम्। वज्रो वा आपः, तत् वज्रम् एव आसादयति एतत् अभिगुप्त्यै। सः (आग्नीध्रः) वा उपरि उपरि एव धार्यमाणासु प्रोक्षणीषु अथ स्फ्यम् उद्यच्छति। यत् निहिते स्फ्ये एव प्रोक्षणीः आसादयेत् अथ वज्रौ ह समृच्छेयाताम्। तस्मात् उपरि उपरि एव धार्यमाणासु प्रोक्षणीषु अथ स्फ्यम् उद्यच्छति, तथा उ वज्रौ न समृच्छेते।।20।।

पदार्थः–**अथ** = वेदि परिशोधन के उपरान्त, **प्रोक्षणीः** = प्रोक्षणी के जल को, **आसादय** = वेदी पर रखो, **इति** = ऐसा, **आह** = (अध्वर्यु प्रैषपूर्वक) कहता है। **वज्रो** = वज्र, **वै** = निश्चित रूप से, **स्फ्यः** = स्फ्य है, **ब्राह्मणः** = ब्राह्मण, **च** = और स्फ्य (ये दोनों) ने, **पुरा** = पहले (प्राचीनकाल में), **इमं** = इस, **यज्ञं** = यज्ञ को, **अभ्यजूगुपताम्** = रक्षाकर बचाया था। **वज्रो** = वज्र, **वा** = निश्चित रूप से, **आपः** = (प्रोक्षणी का) जल है, **तत्** = वह, **वज्रं** = वज्र को, **एव** = ही, **आसादयति** = रखता है, **एतत्** = इस यज्ञ की, **अभिगुप्त्यै** = रक्षा के लिए। **सः** = वह (आग्नीध्र), **वा** = निश्चित रूप से, **उपरि** = ऊपर, **उपरि** = ऊपर, **एव** = ही, **धार्यमाणासु** = रखे रहने पर (उठाये रहने पर), **प्रोक्षणीषु** = प्रोक्षणीपात्र

के जलों को, **अथ** = ही, **स्फ्यम्** = स्फ्य को, **उद्यच्छति** = उठा लेता है। **यत्** = यदि, **निहिते** = नीचे रखे हुए, **स्फ्ये** = स्फ्य पर, **एव** = ही, **प्रोक्षणीः** = प्रोक्षणीपात्र को, **आसादयेत्** = रख दे, **अथ** = तो, **वज्रौ** = दोनों वज्र आपस में, **ह** = निश्चितरूप से, **समृच्छेयाताम्** = टकरा जाएँगे। **तस्मात्** = इसलिए, **उपरि** = ऊपर, **उपरि** = ऊपर, **एव** = ही, **धार्यमाणासु** = धारण किये रहने पर, **प्रोक्षणीषु** = प्रोक्षणीपात्र को, **अथ** = तभी (तत्काल ही), **स्फ्यम्** = स्फ्य को, **उद्यच्छति** = उठा लेता है, **तथा** = इस विधि से, **उ** = ही, (प्रोक्षणी के आसादन करने पर), **वज्रौ** = दोनों वज्र परस्पर, **न** = नहीं, **समृच्छेते** = टकराते हैं।।20।।

रेणु-व्याख्या—समन्त्रक वेदी परिशोधन एवं इतिहास कथनादि के उपरान्त अध्वर्यु द्वारा प्रैष (निर्देश) दिये जाने पर आग्नीध्र द्वारा प्रोक्षणी के जल को वेदी पर रखे जाने का विधान बतलाते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—अध्वर्यु 'प्रोक्षणीरासादय' (यजु. 1.28) मन्त्रांश द्वारा आग्नीध्र को वेदी पर प्रोक्षणी पात्र रखने का आदेश (प्रैष) देते हुए कहता है—'प्रोक्षणी को आसादित करो।' प्रोक्षणी पात्र का जहाँ स्थापन किया जाएगा वहाँ पहले से स्फ्य रखा रहता है। तो विचार करते हैं कि स्फ्य भी वज्ररूप है, स्फ्य रूप वज्र एवं ब्राह्मण इन दोनों ने इस यज्ञ की रक्षा प्राचीनकाल में की थी। प्रोक्षणी में जो जल है वह भी वज्ररूप ही है। जल के स्थापन द्वारा वज्र को ही स्थापित करता है ऐसा समझना चाहिए। इसलिए एक हाथ से प्रोक्षणी पात्र को ऊपर-ऊपर थामे रहता है तथा दूसरे हाथ से वज्र हटा लेता है। इस प्रकार स्फ्य रूप वज्र को हटा लेने के उपरान्त प्रोक्षणीपात्रस्थ जलरूप वज्र को वेदी पर स्थापित करता है। यदि स्फ्य के नीचे रहते ही उसपर प्रोक्षणी रख देगा तो ये दोनों वज्र आपस में टकरा जाएँगे। दो वज्रों के टकराने से जो अनिष्ट सम्भावित है उसकी कल्पना भी यहाँ नहीं की जा सकती है। अतः दोनों वज्र आपस में न टकराएँ इस रहस्य को समझते हुए प्रोक्षणीस्थ जल को ऊपर ही ऊपर रखे हुए नीचे से स्फ्य हटाकर ही प्रोक्षणी निधान करता है। ऐसा करने से दोनों वज्र आपस में नहीं टकराते हैं तथा सब प्रकार के अनिष्टों से यज्ञ सुरक्षित रहता है।।20।।

[प्रोक्षण्यासादनादिकमाग्नीध्रेण कारयितुमध्वर्योः प्रैषः]

1.2.5.21. (त्य) अथैतां व्वाचं व्वदति। प्रोक्षणीरासादयेध्मं बर्हिरुपसादय स्रुचः सम्मृड्ढि पत्नी थंसन्नह्याज्येनोदेहीति सम्प्रैषऽएवैष स यदि कामयेत ब्रूयादेतद्यद्यु कामयेतापि नाद्रियेत स्वयमु ह्येवैतद्वेदेदमतः कर्म कर्त्तव्यमिति।।21।।

ऋजुपाठः—अथैतां वाचं वदति—प्रोक्षणीरासादय, (1 अ. 28 मं.) इध्मं बर्हिरुपसादय, स्रुचः सम्मृड्ढि, पत्नीं सन्नह्याज्येनोदेहि; इति। संप्रैष एवैषः। स यदि कामयेत—ब्रूयादेतत्। यद्यु कामयेत—अपि नाद्रियेत। स्वयमु ह्येवैतद् वेद—इदमतः कर्म कर्त्तव्यमिति॥21॥

सा.भा.—प्रतीकग्रहणेन विहितं सम्प्रैषमन्त्रं साकल्येनानुवदति—**अथैतामिति।** हे आग्नीध्र! प्रोक्षणार्था अप आसादय। अग्निसमिन्धनार्थम् 'इध्मम्' वेदिस्तरणार्थम् 'बर्हिः' च, आहवनीयसमीपे—आसादय। जुह्वाद्याः 'स्रुचः' सम्मार्जनसंस्कारेण संस्कुरु। यजमानस्य या पत्नी, तां योक्त्रेण 'सन्नह्य' तत् प्रागग्नावधिश्रितमाज्यम्, तेन 'उदेहि' आगच्छेति संप्रैषमन्त्रार्थः। एवमेष मन्त्रः परप्रत्यायनार्थप्रयुक्तत्वात् सम्प्रैष एव; न तु मन्त्रान्तरवददृष्टैकप्रयोजन इत्याह—**सम्प्रैष इति। स यदीत्यादि।** प्रोक्षण्यासादनादिकमाग्नीध्रेण कारयितुं यदि कामयेत, तदा 'एतत्' सम्प्रैषवाक्यं ब्रूयात्; यदि च तथा न कामयेत,—स्वयमेव कुर्यामित्येवमेव कामयेत, तदा 'तत्' सम्प्रैषवचनं नाद्रियेतापि, तद्विषयमादरमपि कुर्यात्। तत्रोपपत्तिमाह—**स्वयमिति।** 'अतः' अस्मात् कर्मणोऽनन्तरमिदं कर्म कर्त्तव्यमिति 'हि' यस्मात् स्वयमेवैतद्वेद, तस्मात्परं प्रत्यज्ञातज्ञापनार्थः सम्प्रैषो निरर्थक इत्यर्थः॥21॥

अन्वयः—अथ (अध्वर्युः) प्रोक्षणीः आसादय, इध्मं बर्हिः उपसादय, स्रुचः सम्मृड्ढि, पत्नीं सन्नह्य, उत आज्येन एहि इति एतां वाचं वदति। सम्प्रैष एव एषः। यदि सः (अध्वर्युः) कामयेत एतत् ब्रूयात्; कामयेत अपि न आद्रियेत हि यदि उ स्वयम् एव अतः इदं कर्म कर्त्तव्यम् इति उ वेद॥21॥

पदार्थः—**अथ** = इसके बाद, (अध्वर्यु), **प्रोक्षणीः** = प्रोक्षणी के जल को, **आसादय** = रखो, **इध्मं** = समिधा को, **बर्हिः** = कुशा को, **उपसादय** = समीप में रखो, **स्रुचः** = स्रुचियों (जुहू, उपभृत्, एवं ध्रुवा) को, **सम्मृड्ढि** = साफ करो, **पत्नीं** = पत्नी को, **सन्नह्य** = सम्यक् रूप से (सन्नहन रज्जु से) बाँधो, **उत** = और, **आज्येन** = आज्य लेकर, **एहि** = आओ, **इति** = ऐसा, **एतां** = इन, **वाचं** = वाक्यों को, **वदति** = बोलता है। **सम्प्रैष** = आदेश वाक्य (Word of Command) **एव** = ही, **एषः** = ये हैं। **यदि** = अगर, **सः** = वह (अध्वर्यु), **कामयेत** = चाहे तो, **एतत्** = इन वाक्यों को, **ब्रूयात्** = बोले, **कामयेत** = चाहे, **अपि** = भी तो, **न** = नहीं, **आद्रियेत** = इसका आदर न करे अर्थात् न बोले, **हि** = क्योंकि, **यदि** = अगर, **उ** = निश्चित, **स्वयम्** = अपने आप, **एव** = ही, **अतः** = यहाँ से, **इदं** = यह, **कर्म** = काम, **कर्त्तव्यम्** = करना चाहिए, **इति** = ऐसा, **उ** = निश्चय कर, **वेद** = जान ले (आग्नीध्र)तब॥21॥

रेणु-व्याख्या–प्रसंगानुसार यहाँ आग्नीध्र द्वारा सम्पादित किये जाने वाले विविध कार्यों को करने के लिए अध्वर्यु द्वारा एक वाक्यमाला द्वारा इकट्ठे निर्देश आदेश वाक्य कहे जाते हैं, वे इस प्रकार हैं। अध्वर्यु कहता है–हे अग्नीत्! पात्रादिकों के प्रोक्षणार्थ जल को प्रोक्षणीपात्र में लेकर यहाँ रखो, समिधाओं की गठरी तथा कुशाओं का मुट्ठा यथास्थान रखो, आहुति देने हेतु जो विहित स्रुचियाँ ध्रुवा, उपभृत् एवं जुहू हैं उन्हें साफ (सम्मार्जित) कर, पत्नी को सन्नहन रज्जु (योक्त्र) से बाँधो, तथा आज्य लेकर उपस्थित होओ। यह सब सम्प्रैष वचन हैं। यदि वह (अध्वर्यु) आग्नीध्र से इन कार्यों को करवाना चाहता है तो प्रैषवाक्य बोले। यदि आग्नीध्र इसके बाद मुझे ये काम सम्पादित करने हैं ऐसा जानकर स्वयं कार्य में प्रवृत्त हो तो नहीं कहे। क्योंकि जो बिना कहे काम करे उसे आदेश देना निरर्थक ही है। इस प्रकार ये सभी वाक्य एकसाथ कहे जाते हैं उसके लिए मन्त्र में "प्रोक्षणीरासादय" (यजु. 1.28) का मात्र प्रयोग है। इस प्रतीक वाक्य के साथ बाद के सभी आदेश वाक्यों का विनियोग कर्म में जानना चाहिए।।21।।

[बहिर्वेद्युदङ् स्फ्यप्रहरणम्]

1.2.5.22. (त्य) अथोदञ्चꣳस्फ्यं प्रहरति। (त्य) अमुष्मै त्वा व्वज्रं प्रहरामीति यद्यभिचरेद्वज्रो वै स्फ्यस्तृणुते हैवैनेन।।22।।

ऋजुपाठः–अथोदञ्चं स्फ्यं प्रहरति–अमुष्मै त्वा वज्रं प्रहरामीति–यद्यभिचरेद्। वज्रो वै स्फ्यः, तृणुते हैवैनेन।।22।।

सा.भा.–"द्विषतो वधः"–इति मन्त्रेण स्फ्यस्य बहिर्वेद्युदङ् निरसनं विधत्ते–अथेति। अभिचरतो विशेषमाह–**अमुष्मा**। अस्मिन् मन्त्रे 'अमुष्मै' इति शत्रोर्नाम चतुर्थ्या निर्दिशेदित्यर्थः।।22।।

अन्वयः–अथ ('द्विषतो वधः' (यजु. 1.28) इति मन्त्रेण) उदञ्चं स्फ्यं प्रहरति। यदि अभिचरेत् अमुष्मै (अत्र शत्रोर्नाम चतुर्थ्या निर्दिशेत्) त्वा वज्रं प्रहरामि इति (मन्त्रेण प्रहरेत्)। वज्रौ वै स्फ्यः एनेन ह तृणुते एव।।22।।

पदार्थः–**अथ** = उसके बाद, (**द्विषतः** = द्वेष करने वालों का, **वधः** = वध करता हूँ इस मन्त्र से) **उदञ्चं** = वेदी के उत्तर की ओर (बाहर जाकर), **स्फ्यं** = स्फ्य रूप वज्र का, **प्रहरति** = प्रहार करता है। **यदि** = अगर, **अभिचरेत्** = अभिचार करना चाहे, तो **अमुष्मै** = अमुक के लिए (यहाँ अमुक के स्थान पर

शत्रु का नाम चतुर्थी विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट करे) **त्वा** = तुझ, **वज्रं** = वज्र का, **प्रहरामि** = प्रहार करता हूँ, **इति** = ऐसा बोले। **वज्रो** = वज्र, **वै** = ही निश्चित रूप से, **स्फ्यः** = स्फ्य है, **एनेन** = इसके द्वारा, **ह** = निश्चितरूप से, **तृणुते** = भक्षण कर लिया जाता है (तर्दन किया जाता) है, **एव** = ही।।22।।

रेणु-व्याख्या–अध्वर्यु के प्रैषानुसार आग्नीध्र द्वारा समस्त कार्य सम्पादित कर दिये जाने के उपरान्त अध्वर्यु वेदी के बाहर उत्तर की ओर जाकर 'द्विषतो वधः' (यजु. 1.28)[1] मन्त्र से भूमि पर स्फ्य का प्रहार करता है। यदि अभिचार करने की इच्छा हो तो 'अमुष्मै त्वा वज्रं प्रहरामि' अमुक के लिए हे वज्र! तुम्हारा प्रहार करता हूँ। (यहाँ अमुक के स्थान पर शत्रु का नाम चतुर्थी विभक्ति के एकवचन के निर्देश द्वारा) ग्रहण करे। ऐसा श्रौतसूत्रकार एवं व्याख्याकार सब कहते हैं। ऐसा बोले। क्योंकि निश्चितरूप से यह स्फ्य ही वज्र है, इसके प्रहार किये जाने से निश्चित रूप से शत्रु का भक्षण कर लिया जाता है अर्थात् शत्रुओं का तर्दन (नाश) कर दिया जाता है ही। इसी अभिप्राय से स्फ्य का प्रहार करता है।।22।।

[हस्तप्रक्षालनविधानम्]

1.2.5.23. (ना) अथ पाणी ऽअवनेनिक्ते। यद्ध्यस्यै क्रूरमभूत्तद्ध्यस्या ऽएतदुहार्षीत्तस्मात्पाणी ऽअवनेनिक्ते।।23।।

ऋजुपाठः–अथ पाणी अवनेनिक्ते। यद्ध्यस्यै क्रूरमभूत्–तद्ध्यस्या एतदहार्षीत्। तस्मात् पाणी अवनेनिक्ते।।23।।

सा.भा.–हस्तप्रक्षालनं विधत्ते–**अथेति**। 'अवनेनिक्ते' शोधयति, प्रक्षालयेदित्यर्थः। "णिजिर् शौचपोषणयोः" (जु.उ. 11)–इति धातुः। "णिजां त्रयाणाम्"–(पा.सू. 7.4.75)–इत्यभ्यासस्य गुणः। अवनेजनस्य प्रयोजनमाह–यद्धीति। यत् 'खलु अस्याः' वेदेः खननादिकं 'क्रूरम्' कर्माऽभूत् तदनेन स्फ्स्योदङ्निरसनेन 'अस्याः' वेदेः 'अहार्षीत्' निरास्यत्। 'तस्मात्' पाण्योः क्रूरकर्मसंश्लेषादवनेजनेन शुद्धिः कार्येत्यर्थः।।23।।

अन्वयः–अथ पाणी अवनेनिक्ते (शोधयति)। हि यत् अस्यै क्रूरम् अभूत् यत् हि अस्या एतत् अहार्षीत् तस्मात् पाणी अवनेनिक्ते।।23।।

1. का.श्रौ.सू. 2.6.34 (द्विषतो वध इति स्फ्यमुदञ्चं प्रहरति)। अत्राह देवयाज्ञिकः–'द्विषतो वध' इति मन्त्रेण स्फ्यमुदगग्रमुत्करे प्रक्षिपति।

पदार्थः–**अथ** = इसके बाद, **पाणी** = दोनों हाथों को, **अवनेनिक्ते**, शुद्ध करने के लिए जल से धोता है। **हि** = क्योंकि, **यत्** = जो, **अस्यै** = इस वेदी के प्रति, **क्रूरं** = क्रूरतापूर्वक खननादि कर्म, **अभूत्** = किया गया, **यत्** = जो, **हि** = भी, **अस्या** = इस वेदी के, **एतत्** = यह, **अहार्षीत्** = द्वेषकारक शत्रु का निरसन (स्फ्य प्रहरणादि द्वारा) किया गया, **तस्मात्** = इसलिए, **पाणी** = दोनों हाथों को, **अवनेनिक्ते** = जल से धोकर शुद्ध करता है।।23।।

रेणु-व्याख्या–स्फ्य प्रहरणादि कार्य सम्पन्न करने के बाद अब अध्वर्यु अपने दोनों हाथों को जल से धोता है। हस्तप्रक्षालन का हेतु बताते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वेदी निर्माण कर्म करते हुए जो भी खननादि रूप तथा स्फ्य प्रहरणादि रूप क्रूर कर्म किया गया, उन क्रूर कर्म संश्लेषों को दूर (हटाने) करने के निमित्त अध्वर्यु जल से दोनों हाथों को धोकर शुद्ध करता है।।23।।

[वेदिनिर्माणानन्तरं बर्हिस्तरणात्प्राक् वेदिस्पर्शविषयकमैतिह्यकथनम्]

1.2.5.24. स ये हाग्र ऽईजिरे। ते ह स्मावमर्शं यजन्ते ते पापीयाꣳस आसुरथ ये नेजिरे ते श्रेयाꣳसऽ आसुस्ततोऽश्रद्धा मनुष्यान्विवेद ये यजन्ते पापीयाꣳसस्ते भवन्ति यऽउ न यजन्ते श्रेयाꣳसस्ते भवन्तीति तत ऽइतो देवान्हविर्न जगामेतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति।।24।।

ऋजुपाठः–स ये हाग्र ईजिरे, ते ह स्मावमर्शं यजन्ते, ते पापीयांस आसुः। अथ ये नेजिरे ते श्रेयांस आसुः। ततोऽश्रद्धा मनुष्यान् विवेद–ये यजन्ते पापीयांसस्ते भवन्ति; य उ न यजन्ते श्रेयांसस्ते भवन्तीति। तत इतो देवान् हविर्न जगाम–इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति।।24।।

सा.भा.–श्रृतानां हविषां यागात् प्राग् निर्मिताया वेदेश्च बर्हिस्तरणात् पूर्वं स्पर्शनिषेधं विधित्सुस्तत्सिद्ध्यर्थमितिहासमाचष्टे–**स ये हेति**। पूर्ववद् बहुवचनस्थाने स इत्येकवचनम्, ते–'ये' प्रसिद्धा यजमानाः 'अग्रे' पुरा ह 'ईजिरे' इष्टवन्तः, 'ते' खलु यागसमये श्रृतानि हवींषि क्लृप्तां वेदिं च 'अवमर्शम्' अवमृश्य संस्पृश्य यजन्ते; 'ते' च तेनावमर्शजनितेन दोषेण 'पापीयांसः' पापिष्ठा निकृष्टा बभूवुः। यागमकुर्वाणास्त्ववमर्शजनितदोषविरहात्–श्रेष्ठा एव बभूवुः। 'ततः' अनन्तरमेवावमर्शनस्य दोषहेतुत्वमजानानान् 'मनुष्यान्' 'अश्रद्धा' यागविषयाऽरुचिः

'विवेद' प्राप्नोति। तामेवाश्रद्धां दर्शयति—**य** इति। यागस्यानर्थहेतुतामज्ञासिषुरित्यर्थः। **तत** इत्यादि। 'ततः' अश्रद्धाप्राप्त्यनन्तरं केनचिदपि यागस्याननुष्ठानात् 'इतः' अस्माद् भूलोकाद् देवान् प्रति चरुपुरोडाशादिकम् 'हविः' न जगाम। ननु मागमद्धविः; अमृतोपजीविनां देवानामनेन किं प्रयोजनमित्यत आह—**इतः प्रदानाद्धीति।** 'इतः' अस्माद् लोकात् प्रदीयमानं यद्धविः, तस्मादित्यर्थः। "कृत्यल्युटो बहुलम्"—(पा.सू. 3.3.113)—इति प्रपूर्वाद् ददातेः कर्मणि ल्युट्।।24।।

अन्वयः—सः ये ह अग्रे ईजिरे ते ह अवमर्शं यजन्ते स्म, ते पापीयांस आसुः। अथ ये न ईजिरे ते श्रेयांस आसुः। ततो मनुष्यान् अश्रद्धा विवेद—ये यजन्ते ते पापीयांसो भवन्ति, य उ न यजन्ते ते श्रेयांसो भवन्ति इति। तत इतो देवान् हविः न जगाम। हि इतः प्रदानात् देवाः उपजीवन्ति।।24।।

पदार्थः—**सः** (ते) = वे, **ये** = जो, **ह** = प्रसिद्ध (यजमान), **अग्रे** = पहले (पूर्वकाल में), **ईजिरे** = याग किये, **ते** = वे, **ह** = निश्चित रूप से, **अवमर्शं** = (वेदी को) स्पर्श कर, **यजन्ते** = याग करते, **स्म** = थे, **ते** = वे, **पापीयांसः** = अत्यधिक पापी, **आसुः** = हो गये थे। **अथ** = और, **ये** = जो, **न** = नहीं, **ईजिरे** = याग किये, **ते** = वे, **श्रेयांसः** = श्रेष्ठ (पुण्यवान्), **आसुः** = हो गये थे। **ततो** = उसके बाद, **मनुष्यान्** = मनुष्यों को, **अश्रद्धा** = यागविषयक अरुचि, **विवेद** = प्राप्त हो गई (कि), **ये** = जो, **यजन्ते** = याग करते हैं, **ते** = वे, **पापीयांसो** = अत्यधिक पापी, **भवन्ति** = होते हैं, और **ये** = जो, **उ** = निश्चितरूप से, **न** = नहीं, **यजन्ते** = याग करते हैं, **ते** = वे, **श्रेयांसो** = श्रेष्ठ, **भवन्ति** = होते हैं, **इति** = ऐसी। **ततः** = उसके बाद से, **इतो** = यहाँ से, **देवान्** = देवताओं को, **हविः** = हविर्द्रव्य, **न** = नहीं, **जगाम** = पहुँची। **हि** = क्योंकि, **इतः** = यहाँ से, **प्रदानात्** = हवि दिये जाने के कारण, **देवाः** = देवगण, **उपजीवन्ति** = जीते हैं।।24।।

रेणु-व्याख्या—वेदी निर्माण के बाद तथा बर्हिस्तरण से पूर्व वेदी का स्पर्श नहीं करना चाहिए। एतद् विषयक ऐतिहासिक कथा को प्रस्तुत करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—जिन लोगों ने (जिन प्रसिद्ध यजमानों ने) पूर्वकाल में याग किये थे वे निश्चित रूप से वेदी निर्माण करने के उपरान्त हस्तप्रक्षालन किये बिना ही वेदी का स्पर्श कर याग करते थे। चूँकि बिना हस्त प्रक्षालन के वेदी एवं हवि सामग्री का स्पर्श पाप का कारक होता है, इसलिए वे सब अत्यधिक पापयुक्त हो गए थे और जो लोग याग बिल्कुल नहीं करते थे वे श्रेष्ठ बने हुए थे।

इस बात को देखकर यज्ञ करने वालों (मनुष्यों) को यज्ञ के प्रति अश्रद्धा (अरुचि) उत्पन्न हो गई कि जो याग करते हैं वे पापी तथा जो याग नहीं करते हैं वे पुण्यवान् होते हैं। तब यज्ञ करने वाले मनुष्यों ने अश्रद्धा के कारण यज्ञ करना छोड़ दिया। तब यज्ञ नहीं होने के कारण यहाँ से देवगणों को हवि नहीं पहुँची। चूँकि यहाँ के लोगों द्वारा प्रदान किए जाने वाले हवियों को प्राप्त कर ही देवगण जीवन प्राप्त करते (जीते) हैं। अतः जब पृथिवी से हवि प्रदान किया जाना बन्द हो गया तो यहाँ से दी गई हवि के सहारे जीने वाले देवताओं के जीवन पर संकट मंडराने लगा। चूँकि देवगण उसी हवि की आशा में रहते हैं जो पृथिवी लोक के मनुष्यों द्वारा दी जाती है।।24।।

[मनुष्याणां यज्ञो भवेदेतदर्थं बृहस्पतिरांगिरसम्प्रति देवानां प्रार्थना]

1.2.5.25. ते ह देवाऽऊचुः। (र्बृ) बृहस्पतिमाङ्गिरसमश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्तेभ्यो व्विधेहि यज्ञमिति स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः कथा न यजध्व ऽइति ते होचुः किं काम्या यजेमहि ये यजन्ते पापीयाꣳसस्ते भवन्ति यऽउ न यजन्ते श्रेयाꣳसस्ते भवन्तीति।।25।।

ऋजुपाठः–ते ह देवा ऊचुर्बृहस्पतिमाङ्गिरसम्–अश्रद्धा वै मनुष्यानाविदत्, तेभ्यो विधेहि यज्ञमिति। स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः–कथा न यजध्व इति। ते होचुः–किं काम्या यजेमहि, ये यजन्ते पापीयांसस्ते भवन्ति, य उ न यजन्ते–श्रेयांसस्ते भवन्तीति।।25।।

सा.भा.–तत्रेतिहासमाह–**ते हेति**। हविरागमनाभावेन निराहाराः 'ते' देवा अङ्गिरसः पुत्रं बृहस्पतिमुक्तवन्तः। किमिति, 'अश्रद्धा' यागविषया मनुष्यान् 'प्राप्नोति'। तत्तान्निरस्य तेभ्यो 'यज्ञम्' 'विधेहि' यजध्वमिति विधिं कुर्या इत्यर्थः। स च बृहस्पतिरागत्योक्तवान्–हे मनुष्याः! 'कथा' कथं–कस्माद्धेतोर्न यजध्वे–इति। "था हेतौ च च्छन्दसि"–(पा.सू. 5.3.36)–इति था–प्रत्ययः। एवं पृष्टैस्तैरुक्तं यागाननुष्ठानकारणमुपन्यस्यति–**किङ्काम्या**–इति। किं कामनया? कस्य फलस्येच्छयेत्यर्थः।।25।।

अन्वयः–ते ह देवाः आङ्गिरसं बृहस्पतिम् (प्रत्येत्य) अश्रद्धा वै मनुष्यान् अविदत् तेभ्यो यज्ञं विधेहि इति ऊचुः। सः बृहस्पतिः आङ्गिरसो ह एत्य उवाच–(हे मनुष्य!) कथा न यजध्व इति? किं काम्या यजेमहि? ये यजन्ते

ते पापीयांसो भवन्ति, य उ न यजन्ते ते श्रेयांसो भवन्ति इति ते ह ऊचुः।।25।।

पदार्थः–**ते** = वे (भूखे), **ह** = प्रसिद्ध, **देवाः** = देवों ने, **आङ्गिरसं** = अङ्गिरस के पुत्र, **बृहस्पतिं** = बृहस्पति को, **अश्रद्धा** = यज्ञ के प्रति अरुचि (अश्रद्धा), **वै** = निश्चित रूप से, **मनुष्यान्** = मनुष्यों को, **अविदत्** = प्राप्त हो गई है, **तेभ्यो** = उनके लिए, **यज्ञं** = यज्ञ का, **विधेहि** = विधान कीजिए, **इति** = ऐसा, **ऊचुः** = बोले। **सः** = वह, **बृहस्पतिः** = बृहस्पति, **आङ्गिरसः** =अङ्गिरस के पुत्र, **ह** = प्रसिद्ध, **एत्य** = (मनुष्यों के पास) आकर, **उवाच** = बोले (हे मनुष्यो!), **कथा** = क्यों, **न** = नहीं, **यजध्वे** = याग करते हो, **इति** = ऐसा। **किं** = किस, **काम्या** = कामना से, **यजेमहि** = हम यजन करें? **ये** = जो, **यजन्ते** = याग करते हैं, **ते** = वे, **पापीयांसो** = अत्यधिक पाप से युक्त, **भवन्ति** = हो जाते हैं, **ये** = जो, **उ** = निश्चय, **न** = नहीं, **यजन्ते** = यजन करते हैं, **ते** = वे, **श्रेयांसो** = श्रेष्ठ, **भवन्ति** = हो जाते हैं, **इति** = ऐसा, **ते** = वे (मनुष्यों ने), **ह** = प्रसिद्ध, **ऊचुः** = बोले (कहा)।।25।।

रेणु-व्याख्या–पृथिवी लोक पर यज्ञ नहीं होने के कारण देवों का जीवन संकट में पड़ गया। वे भूख से व्याकुल होकर अंगिरा ऋषि के पुत्र बृहस्पति से कहने लगे कि–इन मनुष्यों को न जाने क्यों यज्ञ से अरुचि (अश्रद्धा) हो गई है, जिस कारण वे यज्ञ करना छोड़ दिए हैं। हे भगवन्! आप उन्हें यज्ञ करने का आदेश देकर उन्हें यज्ञकर्म हेतु प्रवृत्त कीजिए। आंगिरस (अंगिरा के प्रसिद्ध पुत्र) बृहस्पति ने मनुष्यलोक में आकर मनुष्यों से पूछा–हे मनुष्यो! तुम लोग यज्ञ क्यों नहीं करते हो? मनुष्यों ने कहा–किस कामना से यज्ञ करूँ? चूँकि जो यज्ञ करते हैं वे अत्यधिक पापी (निकृष्ट) हो जाते हैं तथा जो यज्ञ नहीं करते वे श्रेष्ठ हो जाते हैं। जब प्रसिद्ध कर्म यज्ञ करने वाले निश्चित रूप से पापी (निकृष्ट) हो जाते हैं तो यज्ञ क्यों करें? ऐसा मनुष्यों ने कहा।।25।।

[अयथानुष्ठानेन निकृष्टतामाप्तान् मनुष्यान् सम्यगनुष्ठानमनुष्ठातुं बृहस्पतेर्बोधनम्] (बर्हिः स्तरणात्प्राक् वेदिस्पर्शनिषेधः)

1.2.5.26. स होवाच। बृहस्पतिराङ्गिरसो यद्वै शुश्रुम देवानां परिषूतं तदेष यज्ञो भवति यच्छृतानि हवीꣳषि क्लृप्ता व्वेदिस्तेनावमर्शमचारिष्ट तस्मात्पापीयाꣳ सोऽभूत तेनानवमर्शं

यजध्वं तथा श्रेया ँ सो भविष्यथेत्याकियत ऽइत्या बर्हिषस्तरणादिति बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति स यदि पुरा बर्हिषस्तरणात्किञ्चिदापद्येत बर्हिरेव तत्स्तृणन्नपास्येदुथ यदा बर्हिस्तृणन्त्यपि पदाभितिष्ठन्ति स यो हैवं विद्वाननवमर्शं यजते श्रेयान्हैव भवति तस्मादनवमर्शमेव यजेत॥26॥3॥

इति प्रथमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् द्वितीयाध्याये पञ्चामञ्च ब्राह्मणम् (2.5.) समाप्तश्च द्वितीयोऽध्यायः॥2॥5॥

ऋजुपाठः–स होवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः–यद्वै शुश्रुम देवानां परिषूतं तदेष यज्ञो भवति। यच्छृतानि हवींषि क्लृप्ता वेदिस्तेनावमर्शमचारिष्ट तस्मात्पापीयांसोऽभूत। तेनानवमर्शं यजध्वम् तथा श्रेयांसो भविष्यथेति। आकियत इति। आ बर्हिषस्तरणादिति। बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति। स यदि पुरा बर्हिषस्तरणात् किञ्चिदापद्येत; बर्हिरेव तत् स्तृणन्नपास्येत्। अथ यदा बर्हिस्तृणन्ति–अपि पदाभितिष्ठन्ति। स यो हैवं विद्वाननवमर्शं यजे, श्रेयान् हैव भवति। तस्मादनवमर्शमेव यजेत॥26॥

सा.भा.–एवं यागानुष्ठानत्यागकारणमुक्तवत्सु तेषु बृहस्पतिरयथानुष्ठानजनितमेव तत् पापीयस्त्वम्, न तु सम्यग्यागानुष्ठानजमिति बोधयंस्तेषां विपर्यस्ततां निरस्यति–**स होवोचेति। यद्वै शुश्रुमेति।** 'यत्' खलु वस्तु देवानामर्थम् 'परिषूतम्' परिगृहीतं शुश्रुम, 'तत्' एतदात्मक एष यज्ञः; तत्साध्यत्वात्। सामान्योक्तं विशिनष्टि–**यच्छृतानीति।** 'शृतानि' पक्वानि पुरोडाशादीनि 'हवींषि' पूर्वपरिग्रहादिभिः 'क्लृप्ता' निर्मिता वेदिरिति यदस्ति, एतत्साध्यो हि देवार्थो यज्ञः, 'तेन' एवेदृग्विधेन यज्ञेन हे मनुष्याः! यूयम् 'अवमर्शम्' अवमृश्य यागात् प्राक् पक्वानि हवींषि, बर्हिस्तरणात् पूर्वं वेदिं च संस्पृश्य, 'अचारिष्ट' आचरणं कृतवन्तः; यागसाधनस्य च मनुष्यसंस्पर्शो न युक्तः; अतस्तस्मादेवावमर्शनात् हे मनुष्याः! यूयं पापीयांसोऽभूत, न तु यागात्। अतोऽवमर्शं परित्यज्य तेन यज्ञेन यजध्वम्। तथा च श्रैष्ठ्यं वो भविष्यतीति बृहस्पतिना बोधितेऽवमर्शनपरित्यागस्यावधिं पृच्छति–**आ कियत** इति। कियत्कालपर्यन्तमेवावमर्शनपरित्याग इत्यर्थः। तस्योत्तरमाह–**बर्हिष** इति। बर्हिःस्तरणपर्यन्तम्, संस्कृतां वेदिं न स्पृशेदित्यर्थः। एतच्च हविषामप्युपलक्षणम्; अतः पक्वानि हवींष्यपि यागात् पूर्वं न स्प्रष्टव्यानीति द्रष्टव्यम्। अत एव सूत्रितं कात्यायनेन–"प्राक् स्तरणाद् वेदिं नावमृशेत्" "शृतानि च हवींष्याप्रचरणात्"–(श्रौ.सू. 2.179.180) इति। युक्तं चैतदित्याह–**बार्हिषेति।** बर्हिषः स्तरणात् पूर्वमशान्ता सती सा वेदिः स्तीर्यमाणेन 'बर्हिषा' खलु शान्ता

भवति। अतोऽशान्तायाः स्पृष्टौ प्रागुक्तो दोषो युज्यत इत्यर्थः। **स यदीत्यादि।** बर्हिषः स्तरणात् पूर्वं यदि वेदिमध्ये 'किंचित्' तृणादिकमापद्येत, तदा तन्निरासार्थमपि न स्पृशेत्। किन्तु 'बर्हिः स्तृणन्' स्तरणसमये बर्हिषः स्तरणं कुर्वन्नेव 'तत्' तृणादिकं निरस्येत्। स्तरणप्रभृति वेदिस्पर्शो न दोषायेत्यभिप्रेत्याह–**अथेति।** 'यदा' यस्मिन् काले बर्हिर्मुष्टिं स्तृणन्त्यध्वर्यवः, तदानीम् 'पदा' पादेनाप्यभितिष्ठन्ति; अतस्तस्मिन् समये स्पर्शो न दुष्यतीति भावः। एवमितिहासमुखेन प्रतिपादितमर्थमिदानीमप्यनुष्ठेयत्वेन विधत्ते–**स य इति।** 'एवं विद्वान्' उक्तमितिहासं जानन्नित्यर्थः।।26।।3।। (2.5.)

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन्।। पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः।।1।।

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये पंचमं ब्राह्मणं द्वितीयाध्यायश्च समाप्तः।।2।।

अन्वयः–सः ह आंगिरसो बृहस्पतिः उवाच–शुश्रम यद् एषः यज्ञः देवानां परिषूतं वै अस्ति। यत् श्रृतानि हवींषि क्लृप्ता वेदिः अवमर्शं तेन अचारिष्ट तस्मात् पापीयांसः अभूत। अनवमर्शं तेन यजध्वम् तथा श्रेयांसो भविष्यथ इति। आ कियत इति? आ बर्हिषः स्तरणात् इति। एषा ह खलु बर्हिषा वै शाम्यति। यदि बर्हिषः स्तरणात् पुरा किञ्चित् आपद्येत, बर्हिः स्तृणन् एव स अपास्येत्। अथ यदा बर्हिः स्तृणन्ति (तदा) पदा अभितिष्ठन्ति अपि। यो ह एवं विद्वान् अनवमर्शं यजते सः श्रेयान् ह एव भवति। तस्मात् अनवमर्शम् एव यजेत।।26।।

पदार्थः–**सः** = वह, **ह** = प्रसिद्ध, **आंगिरसः** = अंगिरा के पुत्र, **बृहस्पतिः** = बृहस्पति, **उवाच** = कहा-**शुश्रुम** = हमने सुना है, **यत्** = कि, **एषः** = यह, **यज्ञः** = यज्ञ, **देवानां** = देवगणों का, **परिषूतम्** = सारभूत, **वै** = निश्चित रूप से, **अस्ति** = है। **यत्** = जो, **श्रृतानि** = पकी हुई, **हवींषि** = हवियाँ, **कलृप्ता** = तैयार की हुई, **वेदिः** = वेदी है, **अवमर्शं** = छूकर (हवि एवं वेदी को स्पर्श कर), **तेन** = उससे, **अचारिष्ट** = यज्ञानुष्ठान का आचरण किया है, **तस्मात्** = इसलिए, **पापीयांसः** = सबसे अधिक पापी, **अभूत** = (आप लोग) हो गये। **अनवमर्श** = बिना स्पर्श किये, **तेन** = उस यज्ञ से, **यजध्वम्** = यजन करें, **तथा** = ऐसा करने से, **श्रेयांसो** = श्रेष्ठ, **भविष्यथ** = हो जाओगे, **इति** = ऐसा (बृहस्पति ने कहा)। **आ कियतः** = कब तक? **इति** = ऐसा (मनुष्यों के) पूछने पर, **आबर्हिषः** = कुशाओं के, **स्तरणात्** = फैलाने तक, **इति** = ऐसा बृहस्पति

ने बताया। **एषा** = यह वेदी, **ह** = प्रसिद्ध, **खलु** = निश्चय रूप से, **बर्हिषा** = कुशा के द्वारा, **वै** = ही, **शाम्यति** = शान्त होती है। **यदि** = अगर, **बर्हिषः** = कुशा के, **स्तरणात्** = बिछाने से, **पुरा** = पहले, **किञ्चित्** = वेदी पर कुछ भी, **आपद्येत** = गिर पड़े तो, **बर्हिः** = कुशा, **स्तृणन्** = फैलाते हुए, **एव** = ही, **स** = वह, **अपास्येत्** = निकाल दे। **अथ** = और, **यदा** = जब, **बर्हिः** = कुशा को, **स्तृणन्ति** = फैलाते हैं (तब), **पदा** = पैर से, **अभितिष्ठन्ति** = उस पर खड़े हो जाते हैं, **अपि** = भी। **यः** = जो, **ह** = प्रसिद्ध, **एवं** = इस प्रकार, **विद्वान्** = जानते हुए, **अनवमर्शं** = वेदी का बिना स्पर्श किये, **यजते** = याग करता है, **सः** = वह, **श्रेयान्** = श्रेष्ठ, **ह** = निश्चित, **एव** = ही, **भवति** = होता है। **तस्मात्** = इसलिए, **अनवमर्शं** = बिना स्पर्श किये, **एव** = ही, **यजेत** = यज्ञ करना चाहिए।।26।।

रेणु-व्याख्या—मनुष्यों में यज्ञों के प्रति व्याप्त अश्रद्धा (अरुचि) को मिटाने तथा पुनः सविधि यज्ञानुष्ठान करने हेतु अंगिरा के पुत्र बृहस्पति द्वारा मनुष्यों के साथ किये गये वार्तालापात्मक इतिहास को उद्धृत करते हुए यज्ञविज्ञान के मर्मज्ञ ऋषि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि बृहस्पति आंगिरस ने मनुष्यों से कहा—जैसा कि हम सुनते हैं कि जो देवों के लिए सारभूत अन्न है वह यज्ञ ही है। यहाँ भी वेदी तैयार है, हवियाँ पकी हुई हैं ये सब यज्ञीय कार्यों के निर्वहणार्थ ही हैं। किन्तु आप लोगों ने वेदी निर्माण करने के उपरान्त उसे अपवित्र हाथों से स्पर्श कर यज्ञ किया है, इसलिए पापी हो गये। यदि वेदी को बिना स्पर्श किये ही याग करते तो पुण्यात्मा (श्रेष्ठ) बने रहते। तब पुनः मनुष्यों ने पूछा कि वेदी का स्पर्श किये बिना यज्ञ-सम्पादनात्मक कार्य तो सम्भव ही नहीं है, तो वेदी स्पर्श नहीं करने का कुछ कालखण्ड होगा, जिसमें नहीं स्पर्श करना चाहिए। सो हे बृहस्पति! आप कृपा कर हमें यह बताएँ कि—कब तक वेदी का स्पर्श नहीं किया जाना चाहिए? इस पर बृहस्पति उत्तर देते हैं—"आ बर्हिषस्तरणात् अर्थात् वेदी निर्माण के उपरान्त कुशा को बिछाने तक वेदी का स्पर्श किये बिना यज्ञ करो। क्योंकि बर्हि से वेदी शान्त हो जाती है।" बर्हिःस्तरण से पूर्व यदि वेदी पर कोई अपद्रव्य गिरे तो उसे भी बहिःस्तरण काल तक नहीं हटाना चाहिए। इसलिए बर्हिःस्तरण से पहले यदि वेदी पर कुछ अपद्रव्य गिर पड़े तो उसे भी उसी समय उठाकर फेंक देना चाहिए। क्योंकि जब बर्हिःस्तरण करते हैं तब तो पैर रखकर भी उसपर खड़े हो जाते हैं, वह दोष का कारण नहीं होता है। इस प्रकार जो मनुष्य इस रहस्य को जानकर